



सच्चं लोगम्भि सारभूयं

जैन कर्मसिद्धान्त

उद्भव एवं विकास

लेखक

डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र



पार्श्वनाथ शोधपीठ , वाराणसी - ५

PĀRŚVANĀTHA ŚODHAPĪṬHA, VĀRĀṄASĪ-5

पार्श्वनाथ शोधपीठ ग्रन्थमाला सं० ६५

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

लेखक

डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र

पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ

वाराणसी-२२१००५

१९९३

**भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् नई दिल्ली द्वारा प्राप्त
आर्थिक सहयोग से प्रकाशित ।**

इस ग्रन्थ में प्रस्तुत तथ्यों एवं अभिव्यक्त विचारों के लिए पूर्ण रूप
से लेखक उत्तरदायी है, इतिहास अनुसन्धान परिषद नहीं ।

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान

पूज्य सोहनलाल स्मारक

पार्श्वनाथ शोधपीठ,

आई० टी० आई० रोड, करौंदी

वाराणसी : २११००५

फोन नं० : ३११४६२

लेखक : डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र

संस्करण : प्रथम, १९९३

मूल्य : १०० रुपये

Jaina Karma Siddhanta Ka Udbhava and Vikasa

By Dr. Ravindra Nath Mishra

Price Rs. 100/-

First Edition, 1993

Pujya Sohanlal Smarak Parsvanath Sodhpitha, Varanasi-5

मुद्रक :

वर्धमान मुद्रणालय

जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी-१०

प्रकाशकीय

डॉ० रवीन्द्र नाथ मिश्र के शोध-प्रबन्ध 'जैन कर्म सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास' को प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। डॉ० रवीन्द्र पार्श्वनाथ शोधपीठ के शोध छात्र रहे हैं, उन्हें पू० काशीराम मेमोरियल शोध छात्रवृत्ति प्रदान की गई थी। शोधपीठ परिसर में रहकर डॉ० सागरमल जैन के निर्देशन में उन्होंने इस शोध-प्रबन्ध का प्रणयन किया, जिस पर उन्हें सन् १९८६ में का० हि० वि० वि० द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई।

भारतीय धर्मों और दर्शनों में कर्म-सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति के शुभाशुभ कर्मों तथा उनके फलविपाक को लेकर उनमें पर्याप्त रूप से चर्चा की गई है फिर भी जैन चिन्तकों ने कर्म सिद्धान्त का जितनी गहराई एवं सूक्ष्मता से अध्ययन किया है, वह अन्यत्र नहीं देखा जाता। यद्यपि जैन कर्म सिद्धान्त पर विभिन्न भाषाओं में अनेक ग्रन्थ लिखे गये फिर भी जैन कर्म सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकासक्रम की चर्चा उनमें अत्यल्प मात्रा में मिलती है। प्रस्तुत कृति उस कमी को पूर्ण करने का प्रथम प्रयास है। लेखक अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफल हुआ है, यह निर्णय तो विद्वज्जनों एवं पाठकों पर ही निर्भर करता है। फिर भी हमें विश्वास है कि यह कृति जैन कर्म सिद्धान्त के अध्ययन में कुछ नवीनता अवश्य प्रदान करेगी।

प्रस्तुत कृति के प्रणयन से लेकर प्रकाशन तक की यात्रा में शोधपीठ के निदेशक प्रो० सागरमल जैन का विशेष योगदान रहा है। ग्रन्थ के भाषा-सम्पादन में डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने सहयोग दिया है अतः उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत कृति के प्रकाशन हेतु भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, जिसके लिए हम उनके भी आभारी हैं।

प्रूफ-संशोधन का कार्य शोधपीठ के शोधधिकारी डॉ० अशोक कुमार सिंह ने सम्पन्न किया है एवं ग्रन्थ के मुद्रण एवं प्रकाशन में पूरा सहयोग दिया, अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

हम वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी के भी आभारी हैं, जिन्होंने इन मुद्रण कार्य को सम्पन्न किया है।

१० मार्च, १९९३

न्यूकेम लिमिटेड

मथुरा रोड, फरीदाबाद

भूपेन्द्र नाथ जैन

मंत्री

पू० सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ,
वाराणसी।

प्राक्कथन

दार्शनिक जगत् में प्रत्येक दार्शनिक अवधारणा के विकास की अपनी एक मौलिक पृष्ठभूमि होती है। जैन दर्शन का कर्म विषयक चिन्तन भी इसी का परिणाम है। जैन दर्शन में कर्मसिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डाला गया है, पर इसमें प्रतिपादित कर्म-सम्बन्धी विवरण सर्वाधिक विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण है।

यह बात सत्य है कि सभी भारतीय दार्शनिकों ने कर्मवाद की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, किन्तु जैन परम्परा में कर्मवाद का जैसा सुव्यवस्थित रूप उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जैन दर्शन में कर्मसिद्धान्त का विस्तृत एवं व्यवस्थित विवरण जहाँ एक ओर कर्मसिद्धान्त की महनीयता को स्पष्ट करता है, वहीं दूसरी ओर जैन दर्शन के नैतिक चिन्तन की गहराइयों को भी उद्घाटित करता है।

जैन कर्मसिद्धान्त का सामान्य विवेचन अधिकांश जैन ग्रन्थों में मिलता है। इस विषय पर कतिपय शोध कार्य भी हुए हैं, जिनमें कर्मसिद्धान्त का मनो-वैज्ञानिक एवं दार्शनिक किन्तु चित्रण प्रस्तुत किया गया है उनमें कर्मसिद्धान्त के उद्भव एवं विकास को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास नहीं किया गया है। एतदर्थ प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में कर्मसिद्धान्त के उद्भव एवं विकास को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया गया है। इस दिशा में यह मेरा प्रथम प्रयास है।

यह शोध-प्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है—

प्रथम अध्याय विषय-प्रवेश के रूप में है, जिसमें जैन कर्मसिद्धान्त के उद्भव के मुख्य प्रयोजनों का निरूपण किया गया है। साथ ही प्राचीन जैनागम साहित्य से लेकर कर्म-विषयक साहित्य में कर्मसिद्धान्त के विविध पक्षों का उद्भव कैसे कैसे हुआ, इसका भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त इसी अध्याय में कर्म के विविध तत्त्वों यथा कर्म, बन्धन, कर्म के भेद-प्रभेद, कर्म की अवस्थायें, कर्मविपाक, कर्मफलसंविभाग आदि अवधारणाओं के विकास को स्पष्ट किया गया है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि ईसा पूर्व चौथी-तीसरी शताब्दी से लेकर ईसा की नौवीं-दसवीं शताब्दी के बीच के विभिन्न कालों में कर्म की उक्त अवधारणाओं में किस प्रकार के परिवर्तन-परिवर्द्धन हुए हैं।

द्वितीय अध्याय में जैन कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी साहित्य का एक संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इसमें दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा के कुछ प्रमुख स्वतन्त्र कर्मग्रन्थों यथा—षट्खण्डागम, कसायपाहुड, गोम्मटसार, लब्धिसार, कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह, प्राचीन षट्कर्मग्रन्थ एवं नवीन कर्मग्रन्थों पर विचार किया गया है। इसके साथ ही आगम साहित्य के उन ग्रन्थों के ऐतिहासिक स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है, जिनमें कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है।

तृतीय अध्याय में जैन कर्मसिद्धान्त के दार्शनिक स्वरूप का मूल्यांकन है, साथ ही कर्मसिद्धान्त के समग्र तत्त्वों के ऐतिहासिक विकास का निरूपण भी है।

जैन कर्मसिद्धान्त की प्रमुख समस्याएँ नामक चौथे अध्याय में जैन कर्मसिद्धान्त की प्रमुख समस्याओं एवं उनके समाधान पर समुचित प्रकाश डाला गया है।

पाँचवें अध्याय में जैन कर्मसिद्धान्त और अन्य दर्शनों के कर्मसिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। इसमें मुख्य रूप से हिन्दू, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, वेदान्त इत्यादि दर्शनों के कर्म-सम्बन्धी विवेचनों को लेकर जैन कर्मसिद्धान्त से तुलना की गयी है।

छठा एवं अन्तिम अध्याय उपसंहार के रूप में है, जिसमें शोध-विषय की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की गयी है।

प्रस्तुत कृति के प्रणयन में जो ग्रन्थ आधारभूत रहे उनमें पं० सुखलाल जी संघवी की कर्म ग्रन्थों की भूमिकाएँ, आगमयुग का जैनदर्शन (पं० दलसुखभाई मालवणिया), जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ४, (डॉ० मोहनलाल मेहता), जैन बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ० सागरमल जैन) प्रमुख हैं। भाषा और विषयवस्तु दोनों की दृष्टि से इन ग्रन्थों से और इनके लेखकों से उपकृत हुआ हूँ। प्रस्तुत कृति में जो भी विशेष महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है उसका श्रेय इन विद्वान लेखकों को है और जो कमियाँ हैं उनका उत्तरदायित्व मेरा है। प्रस्तुत ग्रन्थ का० हि० वि० वि०, वाराणसी द्वारा सन् १९८६ में पी-एच० डी० की उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध का अविकल मुद्रित रूप है। इसके प्रस्तुतीकरण में मुझे जिन गुरुजनों अथवा विद्वानों का सहयोग मिला है उनका मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। इस क्रम में सर्वप्रथम मैं पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ का आभारी हूँ, जिसके शान्त एवं निर्मल वातावरण में रहकर यह कार्य पूर्ण करने का बहुमूल्य सुअवसर प्राप्त हुआ। इस शोध-कार्य के सम्यक् निर्देशन के लिए आदरणीय प्रो० जगदीश नारायण तिवारी, प्राचीन

भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा प्रो० सागरमल जैन, निदेशक, प्रो० सोहन लाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। गुरुद्वय की वात्सल्यमयी प्रेरणा एवं विद्वत्तापूर्ण निर्देशन के फलस्वरूप ही यह शोध-प्रबन्ध यथा-समय पूर्ण हो सका है। मैं डॉ० जैन का इसलिए भी विशेष आभारी हूँ कि संस्थान के कार्यों में व्यस्त रहते हुए तथा अपने शारीरिक स्वास्थ्य की चिन्ता न करते हुए उन्होंने मेरे शोध कार्य के लिए समय-असमय निरन्तर श्रम किया।

तत्कालीन विभागाध्यक्ष स्वर्गीय प्रो० कृष्णकुमार सिन्हा एवं प्रो० लल्लनजी गोपाल के प्रति भी मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिनकी छत्र-छाया में यह शोध-कार्य पूर्ण हुआ।

जैन दर्शन के मूर्धन्य मनीषी पद्मभूषण पं० दलसुख भाई मालवणिया के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनसे हुई चर्चाओं एवं सुझावों ने मेरे शोध को एक नयी दिशा दी।

शोध छात्रवृत्ति, आवासीय एवं पुस्तकालयीय सुविधा हेतु मैं पार्श्वनाथ शोध-पीठ के संचालकों, निदेशक एवं कर्मचारियों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

पार्श्वनाथ शोधपीठ के तत्कालीन शोधाधिकारियों डॉ० अरुण प्रताप सिंह, (प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास विभाग, बजरंग महाविद्यालय, दादर आश्रम सिकन्दरपुर, बलिया) डॉ० रविशंकर मिश्र (सम्पादक, राजभाषाविभाग, भोपाल, म० प्र०) एवं पुस्तकालयाधिकारी डॉ० मंगल प्रकाश मेहता (अनेकान्त शोधपीठ, जैन विश्वभारती, लाडनू) का भी मैं कृतज्ञ हूँ, जिनसे शोध कार्य में आवश्यक सहयोग मिलता रहा।

अपने शोध सहयोगियों एवं मित्रों में डॉ० अवधेश सिंह, डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त, श्री जितेन्द्र भाई शाह, डॉ० अर्चना पाण्डेय, श्रीमती ममता गुप्ता आदि का भी आभारी हूँ जिनके सहयोग एवं प्रेरणा ने मेरे शोध कार्य को सदैव गति प्रदान की है।

विभाग के प्रधान लिपिक श्री आनन्दकुमार सिन्हा एवं उनके अन्य सहकर्मियों का भी आभारी हूँ जिनसे आवश्यक सहयोग मिलता रहा है।

मैं अपने पूज्य पिता श्री सूर्यनारायण मिश्र, चाचा श्री त्रिगुणानन्द मिश्र, अनुजों श्री गिरीश मिश्र, श्री मुरारी मिश्र, श्री शंकरदयाल मिश्र आदि के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके सहयोग से चिन्तामुक्त होकर इस शोध-कार्य को पूर्ण कर सका।

प्रस्तुत कृति के प्रकाशन हेतु भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है; इस हेतु मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन का पूर्ण श्रेय पूज्यसोहन लाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ के निदेशक आदरणीय डॉ० सागरमल जैन को है अतः उनके प्रति हृदय से आभारी हूँ । इस ग्रन्थ के सम्पादन एवं प्रूफ संशोधन में डॉ० अशोक-कुमार सिंह, शोधधिकारी, पार्श्वनाथ शोधपीठ एवं डॉ० श्री प्रकाश पाण्डे के सहयोग को भी मैं विस्मृत नहीं कर सकता हूँ ।

अन्त में मैं उन विद्वान् आचार्यों एवं लेखकों का भी आभारी हूँ, जिनकी कृतियों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस शोध में उपयोग हुआ है ।

रवीन्द्रनाथ मिश्र

रिसर्च एसोसिएट

प्रा० भा० इ० सं० एवं पुरातत्व विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

विषय-सूची

प्रथम अध्याय—विषय-प्रवेश-कर्मसिद्धान्त का इतिहास १

जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव १, जैन कर्मसिद्धान्त का विकास ६, (अ) जैन कर्मसिद्धान्त का प्रारम्भिक या आदि काल—ई० पू० छठीं शताब्दी से ई० पू० तीसरी शताब्दी तक ६, (ब) जैन कर्मसिद्धान्त का व्यवस्थापन काल—ई० पूर्व दूसरी शताब्दी से ई० की तीसरी शताब्दी १०, (स) जैन कर्मसिद्धान्त का विकास काल—ई० की चौथी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक १२ ।

द्वितीय अध्याय—जैन कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी साहित्य का इतिहास २०

इवेताम्बर कर्मसाहित्य ३७, कर्मप्रकृति ३७, पञ्च संग्रह ४२, प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ ४५, (१) कर्मविपाक ४५, (२) कर्मस्तव ४६, (६) बन्धस्वामित्व ४६, (४) षडशीति ४६, (५) शतक ४७, (६) सप्ततिका ४७, सार्धशतक ४७, नवीन कर्मग्रन्थ ४८, (१) कर्मविपाक ४८, (२) कर्मस्तव ४९, (३) बन्धस्वामित्व ५०, (४) षडशीति ५१, (५) शतक ५१, भाव प्रकरण ५४, बन्धहेतुद्वय त्रिभंगी ५४ सप्ता-प्रकरण ५४ ।

विगम्बर कर्मसाहित्य : षट्खण्डागम ५५, (१) जीवस्थान ५५, (२) क्षुद्रकबन्ध ६२ (३) बन्धस्वामित्वविचय ६४, (४) वेदनाखण्ड ६४, (५) वर्गणाखण्ड ६६, (६) महाबन्ध ६७, कसायपाहुडसुत्त ६८, गोम्मटसार ७६, (१) जीवकाण्ड ७७, (२) कर्मकाण्ड ७९, लब्धिसार ८३, पंचसंग्रह ८४ ।

तृतीय अध्याय—जैन कर्मसिद्धान्त का स्वरूप ८५

कर्मसिद्धान्त की मौलिक स्वीकृतियाँ और फलितार्थ ८५, जैन कर्मसिद्धान्त का ऐतिहासिक विकासक्रम ८७, जैन कर्मसिद्धान्त का समन्वयवादी दृष्टिकोण ८७, जैन दर्शन में 'कर्म' शब्द का अर्थ ८९, कर्म का भौतिक स्वरूप ९०, द्रव्यकर्म और भावकर्म ९१, द्रव्यकर्म और भावकर्म का सम्बन्ध ९१, कर्म प्रकृतियों के विकास की ऐतिहासिक रूपरेखा ९४, कर्म की मूल प्रकृतियाँ—(१) ज्ञानावरणीय ९७, (२) दर्शनावरणीय ९७, (३) वेदनीय ९८, (४) मोहनीय ९८, (५) आयु

९८, (६) नाम ९८, (७) गोत्र ९८, (८) अन्तराय ९८, कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ—(१) ज्ञानावरणीय कर्म की ५ उत्तरप्रकृतियाँ ९९, (२) दर्शनावरणीय कर्म की ९ उत्तरप्रकृतियाँ १००, (३) वेदनीय कर्म की दो उत्तरप्रकृतियाँ १०१, (४) मोहनीय कर्म की २८ उत्तरप्रकृतियाँ १०५ (५) आयु कर्म की ४ उत्तरप्रकृतियाँ ११०, (६) नाम कर्म की १०३ उत्तरप्रकृतियाँ ११०, (७) गोत्र कर्म की दो उत्तरप्रकृतियाँ १११, (८) अन्तराय कर्म की ५ उत्तरप्रकृतियाँ १२८, जैनदर्शन में बन्धन का स्वरूप १२९, कर्मबन्ध के प्रकार १३०, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश, कर्मबन्ध के कारण—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग १३१, कर्मबन्धन के कारणों के ऐतिहासिक विकास की रूपरेखा १३४, अष्टकर्म के बन्धन के कारण १३७, कर्म की विभिन्न अवस्थायें—बन्ध, सत्ता, उर्ध्वतता अथवा उत्कर्षण, अपवर्तन अथवा अपकर्षण, संक्रमण, उदय, उदीरणा, उपशमन, निधत्ति, निकाचना १४५, कर्म की अवस्थाओं के विकास की ऐतिहासिक रूपरेखा १४९, कर्म और उसका विपाक १५१, जैनदर्शन में मोक्ष का स्वरूप १५५, मोक्ष के ऐतिहासिक विकास की रूपरेखा १५६, कर्मसिद्धान्त गुणस्थान और मार्गणास्थान एवं इनमें कर्मों के बन्ध १५७, गुणस्थानों एवं मार्गणास्थानों की अवधारणाओं की-ऐतिहासिक विकास की रूपरेखा ।

चतुर्थ अध्याय—जैन कर्मसिद्धान्त की प्रमुख समस्यायें १७३

पुरुषार्थवाद एवं नियतिवाद की समस्या १७३, क्या कर्मफल ईश्वराधीन है ? या स्वतः उसमें कर्म फल प्रदान करने की शक्ति है १८१, कर्म एवं उसके फल संविभाग की समस्या १८६, कर्म अपना फल कब देते हैं १८९, आत्मा एवं कर्म से सम्बन्धित समस्यायें १९२ (क) कर्म पहले या आत्मा, (ख) यदि कर्म और आत्मा का संबंध अनादि है तो उनसे छुटकारा कैसे हो सकता है ? १९३, (ग) कर्म बलवान या आत्मा १९६, (घ) यदि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि नहीं है तो आत्मा बन्धन में कैसे आया ? कर्म की मूर्तता का प्रश्न १९७, मूर्त का अमूर्त पर प्रभाव कैसे ? १९८

पंचम अध्याय—जैन कर्मसिद्धान्त और अन्य कर्मसिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा २००

हिन्दू परम्परा एवं जैन परम्परा के कर्म शब्द के अर्थ की पारस्परिक तुलना; २०१ हिन्दू परम्परा एवं जैन परम्परा के कर्मबन्धन

के स्वरूप की पारस्परिक तुलना; २०२ हिन्दू परम्परा एवं जैन परम्परा के कर्मबन्धन से छूटने सम्बन्धी दृष्टिकोणों की पारस्परिक तुलना; २०४ कर्म की अवस्थाओं पर जैन एवं हिन्दू विचारों की पारस्परिक तुलना; २०८ कर्मविपाक सम्बन्धी हिन्दू एवं जैन विचारों की पारस्परिक तुलना; २०९ कर्मफल संविभाग के सन्दर्भ में हिन्दू एवं जैन विचारों की पारस्परिक तुलना; २१० हिन्दू परम्परा एवं जैन दर्शन के कर्म-पुनर्जन्म सम्बन्धी विचारों की पारस्परिक तुलना; २१३ बौद्ध दर्शन एवं जैन दर्शन के कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी सन्दर्भों की तुलना; २१४ कर्मबन्धन के सन्दर्भ में जैन एवं बौद्ध मतों की पारस्परिक तुलना; २१५ कर्म अवस्थाओं पर जैन एवं बौद्ध दृष्टिकोणों की पारस्परिक तुलना; २१७ जैन कर्म प्रकार एवं बौद्ध कर्म प्रकारों की पारस्परिक तुलना; कर्मविपाक सम्बन्धी बौद्ध मतों की पारस्परिक तुलना; २२२ कर्मफल संविभाग सम्बन्धी जैन एवं बौद्ध मतों की पारस्परिक तुलना; २२३ सांख्यदर्शन के कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी दृष्टिकोणों की जैन दृष्टिकोणों से तुलना; २२५ योगदर्शन एवं जैन कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी दृष्टिकोणों पर एक तुलनात्मक दृष्टि; २२७ न्याय, वैशेषिक एवं जैन दर्शन के सम्बन्धी सन्दर्भों की पारस्परिक तुलना; २२८ पूर्व भीमांसा के कर्मसम्बन्धी सन्दर्भों की जैन दर्शन के कर्मसिद्धान्त से तुलना; २२९ योगवाशिष्ठ एवं जैन कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी विवरणों की पारस्परिक तुलना; २३० शंकर के अद्वैत वेदान्त के कर्म सम्बन्धी तत्त्वों की जैन दृष्टिकोणों से तुलना; २३१

षष्ठ अध्याय—उपसंहार

२३५

सहायक ग्रन्थ-सूची

२४३

अध्याय-१

विषय--प्रवेश

कर्मसिद्धान्त का इतिहास

जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव

ऐतिहासिक दृष्टि से प्रत्येक दर्शन और दार्शनिक अवधारणा के विकास की अपनी एक पृष्ठभूमि होती है। उसके विभिन्न तथ्य तत्कालीन विभिन्न परम्पराओं से ग्रहीत होते हैं। साथ ही ऐसा कोई केन्द्रीय सिद्धान्त होता है जिसके आधार पर उन्हें संयोजित किया जाता है। जब हम कर्मसिद्धान्त के उद्भव एवं विकास की दृष्टि से जैन दर्शन का अवलोकन करते हैं तो यह पाते हैं कि कर्मसिद्धान्त के उद्भव एवं विकास में इस दर्शन की विशिष्ट देन है। पण्डित सुखलालजी कहते हैं कि “यद्यपि वैदिक साहित्य तथा बौद्ध साहित्य में कर्म सम्बन्धी विचार हैं, पर वह इतना अल्प है कि उसका कोई खास ग्रन्थ उस साहित्य में दृष्टि-गोचर नहीं होता, इसके विपरीत जैन दर्शन में कर्म सम्बन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अतिविस्तृत है।”^१ इसी तथ्य को परिपुष्ट करते हुए डॉ० सागरमल जैन का कथन है कि “यद्यपि भारतीय चिन्तन की जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं में कर्मसिद्धान्त का विकास हुआ है लेकिन उसके सर्वांगीण विकास का श्रेय जैन परम्परा को ही है।”^२ इन विवरणों से यही प्रतिध्वनित होता है कि कर्मसिद्धान्त के आविर्भाव एवं विकास में जैन परम्परा का विशिष्ट योगदान है।

जहाँ तक कर्मसिद्धान्त के उद्भव की बात है, जैन ग्रन्थों को देखने से यही लगता है कि सर्वप्रथम वैयक्तिक विषमता के कारणों की खोज के फलस्वरूप ही कर्मसिद्धान्त अस्तित्व में आया। विश्व के इस विशाल रंगमंच पर चतुर्दिक दृष्टिपात करने पर विषमता का ही साम्राज्य दिखाई

१. आत्ममीमांसा, पं० दलसुखभाई मालवणिया, पृ० ८०।

२. जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, ले० डॉ० सागरमल जैन, प्रथम भाग, पृ० २९८।

देता है। यदि हम इन विषमताओं के मूलभूत कारणों की छानबीन करें तो कर्म के अतिरिक्त अन्य कोई तथ्य जागतिक वैविध्य का युक्तिसंगत कारण नहीं जान पड़ता। जैन दर्शन एक ऐसा दर्शन है जो जगत्-वैचित्र्य के मुख्य कारण के रूप में कर्म को अंगीकार करता है। आचारांगसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि “कर्म से उपाधि (दुःख) का जन्म होता है।”^१ आचारांगसूत्र का उक्त उल्लेख यह सूचित करता है कि किसी भी प्रकार के वैषम्य का मूल कारण कर्म है, क्योंकि कर्म से ही मनुष्य विभिन्न सुख-दुःख प्राप्त करता है। पं० दलसुख मालवणिया लिखते हैं कि “यह तो नहीं कहा जा सकता कि वैदिक काल के ऋषियों को मनुष्यों तथा अन्य अनेक प्रकार के पशु-पक्षी एवं कीट-पतंगों में विद्यमान विविधता का अनुभव नहीं हुआ होगा, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने इस विविधता का कारण अन्तरात्मा में ढूँढ़ने को अपेक्षा, उसे बाह्य तत्त्व में मानकर ही सन्तोष कर लिया।”^२ इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल के लोगों को जागतिक वैविध्य का ज्ञान तो था पर उन विषमताओं के मूलभूत कारणों की खोज के प्रति उनकी कोई विशेष रुचि न थी। विश्व-वैविध्य के कारण की खोज में मानवीय बुद्धि ने अनेक समाधान प्रस्तुत किये, जो न केवल विविध हैं, अपितु विरोधी भी हैं।

जगत्-वैचित्र्य के कारणों की गवेषणा करते हुए, कुछ विचारक इस तथ्य को स्थापना करते हैं कि काल ही जागतिक वैविध्य का एकमात्र कारण है, कुछ विचारक वस्तु-स्वभाव को वैविध्य का कारण मानते हैं, कुछ विचारकों के मत से नियति ही सब कुछ है। संसार के समस्त क्रिया-कलाप पूर्व नियत हैं और उसी क्रम में घटित होते हैं, इसी प्रकार कुछ यदृच्छा अर्थात् संयोग को ही जगत्-वैचित्र्य का कारण मानते हैं।

जागतिक वैविध्य सम्बन्धी कारणों की खोज के प्रयासों से यही फलित होता है कि प्राचीन काल में विषमता के मूल्यांकन में काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, ईश्वर आदिवादों की प्रधानता थी तथा जगत्-वैचित्र्य के कारण के रूप में कर्म की कोई चर्चा न थी।

१. कम्मणा उवाही जायइ ।

आयारो १/३/१/१९

२. आत्ममीमांसा, पं० दलसुख मालवणिया, पृ० ७९ ।

किन्तु जागतिक वैविध्य के मूल कारण की व्याख्या हेतु काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा एवं ईश्वर सम्बन्धी मान्यताएँ भी पूर्णतः तर्कसंगत नहीं जान पड़तीं। कालवाद की आलोचना करते हुए डॉ० सागरमल जैन कहते हैं कि “व्यक्ति की सुख-दुःखात्मक अनुभूति का आधार काल नहीं हो सकता; क्योंकि यदि काल ही एकमात्र कारण है तो एक ही समय में एक व्यक्ति सुखी और दूसरा व्यक्ति दुःखी नहीं हो सकता, फिर अचेतन काल हमारी सुख-दुःखात्मक चेतन अवस्थाओं का कारण कैसे हो सकता है ?” इसी प्रकार यदि हम यह मानकर चलें कि जागतिक वैविध्य का कारण स्वभाव है, नियति है, या यदृच्छा है, तो फिर इनमें प्रयत्न विशेष का कोई महत्त्व ही नहीं रहता। यदि हम दुःखी हैं तो दुःखी ही रहेंगे, उसके निवारण हेतु कोई प्रयास नहीं कर सकते; क्योंकि दुःख स्वभाव, नियति या यदृच्छावाद का परिणाम है। वास्तव में देखा जाय तो कारण सम्बन्धी उक्त मान्यताएँ बहुत त्रुटिपूर्ण लगती हैं। जागतिक वैविध्य के मूल कारण की खोज में उक्त वादों को सत्य मान लेने पर, अनेक ऐसे प्रश्न उठते हैं जिनका उचित समाधान मिल पाना कठिन है। इन्हीं सबको दृष्टि सम्मुख रखते हुए काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा आदि वादों की आलोचना करके विषमता के वास्तविक कारण के रूप में जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन में जागतिक वैविध्य की व्याख्या हेतु कर्म सिद्धान्त अस्तित्व में आया। इसने यह स्पष्ट किया कि विश्व वैचित्र्य का कारण काल, स्वभाव, नियति आदि नहीं है, अपितु व्यक्ति के अपने-अपने कर्म हैं। पञ्चम कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना में स्पष्ट उल्लेख है कि “विषमता का कारण है—प्राणियों के अपने-अपने कर्म हैं, चूँकि सब प्राणियों के कर्म जुदा-जुदा तरह के होते हैं अतः उसका फल भी जुदा-जुदा होता है यही कारण है कि संसार के चराचर प्राणियों में इतनी विषमता देखी जाती है।”^२

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काल, स्वभाव, नियति आदि वादों को अयुक्त बताकर उनके स्थान पर विश्व वैचित्र्य के मूल कारण के

-
१. जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० सागरमल जैन, प्रथम भाग, पृ० ३०२।
 २. पञ्चमकर्मग्रन्थ प्रस्तावना, पृ० २।

४ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

रूप में कर्म को प्रतिष्ठित करने हेतु जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त का आविर्भाव हुआ।

पण्डित सुखलालजी^१ कर्मविपाक की प्रस्तावना में कर्मसिद्धान्त के उद्भव में प्रमुख तीन प्रयोजनों पर प्रकाश डालते हैं अर्थात् उनके अनुसार मुख्य तीन प्रयोजनों में परिव्याप्त मिथ्यावधारणाओं को दूर करने हेतु कर्मसिद्धान्त का उद्भव हुआ। वे तीन प्रयोजन निम्न हैं—

१. वैदिक धर्म की ईश्वर सम्बन्धी मान्यता को दूर करना।
२. बौद्ध धर्म के एकान्त क्षणिकवाद को अयुक्त बताना।
३. आत्मा को जड़ तत्त्व से भिन्न चेतन तत्त्व स्थापित करना।

इससे यह सूचना मिलती है कि इन्हीं तीन भ्रान्त धारणाओं के परिहारार्थ जैन दर्शन में कर्मसिद्धान्त का उद्भव हुआ। अब यहाँ हम इन तीन भ्रान्त धारणाओं पर दृष्टिपात करेंगे जिनके कारण कर्मसिद्धान्त अस्तित्व में आया।

१. वेदों^२ तथा उपनिषदों^३ में ईश्वर विषयक ऐसी कल्पना थी जिससे लोगों में यह सामान्य धारणा सी बन गयी कि सभी कर्म ईश्वर की प्रेरणा से होते हैं और ईश्वर ही अच्छे-बुरे कर्मों का फल लोगों को भागने को प्रेरित करता है। ईश्वर सम्बन्धी ऐसी मान्यता के कारण लोगों में भी सामान्यतया यह धारणा बनने लगी कि ईश्वर ही सब कुछ है, उसकी प्रेरणा से ही कर्मों का फल मिलता है, ऐसी धारणा के विकसित होने से व्यक्ति के स्वतन्त्र कर्तृत्व एवं कर्म की शक्ति का महत्त्व क्रमशः कम होने लगा। लोगों में परिव्याप्त इस मिथ्यावधारणा को नष्ट करने हेतु महावीर ने कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

२. बौद्ध धर्म के क्षणिकवाद सम्बन्धी एकान्त विचारधारा से लोगों की कार्य के प्रति आस्था कम हो जाना स्वाभाविक था; क्योंकि किसी कार्य या घटना को क्षण-क्षण परिवर्तनशील मान लेने से यह बहुत सम्भव

१. कर्मविपाक, प्रथम भाग, हिन्दी अनुवादक पं० सुखलालजी, प्रस्तावना, पृ० ११।

२. सूर्याचन्द्रमसो धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

ऋग्वेद, म० १, सू० १९, मं० ३

३. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति यत्प्रमत्त्याभिसं
विश्रान्ति तद्धि जिज्ञास्व, तद्ब्रह्मेति।

था कि कर्मों का फल भी न मिले । चूँकि क्षणिकवाद यह सूचित करता है कि प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण परिवर्तनशील है, अतः उस क्षण में किये गये कर्म के कोई स्थायी फल नहीं मिल सकते क्योंकि क्षण-क्षण परिवर्तनशीलता के कारण कर्मविपाक की कोई निश्चित कालावधि नहीं बन पाती । इन सबको दृष्टि में रखकर साथ ही व्यक्ति की कर्म के प्रति आस्था बनी रहे, इस हेतु क्षणिकवाद की संकुचित विचारधारा का अतिक्रमण कर जैन दर्शन में कर्मसिद्धान्त का उद्भव हुआ, साथ ही इस दर्शन ने यह भी स्पष्ट किया कि कर्मों के फल का वस्तु या कार्य की क्षण-क्षण की परिवर्तनशीलता से कोई साहचर्य सम्बन्ध नहीं है । यदि व्यक्ति वर्तमान देह के विनष्ट होने तक भी अपने द्वारा कृत कर्मों का फलोपभोग नहीं कर पाता है तो उसका फल उसे अग्रिम जन्म में मिलता है । यद्यपि भगवान् बुद्ध स्वयं भी क्षणिकवाद के साथ ही कर्म^१ और उसका विपाक^२ मानते थे । जैन दार्शनिकों द्वारा कर्मवाद की स्थापना का मुख्य आधार यह था कि यदि आत्मा को क्षणिक मात्र मान लिया जाय तो कर्मविपाक की किसी तरह उपपत्ति हो ही नहीं सकती, और जब कर्म का विपाक ही सम्भव नहीं होगा तो फिर कर्मसिद्धान्त का कोई महत्त्व ही नहीं रहता । इसलिए कर्मसिद्धान्त की युक्तिसंगत व्याख्या के लिए, लोगों को सदाचार के प्रति आस्थावान बनने के लिए यह मानना होगा कि आत्मा अमर है, उसे अपने कृत कर्मों का फल अवश्य मिलेगा । बौद्ध दर्शन की क्षणिकवाद सम्बन्धी मान्यता से अकृतभोग और कृतप्रणाश की समस्या उत्पन्न होती है । अतः जैन विचारकों ने कर्मसिद्धान्त के साथ-साथ आत्मा की अमरता का भी प्रतिपादन किया । इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षणिकवाद की आलोचना के साथ एक सुसंगत कर्मसिद्धान्त की स्थापना के पीछे जैन आचार्यों के दो प्रमुख उद्देश्य थे—

१. कर्मविपाक के प्रति लोगों की आस्था भौतिकवाद, देहात्मवाद, अनात्मवाद एवम् एकान्त क्षणिकवाद के कारण कम न होने पाये ।

२. ईश्वरवाद, आत्म अकर्तृत्ववाद तथा कूटस्थ आत्मवाद के कारण

१. कम्मना वत्तती लोको कम्मना वत्तती पजा ।

कम्मनिबन्धना सत्ता रथस्साणीव यायतो ॥

सुत्तनिपात, वासेठसुत्त ६१

२. य कम्म करिस्सामि कल्लणं वा पापकं वा तस्स दायदो भविस्सामि ।

अंगुत्तरनिकाय, कर्मविपाक—पं० सुखलालजी, पृ० १३ से उद्धृत ।

भी शुभाशुभ कर्म के विपाक की व्यवस्था में व्यवधान न हो और पुरुषार्थ के प्रति लोगों की आस्था जगे ।

कर्मसिद्धान्त के उद्भव सम्बन्धी इन तथ्यों पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि सर्वप्रथम विश्व वैचित्र्य के कारण के रूप में मान्य काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा आदिवादों को अयुक्त बताकर तदनन्तर वैदिक दर्शन के सर्वशक्तिमान ईश्वर सम्बन्धी मान्यता एवं चार्वाकों के भौतिकवाद एवं बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद की असंगतियों के निराकरण हेतु जैनो ने कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया ।

इस प्रकार जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव तत्कालीन दार्शनिक अवधारणाओं की असंगतियों के परिमार्जन एवं कर्म-फल व्यवस्था को सुसंगत बनाने के लिए हुआ । सामान्यतया यह स्पष्टीकरण करने के पश्चात् कि कर्मसिद्धान्त का उद्भव किन परिस्थितियों एवं किन उद्देश्यों को लेकर हुआ, अब हम इस तथ्य पर प्रकाश डालेंगे कि कर्मसिद्धान्त में निहित विभिन्न अवधारणाओं का विकास कैसे-कैसे हुआ ? इस हेतु हमें सर्वप्रथम जैन आगम साहित्य एवं तदनन्तर कर्मविषयक जैन साहित्य का अवलोकन करना होगा एवं उनमें प्राप्त तथ्यों के आधार पर कर्मसिद्धान्त के विकास का एक सुनिश्चित क्रम निर्धारित करना होगा ।

जैन कर्मसिद्धान्त का विकास

जैन कर्मसिद्धान्त के विकास को सम्यक् प्रकार से समझने के लिए हमें उसे एक कालक्रम में विभाजित कर लेना होगा । कर्मसिद्धान्त के विकास की दृष्टि से उसे तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

१. जैन कर्मसिद्धान्त का प्रारम्भिक काल या उद्भव काल, ई० पू० छठी शताब्दी से ईसापूर्व तीसरी शताब्दी ।

२. जैन कर्मसिद्धान्त का व्यवस्थापन काल—ई० पू० दूसरी शती से ईसा की तीसरी शती ।

३. जैन कर्मसिद्धान्त का विकास काल—ईसा की चौथी शती से बारहवीं शती ।

१. जैन कर्मसिद्धान्त का प्रारम्भिक या आदिकाल

जैन कर्मसिद्धान्त का आदिकाल महावीर के काल अर्थात् ईसापूर्व छठीं शताब्दी से ईसा की तीसरी शताब्दी तक माना जाता है । साहित्यिक दृष्टि से इस काल में हमें मुख्य रूप से ३ ग्रन्थ मिलते हैं—

१. आचारांग २. सूत्रकृतांग ३. ऋषिभाषित ।

ये तीनों ही ग्रन्थ अपनी भाषा, विषयवस्तु एवं अन्य सामग्री के आधार पर ईसा-पूर्व तृतीय शताब्दी की रचनाएँ हैं। इनमें भी आचारांग और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध और भी अधिक प्राचीन हैं तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध परवर्ती रचना है। विद्वानों ने आचारांग और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध और ऋषिभाषित को ईसापूर्व तीसरी शताब्दी से भी पूर्व की रचना माना है। इन तीन ग्रन्थों में हमें जैन कर्मसिद्धान्त के केवल मूल बीज ही उपलब्ध होते हैं। उसका सुव्यवस्थित विवेचन उनमें नहीं है। सर्वप्रथम तो तीनों ही ग्रन्थों में इस बात को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि व्यक्ति को अपने कर्मानुसार शुभाशुभ फल मिलते हैं।

आचारांग में कर्म को उपाधि (दुःख का कारण) बताया गया है।^१ यहाँ उपाधि शब्द दुःख और पीड़ा अथवा बन्धन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसके साथ ही आचारांग में आस्रव और परिस्रव की चर्चा है। आस्रव शब्द जैन और बौद्ध दोनों के ही प्राचीन ग्रन्थों में बन्धन या दुःख के कारण के रूप में ग्रहीत हुआ है। जैन कर्मसिद्धान्त में आगे चलकर जो कर्मवर्गणाओं के आस्रव (आगमन) की बात कही गयी है, उसका मूल बीज यहाँ उपलब्ध होता है। आस्रव शब्द आगमन का सूचक है। पाप कर्मों के करने से आस्रव होता है। यद्यपि अनेक सन्दर्भों में आस्रव और पाप को समानार्थी ही मान लिया गया है। आचारांग में स्पष्ट उल्लेख है कि “कर्ता के मनोभावों के आधार पर जो आस्रव अर्थात् बन्धन के कारण हैं वे ही परिस्रव अर्थात् मुक्ति के कारण हो जाते हैं और जो परिस्रव अर्थात् मुक्ति के कारण हैं, वे बन्धन के कारण हो जाते हैं।”^२ यद्यपि आचारांग में कर्मवर्गणाओं का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु कर्म-शरीर की चर्चा उसमें अवश्य मिलती है। उसमें मुनि को यह निर्देश दिया गया है कि वह कर्म-शरीर को धुणे अर्थात् जर्जरित करे।^३ एक अन्य प्रसंग में यह भी कहा गया है कि “कामासक्ति के कारण वह कर्म को संचित करता है तथा ऐसा संचय करने वाला पुनः गर्भ को प्राप्त होता

१. कम्मुणा उवाही जायइ ।

आचारांग, १/३/११०

२. जे आसवा ते परिस्सवा,

जे परिस्सवा ते आसवा ।

वही, १/४/२/१३४

३. मुणो मोणं समादाय धुणे कम्मसरीरं ।

वही, १/२/६/९९

है।^१ इससे ऐसा लगता है कि कर्म कोई एक ऐसी वस्तु है जिसका संचय होता है तथा उन संचित कर्मों का कोई शरीर होता है और उसके कारण पुनर्जन्म की परम्परा चलती है। इससे ऐसा लगता है कि जैनदर्शन में आगे चलकर जो द्रव्यकर्म या कर्मवर्गणाओं की अवधारणा बनी, उसके सूत्रपात में आचारांग के ये ही सूत्र रहे होंगे।

इस प्रकार आचारांग में कर्मों के कारण शुभाशुभ फल का मिलना, उनका संचित होना तथा संचित कर्मों के कारण पुनर्जन्म का होना, उनसे कर्म-शरीर का बनना और उस कर्म-शरीर को साधना के द्वारा उसे जर्जरित किया जाना आदि तथ्य उपलब्ध होते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि आचारांगसूत्र में जैन कर्मसिद्धान्त के मूल बीज उपलब्ध हैं। विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि यदि आज भगवान् महावीर की वाणी का कोई भी प्रतिनिधि अंश जैनागम साहित्य में उपलब्ध है तो वह आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में ही है।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के बाद कालक्रम की दृष्टि से विद्वानों ने सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को स्थान दिया है। सूत्रकृतांग में बन्धन को जानने और उसको तोड़ने की बात कही गयी है।^२ यहाँ बन्धन को जानने का तात्पर्य बन्धन के कारणों को जानने से ही है। सूत्रकृतांग इस बात को बहुत स्पष्टता के साथ प्रतिपादित करता है कि “व्यक्ति जो कुछ अच्छा-बुरा कर्म करता है, उसका फल उसे स्वयं ही भोगना पड़ता है अन्य कोई उसके उस फलभोग में न तो भागीदार हो सकता है, न उसे उस फलभोग से बचा ही सकता है।”^३ इसमें कहा गया है कि इस संसार में प्राणी अपने कर्मों के कारण ही परिभ्रमण करता है। इस प्रकार सूत्रकृतांग में यह माना गया है कि कर्म के कारण संसार में परिभ्रमण करना होता

१. कामेसु गिद्धा णिचयं करेति ।

संसिच्चमाणा पुणरेति गब्भं ॥

आचारांग, १/३/२/११३

२. बुज्झिज्ज तितट्ठिज्जा, बंधणं परिजाणिया ।

सूत्रकृतांग, १/१/११

३. (क) जमिणं जगती पुढो जगा, कम्महेह लुप्पंति पाणिणो ।

सयमेव कडेहि गाहंति, णो तस्स मुच्चेज्ज पुट्ठयं ॥ वही, १/२/१/४

(ख) जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए ।

एगंतदुक्खं भवमज्झणिता, वेदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं ॥

वही, १/५/२/२२

है। व्यक्ति को अपने शुभाशुभ कर्मों का फल स्वयं ही भोगना पड़ता है और दूसरा कोई उसे त्राण नहीं दिला सकता। उसमें ये ही महत्त्वपूर्ण बातें प्रतिपादित हैं।

इस काल की रचनाओं में तीसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ऋषिभाषित आता है। ऋषिभाषित में न केवल जैन परम्परा के ऋषियों के वचन हैं, अपितु जैनतर परम्परा के ऋषियों के भी वचन हैं। इस ग्रन्थ में कर्म से सम्बन्धित जो विवरण मिलते हैं, वे जैन कर्मसिद्धान्त की मूलभूत अवधारणाओं को तो सूचित करते ही हैं, साथ-साथ यह भी स्पष्ट करते हैं कि यह अवधारणा उस समय जैनतर परम्पराओं में भी उपलब्ध थी। उदाहरण के रूप में ऋषिभाषित के दूसरे अध्याय में यह स्पष्ट उल्लेख है कि “जीव संसार में कर्म का अनुगामी होता है, अर्थात् वह कर्म के अनुसार ही अच्छी-बुरी योनियों में परिभ्रमण करता है,^१ कर्मरूपी बीजों से मोहरूपी अंकुर और उससे फिर कर्मरूपी बीज उत्पन्न होते हैं।^२ इसी ग्रन्थ के पच्चीसवें अध्याय में भी यह बात स्पष्ट की गयी है कि “पापकर्म ही गर्भावास अर्थात् पुनर्जन्म का कारण है।^३ इस ग्रन्थ के इक्कीसवें अध्याय में महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थङ्कर पार्श्व की मान्यताओं का उल्लेख है। इसमें यह बताया गया है कि जीव उर्ध्वगामी और पुद्गल अधोगामी होते हैं। जीव कर्म-प्रभव है और पुद्गल परिणाम-प्रभव है।^४ इसका तात्पर्य यह है कि जीव के कारण कर्म का संचय होता है और पुद्गल के कारण उनका फल विपाक मिलता है। इस चर्चा में स्पष्ट रूप से द्रव्यकर्म की अवधारणा के बीज उपलब्ध हैं।

१. जीवा कम्माणुगामिणो ।

इसिभासियाइं, २/१

२. बीया अंकुरणिफक्ती अंकुरातो पुणो बीयं ।

बीए संबुज्झमाणम्मि अंकुरस्सेव संपदा ॥

बीयभूताणि कम्माणि संसारम्मि अणादिए ।

मोहमोहितचित्तस्स ततो कम्माण संतती ॥

वही, २/४, ५

३. वही, पृ० १४२,

४. उद्भगामी जीवा अहगामी पोग्गला, कम्मप्पभवा जीवा, परिणामप्पभवा पोग्गला । कम्मं पप्प फलं विवाको जीवाणं । परिणामं पप्पफलं विवाको पुग्गलाणं ।

वही, अध्याय ३१, पृ० १८७

१० : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

इन सब आधारों पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में जैन कर्मसिद्धान्त की निम्न मूलभूत अवधारणाएँ बन चुकी थीं—

१—कर्मों का शुभाशुभ फल मिलता है।

२—कर्म संचित होते हैं, अर्थात् वे कालान्तर में फल देने की सामर्थ्य रखते हैं। कर्म या कर्मबन्ध का कारण राग-द्वेष, कषाय और मोह है।

३—संचित कर्मों के कारण पुनर्जन्म होता है।

४—इन संचित कर्मों को तपस्या के द्वारा जर्जरित किया जा सकता है और इस प्रकार कर्मों से अर्थात् संसार परिभ्रमण से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

यद्यपि इस काल में कर्मसिद्धान्त की सभी मूलभूत बातें अपने अस्तित्व में आ चुकी थीं, फिर भी इन प्राचीनतम ग्रन्थों में सुव्यवस्थित रूप से जैन कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं है। न तो इनमें कर्मप्रकृतियों की चर्चा है, न कर्म और गुणस्थानों के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा है, और न कर्मों के उदय, उदीरणा आदि विभिन्न अवस्थाओं की ही चर्चा है।

२. कर्मसिद्धान्त का व्यवस्थापन काल

जैन कर्मसिद्धान्त का सुव्यवस्थित विवरण ईसापूर्व की दूसरी शताब्दी से लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इस काल के प्रमुख जैन ग्रन्थ जिनमें कर्म सम्बन्धी विवरण उपलब्ध हैं, निम्न हैं—

उत्तराध्ययन, स्थानांग, समवायांग, भगवती के कुछ प्राचीन अंश, प्रज्ञापना और तत्त्वार्थसूत्र। इन ग्रन्थों में जैन कर्मसिद्धान्त का एक सुव्यवस्थित चित्रण उपलब्ध होता है। इनमें द्रव्यकर्म और भावकर्म अर्थात् कर्म के चैतसिक एवं भौतिक पक्ष की समस्त अवधारणाएँ हमारे सामने आ जाती हैं। इन ग्रन्थों में कर्म की आठ मूल प्रकृतियों एवं उनकी उत्तरप्रकृतियों की विस्तृत चर्चा भी उपलब्ध होती है।^१ इसके साथ ही आस्रव एवं कर्मबन्ध के कारणों की चर्चा करते हुए मिथ्यात्व, अविरति,

१. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, ३३/१-१६,

(ख) समवायांगसूत्र, ९/५८, १६/१११, ४२/२५१, ५२/२८६, ५८/३०४,

(ग) पन्वणा सूत्र, २३/२/१०,

(घ) तत्त्वार्थसूत्र, ८/५-१४,

कषाय, प्रमाद और योग की चर्चा भी इन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।^१ इस प्रकार ये ग्रन्थ कर्मबन्धन के कारणों का भी एक स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत करते हैं। इसी कालावधि के अन्तिम चरण के कुछ ग्रन्थ जैसे प्रज्ञापना, तत्त्वार्थसूत्र तथा समवायांग में कर्म की विभिन्न प्रकृतियों के अलग-अलग बन्धन के कारणों का भी उल्लेख मिलता है,^२ जैसे देवायु का बन्ध किन कारणों से होता है, मनुष्यायु का बन्ध किन कारणों से होता है, इत्यादि। ज्ञानावरणाय आदि आठ मूल प्रकृतियों के बन्धन के अलग-अलग कारणों की चर्चा भी इनमें उपलब्ध है।^३ कर्मों के उदय, उदोरणा, संक्रमण आदि अवस्थाओं की चर्चा भी इस कालावधि के ग्रन्थों में उपलब्ध हो जाती है।^४ इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ईसापूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी तक जैन परम्परा में कर्मसिद्धान्त को सुव्यवस्थित रूप से स्थापित कर दिया गया था।

संक्षेप में इस काल में कर्मसिद्धान्त के सम्बन्ध में निम्न बातों का प्रवेश हुआ—

१—कर्म की मूल एवम् उत्तर प्रकृतियों का वर्गीकरण

२—कर्म की मूल एवम् उनकी प्रकृतियों के बन्धन के अलग-अलग कारणों का विवेचन।

३—बन्धन के ५ हेतुओं का विवेचन और उनका प्रकृतिबन्ध, स्थिति-बन्ध, अनुभागबन्ध एवं प्रदेशबन्ध से सम्बन्ध और कर्म की

१. (क) पंच आसवदारा, पणत्ता तं जहा-मिच्छत्तं, अविरइ, पमाए, कसाया, जोगा। स्थानांगसूत्र, ५/२/४१८

(ख) पंच आसवदारा पणत्ता, तं जहा-मिच्छत्तं अविरई, पमाया, कसाया जोगा। समवायांगसूत्र, ५/२५

(ग) मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः। तत्त्वार्थसूत्र, ८/१

२. (क) पन्नवणा सूत्र, २३/४, २३/७

(ख) तत्त्वार्थसूत्र, ६/११-२६,

(ग) समवायांग सूत्र २५/१६९, २८/१८७,

३. तत्त्वार्थसूत्र, ६/११-२६,

४. (क) स्थानाङ्ग सूत्र, ४/१/२९६

(ख) भगवतीसूत्र, १/१/१०

(ग) पन्नवणा सूत्र, २३/४, २३/१८, २३/१/१२,

१२ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

उदय, उदीरणा आदि दस अवस्थाओं का उल्लेख, विभिन्न कर्म-प्रकृतियों की न्यूनतम और अधिकतम सत्ता की कालावधि ।

४—कर्मप्रकृतियों के अलग-अलग फल विपाक की चर्चा ।

३. जैन कर्मसिद्धान्त का विकास काल

यह काल ईसा की चौथी शताब्दी से लेकर ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक सुविस्तृत है । इस काल की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं—

१—कर्मसिद्धान्त पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना ।

२—कर्मसिद्धान्त का अन्य जैन दार्शनिक अवधारणाओं, जैसे-गुण-स्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान, लेश्या आदि से सम्बन्ध ।

३—कर्मप्रकृतियों का गुणस्थान और मार्गणास्थान में उदय, उदीरणा आदि की दृष्टि से विस्तृत विवेचन ।

४—जैन कर्मसिद्धान्त के सन्दर्भ में उत्पन्न दार्शनिक समस्याओं का समाधान ।

५—जैन कर्मसिद्धान्त को गणितीय स्वरूप प्रदान किया जाना ।

जैसा कि हमने उल्लेख किया है, इस काल की सबसे प्रमुख विशेषता कर्मसिद्धान्त पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना है । कर्मसिद्धान्त के सम्बन्ध में एक सुव्यवस्थित अवधारणा बन जाने के बाद ही ऐसे ग्रन्थों का लिखा जाना सम्भव था । अतः हमने इस काल को कर्मसिद्धान्त का विकास काल कहा है । इस काल में कर्मसिद्धान्त के सम्बन्ध में नवीन अवधारणाओं की स्थापना की अपेक्षा जो धारणाएँ स्थापित हो चुकी थीं, उन्हीं को अधिक गहराई से विचारित और विश्लेषित किया गया । इस काल में सर्वप्रथम दिगम्बर परम्परा में कर्मसिद्धान्त को आधार बनाकर दो ग्रन्थ लिखे गये—(१) षट्खण्डागम, और (२) कसायपाहुड ।

पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की, तो आचार्य गुणधर ने कसायपाहुड की । इन्हें कर्मसिद्धान्त की बारीकियों को समझाने वाले आचार्य धरसेन थे, उन्हीं से इन्होंने कर्मसिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त किया था ।

दिगम्बर परम्परा के अनेक विद्वान् कसायपाहुड और षट्खण्डागम का रचनाकाल ईसा की प्रथम शताब्दी तक ले जाते हैं किन्तु इन ग्रन्थों में से षट्खण्डागम में गुणस्थान एवं कर्मसिद्धान्त के पारस्परिक सम्बन्ध का जितना सुव्यवस्थित और गम्भीर विवेचन हुआ है, उसे देखकर ऐसा लगता है कि यह ग्रन्थ उन ग्रन्थों की अपेक्षा, जिनमें कर्मसिद्धान्त का प्राथमिक

विवेचन है, से परवर्ती काल का है। अतः अनेक श्वेताम्बर एवं दिगम्बर विद्वानों ने भी स्पष्ट रूप से कसायपाहुड का काल ईसा की तीसरी शताब्दी तथा षट्खण्डागम का काल ईसा की पाँचवीं-छठीं शताब्दी माना है।

षट्खण्डागम में कर्मसिद्धान्त का विकसित रूप परिलक्षित होता है। इसमें कर्मसिद्धान्त का गुणस्थान और मार्गणास्थान की अवधारणा के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है। किस गुणस्थान में एवं किस मार्गणास्थान में कितनी कर्मप्रकृतियों का बन्ध, उदय आदि होता है? यह स्पष्ट किया गया है।^१ इस ग्रन्थ के सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में चौदह गुणस्थानों का विस्तार से उल्लेख है।^२ गुणस्थान की स्पष्ट अवधारणा हमें समवायांग को छोड़कर न तो प्राचीन श्वेताम्बर आगमों में मिलती है और न तत्त्वार्थसूत्र में। समवायांग में भी इन्हें जीवस्थान कहा गया है।^३ षट्खण्डागम भी जीवस्थान के नाम से ही सत्प्ररूपणा में गुणस्थानों की चर्चा करता है। प्रथम १४ जीवस्थानों^४ को गिनाकर फिर इन स्थानों की चर्चा हुई है। यहाँ भी “गुणस्थान” ऐसा स्पष्ट शब्द—उल्लेख नहीं है। इसमें सूत्र ९ से २२ तक गुणस्थानों के नाम गिनाये गये हैं,^५ किन्तु गुणस्थान शब्द का प्रयोग नहीं है। यद्यपि इसी सत्प्ररूपणा के सत्ताइसवें सूत्र में “मणुस्सा चोद्दससु गुणट्ठाणेसु अत्थि”, ऐसे पाठान्तर का उल्लेख है।^६ इससे यह अवश्य फलित होता है कि जीव के आध्यात्मिक विकास की इन चौदह अवस्थाओं को इसमें गुणस्थान का नाम प्राप्त हो गया था। इन १४ गुणस्थानों को लेकर ही आगे इसमें गति आदि १४ मार्गणाओं की विस्तृत चर्चा है।^७

षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान की प्रकृतिसमुत्कीर्तन एवं स्थानसमुत्कीर्तन नामक दोनों चूलिकाएँ कर्मसिद्धान्त के विकास की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों चूलिकाओं में कर्म की मूल एवं उनकी

१. षट्खण्डागम, जीवस्थान चूलिका, पुस्तक ६, भाग ९, सूत्र ५-२२

२. वही, पुस्तक १, भाग १, सूत्र ९-२२

३. समवायांग सूत्र, १४-९५

४. षट्खण्डागम, पुस्तक १, भाग १, सूत्र २-४

५. वही, सूत्र ९-२२

६. वही, सूत्र २७

७. वही, सूत्र २९-१४८

उत्तरप्रकृतियों^१ तथा गुणस्थानों में इनके बन्ध का निरूपण किया गया है।^२ इसी प्रकार षट्खण्डागम के क्षुद्रकबन्ध एवं बन्धस्वामित्वविचय नामक दूसरे एवं तीसरे खण्ड भी कर्मसिद्धान्त का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करते हैं। इसी के वेदना खण्ड में जीव कर्मों की किन प्रकृतियों का वेदन किस प्रकार करते हैं, इसकी चर्चा की गयी है।^३ इस प्रकार षट्खण्डागम कर्मसिद्धान्त पर लिखा गया प्रथम स्वतन्त्र एवं महत्त्वपूर्ण कर्मग्रन्थ है।

षट्खण्डागम के बाद जब हम कसायपाहुड पर आते हैं तो हमें एक विशेषता यह देखने को मिलती है कि इस ग्रन्थ में समस्त कर्मप्रकृतियों की चर्चा को न उठाकर मात्र मोहनीय कर्म के आधार पर ही बन्धन आदि की स्थिति को स्पष्ट किया गया है। किसी सीमा तक हम यह मान सकते हैं कि कसायपाहुड, अपने विषय-विकास की दृष्टि से या तो षट्खण्डागम का पूर्ववर्ती या समकालिक ही है।

श्वेताम्बर परम्परा में कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित ग्रन्थ “कर्मप्रकृति” है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रम की पाँचवीं शताब्दी और उसके लेखक शिवशर्मसूरि माने जाते हैं। यह ग्रन्थ मुख्य रूप से कर्म प्रकृतियों के बन्धन संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन, उपशमन, निधत्तिकरण और निकाचनाकरण की चर्चा करता है।^४ यद्यपि इन आठ अवस्थाओं का उल्लेख श्वेताम्बर आगम साहित्य में भी उपलब्ध है, किन्तु यह ग्रन्थ इन सभी पर पर्याप्त विस्तार के साथ विवरण प्रस्तुत करता है। अतः कर्मसिद्धान्त के विकास को समझने की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

कर्मसिद्धान्त के अग्रिम विकास का चरण मुख्य रूप से षट्खण्डागम, कसायपाहुड और कर्मप्रकृति पर लिखी गयी चूर्णियों, टीकाओं और वृत्तियों के रूप में प्राप्त होता है। इन टीका ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी उपर्युक्त दोनों मूल ग्रन्थों के अर्थ को ही अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। यह माना जाता है कि षट्खण्डागम पर आचार्य कुन्दकुन्द, शामकुण्डाचार्य, तुम्बूलाचार्य, समन्तभद्र और वप्पदेव ने व्याख्यायें लिखी थीं। इसी प्रकार कसायपाहुड पर यतिवृषभ की चूर्णि, उच्चारणार्थ की वृत्ति, शामकुण्डाचार्य की कन्नड़मिश्रित टीका, तुम्बूलाचार्य की कन्नड़

१. षट्खण्डागम, जीवस्थानचूला, पुस्तक ६, भाग ९, सूत्र ५-१२, १३-४६

२. वही, पुस्तक ६, सूत्र ५-२२

३. वही, पुस्तक १०, सूत्र २-४, पृ० २०-२९

४. कर्मप्रकृति, बन्धन चरण, गाथा २

व्याख्या तथा वप्पदेव गुरु की प्राकृत टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वर्तमान में ये सभी टीकाएँ अनुपलब्ध हैं। यह भी स्मरणीय है कि ये सभी टीकाएँ विक्रम की चौथी पाँचवीं शताब्दी से लेकर आठवीं, नौवीं शताब्दी तक लिखी गयीं। श्वेताम्बर परम्परा में भी यद्यपि कर्मप्रकृति पर चूर्णि, वृत्ति आदि लिखी गयीं, किन्तु वे सभी बारहवीं शताब्दी के बाद की रचनाएँ हैं। अतः इस कालावधि में कर्मसिद्धान्त के विकास को समझने के लिए इन पर विचार किया जाना उचित नहीं है; क्योंकि इस कालावधि से पूर्व ही कर्मसिद्धान्त की सभी महत्वपूर्ण अवधारणाएँ सुव्यवस्थित रूप में प्राप्त हो जाती हैं।

कर्मसिद्धान्त के विकास की दृष्टि से नौवीं, दशवीं और ग्यारहवीं शताब्दी भी महत्वपूर्ण मानी जाती है। इस कालावधि में वीरसेन और जिनसेन ने षट्खण्डागम और कसायपाहुड पर क्रमशः 'धवला' एवं 'जयधवला' टीकाएँ लिखी जो न केवल इन मूल ग्रन्थों की व्याख्या ही करती हैं बल्कि कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी अनेक गम्भीर चर्चाओं को मौलिक रूप से प्रतिपादित भी करती हैं। सद्भाग्य से आज ये दोनों ही ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हैं। इन ग्रन्थों के अध्ययन से यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जाती है कि जैनाचार्यों ने कर्मसिद्धान्त का कितना गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है।

कर्मसिद्धान्त के साथ गणित का गम्भीर सम्बन्ध भी इन्हीं टीका ग्रन्थों में स्पष्ट होता है। दिगम्बर परम्परा के इन्हीं टीका ग्रन्थों की बातों को कुछ संक्षेप में कहने की दृष्टि से नेमिचन्द्र का गोम्मटसार भी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में आकर जैन कर्मसिद्धान्त पूर्णतया एक गणितीय स्वरूप प्राप्त कर लेता है। गोम्मटसार में कर्मसिद्धान्त के गणितीय स्वरूप का विस्तृत विवेचन हुआ है और उसे मात्र कोई गणितज्ञ ही सम्यक् प्रकार से प्रस्तुत कर सकता है। मैं तो केवल उन गाथाओं को उद्धृत कर रहा हूँ जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि गोम्मटसार में आकर जैन कर्मसिद्धान्त पूर्णरूप से गणितीय स्वरूप को प्राप्त हो गया था। उदाहरण के रूप में गोम्मटसार के कर्मकाण्ड की ९२५ से ९३२ तक की गाथायें देखिये। कर्मकाण्ड की उक्त गाथाओं में कहा गया है कि "मिथ्यात्वनामा कर्म में पत्यकी वर्गशलाका को आदि लेकर पत्य के प्रथम मूलपर्यन्त उन वर्गों का आपस में गुणकार करने से प्रथम राशि अर्थात् अन्योन्याभ्यस्त-राशि का प्रमाण होता है, और उनकी अर्धच्छेद राशियों को संकलित अर्थात् जोड़ने से चौथी राशि अर्थात् नानागुण हानि का प्रमाण होता है।

इन दोनों राशियों के निकालने का विशेष विधान बड़ी टीका में देखना चाहिये।”^१ “इसप्रकार पल्यकी वर्गशलाका का भाग पल्य में देने से अन्योन्याभ्यस्तराशि का प्रमाण होता है और पल्यकी वर्गशलाका के अर्धच्छेदों को पल्य के अर्धच्छेदों में घटाने से जो प्रमाण आवे उतनी नाना-गुणहानिराशि जाननी चाहिये।”^२ गुणहानि का दूना प्रमाण निषेकहार होता है। उसका प्रयोजन यह है कि निषेकहार का भाग विवक्षित गुणहानि के पहले निषेक में देने से उस गुणहानि में विशेष (चय) का प्रमाण निकल आता है।^३ एक कम अन्योन्याभ्यस्तराशि का भाग सब द्रव्य में देने से अन्तगुणहानि का द्रव्य होता है और इससे दूना-दूना पहली गुण-हानि के द्रव्य तक द्रव्य जानना चाहिए।^४ “एक कम गुणहान्यायाम के परिमाण को आधा करके निषेक भागहार में घटाने से जो प्रमाण आवे उससे विवक्षित गुणहानि आयाम को गुणने से जो प्रमाण हो उसका भाग अपने द्रव्यों में दें तो विशेष का चय का प्रमाण होता है।”^५ सब चय को अपने-अपने गुणहानि के सब द्रव्य में से घटाने से जो प्रमाण हो उसमें गुणहान्यायाम का भाग देने से जो संख्या आवे वह आदिघन का अर्थात् अन्त के निषेक का प्रमाण सब जगह होता है।^६ सब मूल उत्तरप्रकृतियों का निषेकहार और एकगुणहान्यायाम ये दोनों तो एक से ही होते हैं और नानागुणहानि-शलाका समान नहीं है। इस कारण उनको कहता हूँ।”^७

१. मिच्छे वग्गसलायप्पहुदि पल्लस्स पढममूलोत्ति ।

वग्गहदी चरिमो तच्छिदिसंकलिदं चउत्थो य ॥

गोम्मटसार, कर्मकाण्ड गाथा, ९२५

२. वग्गसलायेणवहिदपल्लं अण्णोण्णगुणिदरासी हु ।

णाणागुणहाणि सला वग्गसलच्छेदणूपल्लच्छिदो ॥

वही, गाथा ९२६

३. वही, ९२८.

४. वही, ९२९.

५. रुउणद्धाणद्धेणूणे णिसेयभागहारेण ।

हदगुणहाणि विमज्जिदे सगसगदब्बे विसेसा हु ॥

वही, ९३०

६. पचयस्स य संकलणं सगसगगुणहाणिदब्बमज्झम्हि ।

अवणियगुणहाणिहिदे आदिपमाणं तु सव्वत्थ ॥

वही, ९३१

७. वही, ९३२.

इस प्रकार गोम्मटसार में कर्मसिद्धान्त का गणितीय स्वरूप स्पष्ट रूप में दृष्टिगत होता है। कर्मसिद्धान्त का गणितीय स्वरूप कठिन अवश्य है परन्तु इस पर जो टीकाएँ उपलब्ध होती हैं उनसे इनके स्वरूप को सम्यक् प्रकारेण समझा जा सकता है। वैसे इनकी सम्यक् व्याख्या कोई विद्वत् गणितज्ञ ही कर सकता है। इस दिशा में गोम्मटसार की जे० एल० जैनी कृत अंग्रेजी व्याख्या में इसे समझाने का पर्याप्त प्रयास किया गया है। प्रो० लक्ष्मीचन्द जैन ने जैन कर्मशास्त्र के गणितीय स्वरूप पर पत्र-पत्रिकाओं में लेख भी लिखे हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन षट्कर्मग्रन्थों में शतक और सप्ततिका अपेक्षाकृत प्राचीन माने जाते हैं। इनके कर्ता शिवशर्मसूरि माने गये हैं जो कर्मप्रकृति के रचयिता भी हैं। “कर्मस्तव” और बन्धस्वामित्व के कर्ता अज्ञात हैं। कर्मविपाक गर्गर्षि की रचना है जिनका काल विक्रम की दसवीं शताब्दी माना जाता है। इसी प्रकार षडशीति जिनवल्लभगणि की रचना मानी गयी है जिसका काल विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि श्वेताम्बर षट्कर्मग्रन्थों में कुछ तो षट्खण्डागम और कसायपाहुड की परवर्ती रचनाएँ हैं एवं कुछ गोम्मटसार की समकालिक एवं परवर्ती रचनाएँ हैं। ये षट्कर्मग्रन्थ लगभग ६ सौ साल की सुदीर्घ कालावधि में बने हैं। यद्यपि ये सभी कर्मसिद्धान्त के विविध पक्षों को स्पष्ट करते हैं फिर भी हमें यह मानना होगा कि इनमें कर्मसिद्धान्त का वह गम्भीरतम एवं विकसित रूप उपलब्ध नहीं होता जो इस कालावधि के लिखे गये दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में उपलब्ध है। सभी प्राचीन षट्कर्मग्रन्थों का गाथा परिमाण ५६७ है जो कि दिगम्बर परम्परा के विशाल कर्म सम्बन्धी साहित्य की तुलना में अल्पतम ही कहा जायेगा। यद्यपि इन सभी षट्कर्मग्रन्थों पर भाष्य, वृत्ति, चूर्णि, टिप्पण और अवचूरि लिखी गयी हैं, किन्तु वे सब भी उतने विशाल परिमाण में नहीं हैं जितने विशाल परिमाण में दिगम्बर कर्मसाहित्य है। इनमें कर्मसिद्धान्त की पूर्व स्थापित मान्यताओं की व्याख्याओं के अतिरिक्त विशेष मौलिक चिन्तन हुआ हो या उन्हें नया आयाम मिला हो, ऐसा कहना कठिन हो है। इनमें से आज अधिकांश तो प्रकाशित भी नहीं हैं। अतः इनमें कर्मसिद्धान्त का क्या स्वरूप प्रतिपादित है, यह निर्णय कर पाना भी मेरे लिए विशेष कठिन है।

प्राचीन षट्कर्मग्रन्थों के बाद श्वेताम्बर परम्परा में देवेन्द्रसूरि विरचित नवीन पंचकर्मग्रन्थ आते हैं। श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से तो

इन नवीन पंचकर्मग्रन्थों में जैन कर्मसिद्धान्त का विकसित स्वरूप देखा जा सकता है, किन्तु दिगम्बर परम्परा में इस कालावधि के पूर्व भी कर्मसिद्धान्त का जो गम्भीरतम विवेचन हो चुका था, उनकी अपेक्षा से तो इन कर्मग्रन्थों की रचना को विकसित स्तर का नहीं कहा जा सकता है। कर्मसिद्धान्त का जो भी विकसित रूप हमें मिलता है वह धवला, जय-धवला और गोम्मटसार तक ही सीमित है। अतः इन्हें ही कर्मसिद्धान्त के विकास का अन्तिम पड़ाव मानकर चलना होगा।

परवर्ती काल के जैन आचार्यों ने यद्यपि इन्हीं मूलभूत ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखकर कर्म साहित्य के विकास में अपना योगदान दिया है, किन्तु उनमें कोई नवीन अवधारणाएँ आयी हों, यह कहना कठिन ही है। मात्र हुआ यह है कि उन रचनाओं के पूर्व जैन कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी व्याख्याओं में जो-जो असंगतियाँ उपस्थित हो गयी थीं, उनका निराकरण किया गया है। इन असंगतियों में भी कुछ असंगतियाँ जैनेतर दार्शनिकों के द्वारा और कुछ असंगतियाँ स्वयं जैन दार्शनिकों के द्वारा देखी गयी थीं। इन असंगतियों के निराकरण के प्रयास तत्त्वार्थसूत्र की पूज्यपाद, अकलंक आदि की टीकाओं से लेकर परवर्ती कर्मसम्बन्धी ग्रन्थों की टीकाओं तक देखे जा सकते हैं। कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी आक्षेपों एवं असंगतियों के स्पष्टीकरण का यह प्रयास ईसा की पाँचवीं-छठीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी में यशोविजय तक निरन्तर चलता रहा है। यशोविजय ने अपने कर्म साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थों की टीकाओं में भी इन बातों को स्पष्ट किया है। चूँकि हम कर्म साहित्य के ग्रन्थों की विषयवस्तुओं का पर्याप्त विवेचन आगे प्रस्तुत कर रहे हैं, अतः पिष्टपेषण के भय से हम उन्हें यहाँ नहीं दे रहे हैं।

यहाँ मुख्य रूप से यह देखने का प्रयत्न किया गया है कि किस कालावधि के ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त की कौन-सी अवधारणाएँ पूर्णरूप से अस्तित्व में आ चुकी थीं तथा प्रारम्भ से लेकर परवर्तीकाल तक उनके स्वरूप में किस प्रकार के परिवर्तन, परिवर्द्धन हुए ? वैसे जैन कर्मसाहित्य को लेकर जैन कर्मसिद्धान्त की युक्तिसंगत व्याख्याओं के प्रयत्न वर्तमान काल तक निरन्तर चल रहे हैं। एक ओर परम्परागत ढंग से जैन आचार्य तथा दूसरी ओर आधुनिक दृष्टि से सम्पन्न विद्वज्जन इसे संगतिपूर्ण रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

आज भी जैन आचार्यगण कर्मसिद्धान्त के सम्बन्ध में नवीन ग्रन्थों की रचना में संलग्न हैं आचार्य श्री विजयप्रेम सूरि ने “बन्धविधान (बंध-

विहाण) और क्षपक श्रेणी (खवगसेढी)'' नामों से लगभग दो हजार पृष्ठों में कर्मसाहित्य की स्वतन्त्र रचना की है। बन्धविधान में प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध, प्रदेशबन्ध आदि को लेकर प्रथम प्राकृत गाथाएँ दी गयी हैं, उसके बाद उनपर स्वोपज्ञ संस्कृत टीका भी है। इसी प्रकार आधुनिक विद्वानों में पण्डित मुखलाल संघवी, पण्डित दलसुख मालवणिया, डॉ० सागरमल जैन, डॉ० मोहनलाल मेहता, प्रो० टी० जी० कलघटगी आदि ने कर्मसिद्धान्त को आधुनिक शैली में और समकालीन सन्दर्भों में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जैन परम्परा में कर्मसिद्धान्त एक जीवन्त अवधारणा के रूप में रहा है और सम्पूर्ण कालक्रम में उसके परिवर्द्धन, संशोधन और संगतिपूर्ण प्रस्तुतिकरण के प्रयत्न होते रहे हैं।



जैन कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी साहित्य का इतिहास

प्राचीन समय से ही भारतीय दर्शन में कर्मवाद की चर्चा रही है। प्रायः सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में कर्मवाद का विवेचन करते हैं। कर्मवाद सम्बन्धी सिद्धान्तों के निरूपण में जैन आचार्यों का अपना मौलिक योगदान रहा है। इस सिद्धान्त की विशिष्ट निरूपण शैली का श्रेय जैन परम्परा को ही है जिसका ऐतिहासिक एवं दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में अनुशीलन अति महत्त्वपूर्ण है।

जहाँ तक कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी साहित्य का प्रश्न है, कर्मवाद का विवरण तो जैनेतर दर्शनों में थोड़ा बहुत विस्तार से मिलता है, परन्तु उनमें कर्मसम्बन्धी कोई स्वतन्त्र साहित्य दृष्टिगत नहीं होता। पं० सुखलालजी लिखते हैं कि “यद्यपि वैदिक साहित्य तथा बौद्ध साहित्य में कर्म सम्बन्धी विचार हैं, पर वह इतना अल्प है कि उसका कोई खास ग्रन्थ उस साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत जैन दर्शन में कर्म-सम्बन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अतिविस्तृत है। अतएव उन विचारों का प्रतिपादक शास्त्र, जिसे “कर्मशास्त्र” या “कर्म-विषयक साहित्य” कहते हैं, उसने जैन-साहित्य के बहुत बड़े भाग को रोक रखा है।” इससे स्पष्ट होता है कि कर्मसिद्धान्त को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करने के साथ उसके स्वतन्त्र साहित्य के निर्माण का श्रेय जैन मनीषियों को ही है।

कर्मवाद का सामान्य विवेचन तो प्रायः जैन आगमिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों एवं जैन कथा साहित्य में मिलता है। इसके साथ ही स्वतन्त्र रूप से भी कर्म-सम्बन्धी विशाल साहित्य का निर्माण हुआ है।

जैन अनुश्रुति “कर्मप्रवाद” नामक एक अतिविस्तृत ग्रन्थ का उल्लेख करती है जिसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मसिद्धान्त था, परन्तु पूर्व साहित्य के विलुप्त होने के साथ ही यह ग्रन्थ भी विलुप्त हो चुका है।

कालान्तर में जैन परम्परा दो मुख्य भागों में विभक्त हुई—श्वेताम्बर एवं दिगम्बर और दोनों ही परम्पराओं में कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी साहित्य का सर्जन हुआ ।

प्रस्तुत अध्याय में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के कुछ प्रमुख कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों का ऐतिहासिक क्रम में विवेचन किया जायेगा ।

सर्वप्रथम कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी विवेचन जैनागमों में दृष्टिगत होता है । इनमें आचारांग, सूत्रकृतांग, प्रश्नव्याकरण तथा विपाकसूत्र इत्यादि में कर्मसिद्धान्त के यत्र-तत्र बिखरे हुए विवरण उपलब्ध होते हैं, जबकि स्थानांग, समवायांग, भगवती, प्रज्ञापना एवं उत्तराध्ययन में इसके सुव्यवस्थित एवं बहुविस्तृत विवरण उपलब्ध होते हैं ।

आचारांग एवं सूत्रकृतांग की तुलना में स्थानांगसूत्र में कर्मसिद्धान्त के विविध पक्षों पर विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है । इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में यह स्पष्ट किया गया है कि कर्मों के फलों का भोग वर्तमान जन्म और भावी जन्म में किया जा सकता है । इसमें देवताओं एवं मनुष्यों आदि के कर्म फलोपभोग की कालावधि का निर्धारण करते हुए कहा गया है कि “पाप-कर्मों का बन्ध करने वाले कितने देवता उसी भव में उसका फलोपभोग करते हैं तथा कितने अन्य भव में । ऐसे ही नारकी जीव जो पाप कर्म बाँधते हैं, कितने उसके फल उसी भव में भोगते हैं तथा कितने अन्य भव में भोगते हैं । ऐसे ही कितने ही मनुष्य अपने कृत कर्म का फल यहाँ पर भी भोगते हैं और अन्यत्र भी ।”^१ इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस जीवन या अगले जीवन में कर्मों का फल अवश्य ही मिलता है । इसमें प्रदेशकर्म और अनुभागकर्म—इस तरह दो प्रकार के कर्मों का उल्लेख है ।^२ इसके अनन्तर कर्म की

१. णं देवाणं सया समियं जे पावं कम्मे कज्जइ, तत्थेगया वि एगइया वेयणं वेदेंति, अणत्थगया वि एगइया वेयणं वेदेंति । नेरइयाणं सया समियं जे पावे कम्मे कज्जइ तत्थगया वि एगइया वेयणं वेदेंति अन्नत्थगया वि एगइया वेयणं वेदेंति-जाव-पंचेदिय तिरिक्खजोणियाणं. मणुस्सा णं सया समियं जे पावे कम्मे कज्जइ इहगया वि एगइया वेयणं वेदेंति अणत्थगया वि एगइया वेयणं वेदेंति, मणुस्सवज्जा सेसा एक्कगमा ॥

स्थानांगसूत्र, सं० कन्हैयालाल कमल, २।२।७७

२. दुविहे कम्मे पण्णत्ते तं जहा—पएसकम्मे चैव अणुभावकम्मे चैव ।

वही, २।३।८५, पृ० ३५

आठ मूल प्रकृतियों की चर्चा है। “ज्ञानावरणीयकर्म दो प्रकार का बताया गया है—यथा (१) देशज्ञानावरणीय और (२) सर्वज्ञानावरणीय। दर्शनावरणीयकर्म भी इसी तरह दो प्रकार का है। साता और असाता के भेद से वेदनीयकर्म भी दो प्रकार का बताया गया है। इसी प्रकार मोहनीय कर्म के (१) दर्शन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय, आयुष्य कर्म के (१) अद्धायु (कायस्थिति) और भवायु (भवस्थिति), नामकर्म के (१) शुभ और (२) अशुभ नाम, गोत्रकर्म के (१) उच्च और (२) नीचगोत्र एवं अन्तरायकर्म के (१) प्रत्युत्पन्न विनाशी (वर्तमान में होने वाले लाभ को नष्ट करने वाला) और (२) पिहितागामीपथ (भविष्य में होने वाले लाभ को रोकने वाला) के भेद से दो-दो प्रकार बताये गये हैं।^१ अतः आचारांग एवं सूत्रकृतांग की तुलना में तो स्थानांग सूत्र में कर्मसिद्धान्त का विकसित रूप परिलक्षित होता है फिर भी इसमें कर्म की उत्तर प्रकृतियों का अति संक्षिप्त रूप ही दृष्टिगत होता है; क्योंकि इसमें कर्म-प्रकारों में प्रत्येक कर्म में दो-दो उपप्रकार ही देखने को मिलते हैं।^२

कर्मबन्धन के सन्दर्भ में इस ग्रन्थ से जो सामग्री प्रकाश में आती है, उससे यह स्पष्ट होता है कि किन-किन कारणों से मनुष्य अल्प-आयुष्यकर्म, दीर्घ-आयुष्यकर्म, तथा अशुभदीर्घ-आयुष्यकर्म एवं शुभदीर्घ-आयुष्यकर्म का बन्ध करता है। इसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि “तीन कारणों से जीव अल्प-आयुष्यकर्म का बन्ध करता है—(१) जीव का घात करने से, (२) मृषा बोलने से (३) शुद्ध आचारवान महात्माओं को अशुद्ध अकल्प-

१. नाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पणत्ते तं जहा दंसणाणावरणिज्जे चैव, सव्व-णाणावरणिज्जे चैव, दरिसणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पणत्ते, तं जहादेस-दंसणावरणिज्जे चैव सव्व-दंसणावरणिज्जे चैव, वेयणिज्जे कम्मे दुविहे पणत्ते तं जहा—सायावेयणिज्जे चैव, असायावेयणिज्जे चैव। मोहणिज्जे कम्मे दुविहे पणत्ते तं जहा दंसणमोहणिज्जे चैव, चरित्तमोहणिज्जे चैव। आउए कम्मे दुविहे पणत्ते तं जहा अद्धाउए चैव भवाउए चैव। नामे कम्मे दुविहे पणत्ते तं जहा सुभणामे चैव, असुभणामे चैव। गोत्ते कम्मे दुविहे पणत्ते तं जहा उच्चागोए चैव, णीयागोए चैव। अंतराइए कम्मे दुविहे पणत्ते तं जहा पडुप्पणविणासिए चैव, पिहियागामिपहं चैव ॥

स्थानांगसूत्र, २।४।१०५

नाय आहार देने से ।^१ इसके विपरीत अहिंसक, सत्यभाषी एवं शुद्ध आहार देने वाले जीव दीर्घ आयुष्यकर्म का बन्ध करते हैं ।^२ इसके बाद उन कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है, जिनके कारण जीव दुःख में परिपूर्ण दीर्घ आयुष्यकर्म का बन्ध करता है एवं शुभ दीर्घ आयु रूप कर्म का बन्ध करता है ।^३ ये विवरण कर्मसिद्धान्त के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनसे प्रतिध्वनित होता है कि कर्मानुसार ही दीर्घकाल तक व्यक्ति को सुख या दुःख की प्राप्ति होती है । इसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि शुभ कर्म करने के बाद भी दुःख रूप फल मिलने से यह नहीं कहा जा सकता कि कर्मों का फल मिलता ही नहीं । इसमें स्पष्ट उल्लेख है कि— “इस लोक में किये हुए अच्छे कर्मों के सुखदायी फल इस लोक में मिल भी सकते हैं किन्तु यदि इस लोक में शुभ कर्मों के सुखदायी फल नहीं मिलते हैं तो दूसरे लोक में अवश्य मिलते हैं ।”

स्थानांगसूत्र में बन्धन के चार प्रकारों—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध एवं प्रदेशबन्ध की भी चर्चा है ।^४ प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग आदि बन्ध प्रकारों की चर्चा के साथ ही उसमें कर्म की अवस्थाओं

१. तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताए कम्मं पगरेंति तं जहा पाणे अइवाइत्ता भवइ, मुसं वइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा, माहणं वा अफासुएणं अणेसणि-ज्जेणं असण-पाण खाइम साइमेणं पड़िलाभित्ता भवइ । इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताए कम्मं पगरेंति । स्थानांगसूत्र, ३।१।१२५

२. वही, ३।१।१२५

३. तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभ—दीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति तं जहा—पाणे अइवाइत्ता भवइ मुसं वइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा माहणं वा हीलेत्ता, निदिता, खिसित्ता, गरहित्ता, अवमाणित्ता, अन्नयरेणं, तिहिं अमणुण्णेणं अपीइकारएणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पड़िलाभित्ता भवइ । इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभदीहाउ अत्ताए कम्मं पगरेंति तं जहा—नो पाणे अइवाइत्ता भवइ, नो मुसं वइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा, माहणं वा वंदित्ता, नमसित्ता, सक्कारित्ता, सम्माणित्ता, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं पज्जवासेत्तां, मणुण्णेणं पीइकारएणं असण-पाण-खाइम—साइमेणं पड़िलाभित्ता भवइ, इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभ—दीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति ।

वही, ३।१।१२५

४. वही, ४।२।२८२, पृ० १६९

५. वही, ४।२।२९६

जैसे बन्ध, उदय, उदीरणा, उपशमन, निधत्ति आदि की सूचना मिलती है।^१ इसमें प्रत्येक अवस्था को प्रकृति, अनुभाग एवं प्रदेश के भेद से चार-चार प्रकार का बताया गया है।^२ इस प्रकार स्थानांगसूत्र में कर्म के अधिकांश तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार स्थानांग में आचारांग और सूत्रकृतांग की अपेक्षा जैन कर्म-सिद्धान्त का विकसित रूप परिलक्षित होता है।

समवायांगसूत्र में दो प्रकार के बन्धनों का विवरण है—(१) राग बन्धन, (२) द्वेषबन्धन।^३ इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि राग एवं द्वेष दोनों से कर्मों का बन्धन होता है। इससे यह फलित होता है कि राग एवं द्वेष रूप कषाय, जिनमें क्रोध, मान, माया एवं लोभ निहित हैं, से ही कर्मों का बन्ध होता है।

कर्म प्रकारों के विवेचन की दृष्टि से समवायांगसूत्र में दर्शनावरणोपय कर्म की नौ उत्तरप्रकृतियों का उल्लेख मिलता है—जैसे—निद्रा, प्रचला, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण।^४ यद्यपि इस ग्रन्थ में दर्शनावरणोपय कर्म की उत्तरप्रकृतियों के सम्बन्ध में कोई विस्तृत विवेचन नहीं है, केवल इनका नामोल्लेख ही है, फिर भी कर्मसिद्धान्त के विकास की दृष्टि से उक्त विवरण महत्वपूर्ण है; क्योंकि इसमें दर्शनावरणोपयकर्म की सभी उत्तरप्रकृतियाँ सम्मिलित हैं, जबकि इसके पूर्ववर्ती ग्रन्थ स्थानांगसूत्र में दर्शनावरणोपयकर्म के केवलदर्शनावरणोपय और सर्वदर्शनावरणोपय मात्र दो ही भेद दृष्टिगत होते हैं।^५ इसी प्रकार चारित्रमोहनीय के दो भेदों में (कषायमोहनीय एवं नोकषायमोहनीय) कषायमोहनीय के १६ उपभेदों की चर्चा मिलती है,^६ यद्यपि यहां इनका उल्लेख कषायों के उपप्रकारों के

१. स्थानांगसूत्र, ४।२।२९६ (२-१०)

२. वही, ४।२।२९६ (२-१०)

३. दुविहे बंधणे पन्तत्ते । तं जहा राग बंधणे चैव दोस बंधणे चैव ।

समवायांगसूत्र, २।२

४. वही, ९/५८

५. दरिसणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते तं जहा देस-दंसणावरणिज्जे चैव सम्ब-दंसणावरणिज्जे चैव ।

स्थानांगसूत्र, २/४/१०५

६. समवायांग, १६/१११

विवेचन की दृष्टि से किया गया है, फिर भी इनसे कषायमोहनीयकर्म के उपप्रकारों की भी सूचना मिलती है। इसमें नामकर्म की ४२ उत्तर-प्रकृतियों का भी उल्लेख है।^१ समवायांगसूत्र में ज्ञानावरणीय, वेदनीय, आयु, नाम और अन्तराय इन पाँच कर्मों की क्रमशः ५, २, ४, ४२ और ५ इस प्रकार ५८ उत्तरप्रकृतियों की चर्चा है।^२

इस ग्रन्थ में १४ गुणस्थानों का जीवस्थानों के रूप में उल्लेख मिलता है।^३ गुणस्थानों का कर्मसिद्धान्त से निकट सम्बन्ध है। इनसे व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की सूचना मिलती है। इसमें उल्लिखित १४ गुण-स्थान इस प्रकार हैं—

१. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ।
२. सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान ।
३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ।
४. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान ।
५. विरताविरत गुणस्थान ।
६. प्रमत्तसंयत् गुणस्थान ।
७. अप्रमत्तसंयत् गुणस्थान ।
८. निवृत्तिवादर उपशामक गुणस्थान ।
९. अनिवृत्तिवादर उपशामक गुणस्थान ।
१०. सूक्ष्मसाम्पराय उपशामक गुणस्थान ।
११. उपशान्त मोह गुणस्थान ।
१२. क्षीणमोह गुणस्थान ।
१३. सयोगिकेवली गुणस्थान ।
१४. अयोगिकेवली गुणस्थान ।

ज्ञातव्य है कि समवायांग में इन्हें जीवस्थान (जीवठाण) कहा गया है, गुणस्थान नहीं।

इनके सन्दर्भ में हम विस्तृत विवेचन एक अलग अध्याय में करेंगे। यहाँ हमारा अभिप्राय इनके विषय विवेचन से नहीं है, बल्कि यह देखने से है कि कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित कौन तत्त्व कहाँ व किस रूप में किस आगम में मिलते हैं ?

-
१. समवायांग, ४२/२५१
 २. वही, ५८/३०४
 ३. वही, १४/९५

समवायांगसूत्र में भी स्थानांग के समान प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश—इन चार प्रकार के बन्धों का उल्लेख मिलता है।^१

इसमें कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित जो नवीन सूचना मिलती है, वह यह है कि इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि कौन जीव कर्मों की किन उत्तर-प्रकृतियों का बन्ध करते हैं ? इसमें स्पष्ट कहा गया है कि मिथ्या-दृष्टि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीव नामकर्म को २५ उत्तर-प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।^२ इस प्रकार समवायांगसूत्र के कर्मविषयक सन्दर्भों को देखकर उसमें कर्मसिद्धान्त के विकसित स्वरूप का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है—

१. बन्धन के कारण की दृष्टि से इसमें राग एवं द्वेष दोनों को ही बन्धन का कारण कहा गया है।
२. इसमें कर्म की लगभग अधिकांश उत्तरप्रकृतियों का नामोल्लेख है।
३. जीव के आध्यात्मिक विकास के सूचक १४ गुणस्थानों की भी इसमें जीवस्थान के रूप में चर्चा है।
४. प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश, ऐसे बन्ध के चार प्रकारों की भी चर्चा इसमें उपलब्ध है।
५. इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि कौन जीव किस प्रकार के कर्म करने से कर्मों की किन उत्तरप्रकृतियों का बन्ध करते हैं। इस प्रकार पूर्ववर्ती अंग साहित्य की तुलना में समवायांगसूत्र में कर्म-विषयक विचार विकसित रूप में उपलब्ध हैं।

कर्मसिद्धान्त के विकास की दृष्टि से भगवतीसूत्र भी एक महत्वपूर्ण आगम ग्रन्थ है। इसमें कर्मविषयक सन्दर्भों का सुविस्तृत विवेचन है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कर्मविषयक कुछ ऐसे तथ्य प्राप्त होते हैं जिनसे कर्म की विभिन्न अवस्थाओं की सूचना मिलती है।^३ इस प्रकार भगवती-सूत्र के प्रारम्भ में कर्म की अवस्थाओं का उल्लेख मिलना कर्मसिद्धान्त के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। भगवतीसूत्र में यह स्पष्ट किया गया है किस प्रकार के कर्मों की बन्ध, उदय, वेदन, अपवर्तन, संक्रमण,

१. चउव्विहे बंधे पन्नत्त तं जहा—पगइबंधे, ठिईबन्धे, अणुभाव बंधे, पएस बन्धे। समवायांगसूत्र ४/२०; तुलनीय स्थानांगसूत्र, ४/२/२९०

२. समवायांगसूत्र, २५/१६९

३. भगवतीसूत्र, १/१/१०

निधत्ति, निकाचना आदि सम्भव है। इन तथ्यों की सूचना हमें भगवती-सूत्र एवं स्थानांग^१ में मिलती है। गौतम भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं कि हे भगवन् ! नारकी जीव तैजस कर्मण रूप में क्या अतीत काल में ग्रहण किये हुए पुद्गलों की उदीरणा करते हैं या वर्तमान समय में ग्रहण किये जाते हुए पुद्गलों की उदीरणा करते हैं या आगे ग्रहण किये जाने वाले भविष्यकालीन पुद्गलों की उदीरणा करते हैं ? गौतम के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महावीर स्पष्ट कहते हैं—“जीव अतीत काल में ग्रहण किये हुए पुद्गलों की उदीरणा करते हैं, वर्तमान तथा भविष्यकाल में ग्रहण होने वाले पुद्गलों की उदीरणा नहीं करते।^२ इसी प्रकार अतीत काल में ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों का वेदन करते हैं, संक्रमण करते हैं, निधत्ति करते हैं और निकाचना करते हैं।^३”

इन उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि भूतकाल में किये हुए कर्मों की ही उदीरणा, वेदना, संक्रमण तथा निधत्ति एवं निकाचना सम्भव है। कर्म की अवस्थाओं से सम्बन्धित भगवतीसूत्र का उक्त विवरण अपने पूर्ववर्ती अंगसाहित्य के कर्मविषयक अवस्थाओं की चर्चा की दृष्टि से सर्वथा नवीन है, क्योंकि उक्त ग्रन्थों में ऐसी चर्चा का अभाव है।

भगवतीसूत्र में मोहनीय कर्म तथा उसके बन्धन, उदय एवं उदीरणा आदि से सम्बन्धित जिन तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है, वे भी आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग आदि पूर्ववर्ती साहित्य के कर्मविषयक सन्दर्भों की तुलना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण लगते हैं। मोहनीयकर्म के उदय में कषाय एवं प्रमाद को निमित्त कारण मानकर उनकी निष्पत्ति के कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। इसमें गौतम महावीर से प्रश्न करते हैं कि क्या मोहनीयकर्म का बन्धन होता है ? और उत्तर में महावीर कहते हैं कि हाँ, मोहनीयकर्म का बन्धन होता है।^४ इसी प्रकार जब गौतम पुनः यह प्रश्न करते हैं कि हे भगवन् ! मोहनीय कर्म का बन्धन कैसे होता है ? तो पुनः उत्तर में भगवान् महावीर कहते हैं कि प्रमाद के कारण एवं योग के निमित्त से जीव मोहनीय कर्म बाँधते हैं।^५ इसी कर्म में बन्धनपरक मोह-

१. भगवतीसूत्र १/१/१०; स्थानांग सूत्र, ४/२/२९६ (२-१०)

२. भगवतीसूत्र, १/१/१.

३. वही, १/१/१४.

४. वही, १/३/१२६.

५. वही, १/३/१२७.

नीयकर्म के कषाय एवं योग रूप कारणों की उत्पत्ति विषयक चर्चा में गौतम के प्रश्नों का उत्तर देते हुए महावीर स्पष्ट कहते हैं—“प्रमाद योग से उत्पन्न होता है।^१ योग वीर्य से उत्पन्न होता है,^२ वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है,^३ शरीर जीव से उत्पन्न होता है,^४ तथा जीव उत्थान, कर्म, बल और पराक्रम से यह सब करता है।^५” इन उल्लेखों से बन्धन के मूलभूत कारणों पर तो प्रकाश पड़ता ही है, साथ ही इनका वास्तविक स्वरूप भी स्पष्ट होता है। इनसे यह फलित होता है कि मोहनोपकर्म के बन्धन में जीव के मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक अधःपसाय में उत्पन्न होने वाले राग एवं द्वेष तथा तज्जनित प्रमाद अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका रखते हैं। पहले जीव के मन, वचन एवं योग रूप व्यापार से कर्मपुद्गलों का आत्मा से सान्निध्य होता है एवं तदनन्तर जीव की राग एवं द्वेष मूलक कषायिक प्रवृत्तियों से आत्मा से कर्मों का बन्धन दृढ़ होता है। यहाँ यह महत्त्वपूर्ण है कि कर्म सम्बन्धी इतना विशद वर्णन पूर्व के अंग साहित्य में नहीं प्राप्त होता है।

भगवतीसूत्र में कर्मों की आठ मूल प्रकृतियों का उल्लेख मिलता है,^६ साथ ही इसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि जीव किस प्रकार कर्मों का बन्ध करता है? कितने स्थानों से कर्मप्रकृतियों को बाँधता है? किस प्रकृति का कितने प्रकार का अनुभाग है? भगवतीसूत्र के कर्मविषयक तत्त्वों में दूसरी नवीनता यह देखने को मिलती है कि इसमें कर्म के जिस प्रसंग को लिया गया है, उसका बड़ा ही स्पष्ट एवं सुविस्तृत विवेचन है। उदाहरणस्वरूप इसमें आयुष्यकर्म से सम्बन्धित जितने भी विवरण मिलते हैं, वे अपने में परिपूर्ण जान पड़ते हैं। इसमें स्पष्ट शब्दों में इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि कौन जीव किस प्रकार की आयु बाँधकर किस योनि में उत्पन्न होते हैं? जब गौतम प्रश्न करते हैं कि “हे भगवन्! क्या एकान्त मिथ्यादृष्टि मनुष्य नरक की आयु बाँधता है? या तिर्यञ्च की आयु बाँधता है? या देव की आयु बाँधता है? क्या नरक की आयु बाँध-

१. भगवतीसूत्र, १/३/१२८.
२. वही, १/३/१२९.
३. वही, १/३/१३०.
४. वही, १/३/१३१.
५. वही, १/३/१३२.
६. वही, १/४/१४६-१५३.

कर नारकियों में उत्पन्न होता है ? तिर्यंचों की आयु बाँधकर तिर्यञ्च में, मनुष्य की आयु बाँधकर मनुष्य में या देवों की आयु बाँधकर देवलोक में उत्पन्न होता है ? गौतम की इन शंकाओं का समाधान करते हुए महावीर स्पष्ट कहते हैं कि “एकान्त मिथ्यादृष्टि से नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य एवं देव चारों की आयु बाँधता है। वह जिस आयु को बाँधता है, उसी के अनुसार उन लोकों में उत्पन्न भी होता है”।^१ इसके विपरीत जिनकी दृष्टि सम्यक् है अथवा जो एकान्त पण्डित हैं, उनके आयुष्य कर्म के सम्बन्ध में महावीर गौतम से कहते हैं कि “ऐसे व्यक्ति कदाचित् आयु बाँधते हैं तथा कदाचित् आयु नहीं बाँधते हैं। यदि आयु बाँधते हैं तो देवायु बाँधते हैं। वे नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु नहीं बाँधने से इन लोकों में उत्पन्न भी नहीं होते वरन् देवायु बाँधने से देवलोक में उत्पन्न होते हैं”।^२ इस ग्रन्थ में इस तथ्य पर भी प्रकाश डाला गया है कि किन कारणों से सम्यग्दृष्टि मात्र देवायु बाँधकर देवलोक में उत्पन्न होता है, नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु का वह बन्ध नहीं करता।^३ भगवतीसूत्र के आयुष्यकर्म के बन्धन सम्बन्धी प्रकरणों में इस बात का भी संकेत किया गया है कि जीव अपने कर्मों के अनुसार आयु बाँधकर ही तदनुकूल गतियों में पदार्पण करता है। इससे यह सूचित होता है कि विभिन्न योनियों में गमन करने के पूर्व ही उन योनियों में रहने को काल मर्यादा निश्चित हो जाती है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आयुष्यकर्म का इतना सांगो-पांग विवरण इसके पूर्व के आगम साहित्य में कहीं नहीं मिलता है। इस प्रकार भगवतीसूत्र में प्राप्त होने वाले आयुष्यकर्म के विस्तृत विवेचन, जैन कर्मसिद्धान्त के विकास को अभिव्यंजित करते हैं।

कर्मों की मूल प्रकृतियों को लेकर इसमें प्रत्येक कर्म के बन्ध-स्थिति का एक निश्चित कालक्रम निर्धारित किया गया है—यथा ज्ञानावरणीय-कर्म की बन्ध-स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ी कोड़ी सागरोपम बतायी गयी है। इस प्रकार शेष अन्य कर्मों की बन्ध स्थिति पर भी प्रकाश डाला गया है।^४ इसी प्रकार इसमें यह भी स्पष्ट

१. भगवतीसूत्र, १/८/१५९.

२. वही, १/८/२६०.

३. वही, १/८/२६१-२६३.

४. वही, ६/३/१५.

३० : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

किया गया है कि आठ प्रकार के कर्मों में कौन जीव किस प्रकार के कर्म का बन्ध करते हैं ?^१ कर्म प्रकारों के विवरण में एक नवीनता यह भी प्रकाश में आती है कि इसमें कर्मों के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी प्रकाश डाला गया है अर्थात् यह संकेत किया गया है कि किस जीव में किस-किस प्रकार के कर्म एक साथ सम्भव हैं। जब गौतम पूछते हैं कि हे भगवन् ! क्या जिस जीव में ज्ञानावरणीय कर्म है उसमें दर्शनावरणीय कर्म भी है और जिसमें दर्शनावरणीय कर्म है उसमें ज्ञानावरणीय कर्म है ? महावीर स्पष्ट कहते हैं कि “जिसमें ज्ञानावरणीय कर्म है उसमें दर्शनावरणीय कर्म है तथा जिसमें दर्शनावरणीय कर्म है उसमें ज्ञानावरणीय कर्म है।”^२ इसी प्रकार अन्य शेष कर्मों के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी प्रकाश डाला गया है।^३

इन उल्लेखों से कर्म की मूल प्रवृत्तियों पर तो प्रकाश पड़ता ही है, साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि किस प्रकार के कर्म के साथ किस प्रकार के कर्मों का सम्बन्ध हो सकता है। कर्म की उत्तरप्रकृतियों को छोड़कर शायद ही कोई ऐसा कर्मविषयक तत्त्व होगा, जिसका इस आगम में उल्लेख न हुआ हो। इसमें कर्म विषयक तत्त्वों का मात्र नामोल्लेख ही नहीं है, अपितु उनके सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन भी उपलब्ध होता है जो पूर्ववर्ती अंग साहित्य के कर्मविषयक विवरणों से पूर्णतया नवीन है। इस प्रकार पूर्व अंगों की तुलना में भगवतीसूत्र में कर्मों के स्पष्ट एवं सुविस्तृत विवेचन हैं।

अंग साहित्य के ग्रन्थ ‘प्रश्नव्याकरणसूत्र’ में आस्रव और संवर के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। कर्मसिद्धान्त के विकास की दृष्टि से प्रश्नव्याकरणसूत्र के आस्रव तथा संवर सम्बन्धी उल्लेख महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि आस्रव कर्मों के बन्धन के कारण को स्पष्ट करता है तथा संवर उन बन्धनों से मुक्ति के उपाय को। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि हिंसा, असत्य, चौर्यकर्म, अब्रह्मचर्य और परिग्रह के फलस्वरूप जीव नानाप्रकार के अशुभ कर्मों का बन्ध करता है, और उनके

१. भगवतीसूत्र, ६/३/१६-३२.

२. वही, ८/१०/३०.

३. वही, ८/१०/३२-४४.

कारण वह बार-बार विविध गतियों एवं योनियों में परिभ्रमण करते हुए दुःख प्राप्त करता है।^१

इस ग्रन्थ में पाँचों आस्रवों का विस्तृत विवेचन अलग-अलग अध्यायों में किया गया है। इन पाँच आस्रवों के विपरीत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अरिग्रह को संवर द्वारा कहा गया है।^२ इनकी साधना से व्यक्ति नवोन कर्मबन्ध से बचकर पूर्वबद्ध कर्मों के क्षीण होने से मुक्ति को प्राप्त करता है।

यहाँ आस्रव कर्मपुद्गलों के साथ आत्मा के सम्पर्क को सूचित करता है तथा संवर आत्म क्षेत्र में कर्मपुद्गलों के निरोध को। आस्रव बन्धन का हेतु है और संवर मोक्ष का। आस्रव एवं संवर की चर्चा अन्य आगमों में भी है, किन्तु जितना क्रमबद्ध-व्यवस्थित विवरण इनके सन्दर्भ में प्रश्न-व्याकरण सूत्र में है उतना अन्यत्र दुर्लभ है।

कर्मसिद्धान्त के विवेचन की दृष्टि से जब हम विपाकसूत्र में कर्म-सम्बन्धी तत्त्वों की खोज करते हैं तो मुख्य रूप से इसमें शुभ एवं अशुभ कर्मों के विपाक से सम्बन्धित विवरण ही दृष्टिगत होते हैं। विपाक से अभिप्राय समय के परिपक्व होने पर कर्मानुसार शुभाशुभ प्रतिफल मिलने से है।

यह ग्रन्थ दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में दस अध्याय हैं, जिनमें दुःख-विपाक अर्थात् कर्मों के दुःख रूप कर्मफल का प्रतिपादन है। इसी प्रकार द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भी दस अध्याय हैं और उनमें सुख-विपाक अर्थात् सुख रूप कर्मफलों का विवरण है। इस ग्रन्थ में विभिन्न दृष्टान्तों के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि किसी भी रूप में व्यक्ति कर्मफल से वंचित नहीं हो सकता, जो जैसा कर्म करता है, तदनुकूल फल उसे किसी-न-किसी रूप में अवश्यमेव भोगना पड़ता है। विपाकसूत्र में मात्र कर्मों के विपाक का ही विस्तृत विवेचन है। इस ग्रन्थ

१. एएहि पंचहि आसवेहि रयमादिणित्तु अणुसमयं ।

चउव्विहगइ-पेरंतं, अणुपरियट्ठंति संसारं ॥

प्रश्नव्याकरणसूत्र, आश्रवद्वार, पंचम अध्यायन, उपसंहार गाथा ।

२. पढमं होइ अहिंसा, बितियं सच्चवयणति पन्नत्तं ।

दत्तमणुन्नायं संवरो य बंभचेरमपरिगहत्तं च ॥

में कर्मविपाक से सम्बन्धित जो विवरण मिलते हैं उससे कर्मसिद्धान्त की कोई नवीन अवधारणा प्रतिफलित नहीं होती है। ग्रन्थ का सार यही है कि कर्मों का शुभ या अशुभ फल क्रमशः शुभ या अशुभ रूप में अवश्य मिलता है।

अन्य अंग आगमों यथा उपासकदशाङ्ग, अन्तकृतदशाङ्ग तथा अनुत्तरोपपातिकसूत्र में कर्मविषयक कोई ऐसी चर्चा नहीं है जो कर्मसिद्धान्त के विकास को सूचित करे। इसमें मात्र शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फलों की चर्चा है, साथ ही तप, सकाम, साधना का निदान (फल) उसी रूप में मिलता है—यह उल्लेख है।

कर्मसिद्धान्त के क्रमिक विकास को समझने हेतु जब हम उपांग साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो प्रज्ञापना और किसी सीमा तक जीवाभिगम को छोड़कर शेष उपांगों में कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित सामग्री का अभाव ही परिलक्षित होता है।

जीवाभिगमसूत्र मुख्यतः विभिन्न जीव योनियों और लोक के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत करता है। इसप्रकार इसमें स्वतन्त्र रूप से तो कर्मसिद्धान्त का विवेचन उपलब्ध नहीं होता, किन्तु जीव की विभिन्न योनियों की चर्चा के प्रसंग में यत्र-तत्र कर्म की स्थिति आदि का विवेचन प्राप्त होता है। जीव का विविध योनियों में जन्म, नाम, गोत्र और आयु कर्म से सम्बन्धित हैं। अतः इस आगम में नामकर्म और आयुष्य कर्म सम्बन्धी कुछ विवरण यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाते हैं। उपांग आगम साहित्य में कर्मसिद्धान्त की विस्तृत चर्चा तो मात्र प्रज्ञापनासूत्र में मिलती है।

जहाँ तक प्रज्ञापना में कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी उल्लेखों का प्रश्न है, इसमें कर्मसिद्धान्त का सुनियोजित, सुविस्तृत एवं सुस्पष्ट विवरण मिलता है। इसमें सर्वप्रथम कर्म की आठ मूलप्रकृतियों यथा—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म की चर्चा है।^१ तदनन्तर इस तथ्य पर प्रकाश डाला गया है कि “जीव किस प्रकार कर्म की आठ प्रकृतियों का बन्ध करता है? इसमें विस्तार से बताया गया है कि “ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से दर्शनावरणीय कर्म का उदय होता है, दर्शनावरणीय कर्म के उदय से दर्शन मोहनीय कर्म होता है, दर्शन मोहनीयकर्म के उदय से मिथ्यात्व, मिथ्यात्व के उदय होने पर जीव आठों कर्मों को बाँधता है, इस प्रकार नारकी से

लेकर वैमानिक पर्यन्त चौबीस ही दण्डक के जीव कर्म बन्ध करते हैं।^१ इन वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि जीव ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य का पालन न करने की स्थिति में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं मोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

प्रज्ञापनासूत्र में कर्मबन्ध के प्रमुख कारकों की दृष्टि से राग एवं द्वेष दोनों के दो-दो उपविभाग किये गये हैं। माया एवं लोभ राग के उप-भेद हैं तथा क्रोध और मान द्वेष के उपभेद हैं।^२ इन चार कारणों से जीव ज्ञानावरणीयकर्म से लेकर अन्तरायकर्म तक आठों कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है।^३ प्रज्ञापनासूत्र के कर्मबन्धन एवं बन्धन कारकों के प्रमुख भेदोपभेद कर्मसिद्धान्त के विकास को तो इंगित करते ही हैं, साथ ही उन तथ्यों पर भी प्रकाश डालते हैं जिनके कारण जीव कर्मपाश में फँसता है। वास्तव में देखा जाय तो जीव के राग एवं द्वेष रूप आन्तरिक भावों को छोड़कर कर्मबन्धन का कोई अन्य कारण युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता है। प्रज्ञापनासूत्र में राग-द्वेष रूप बन्धनकारकों के उपभेदों (माया, लोभ, क्रोध और मान) की चर्चा इस बात को सूचित करती है कि इसमें कर्मबन्धन के कारणों से सम्बन्धित बृहत् सामग्री सन्निहित है।

इसके अतिरिक्त प्रज्ञापनासूत्र में यह भी स्पष्ट किया गया है कि कौन जीव किन कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं तथा कौन जीव उनका वेदन नहीं करते? इस सम्बन्ध में कहा गया है—“जो बारहवें गुणस्थान के नीचे के गुणस्थानों के जीव हैं, वे ज्ञानावरणीयकर्म वेदते हैं किन्तु बारहवें गुणस्थान वाले नहीं वेदते पर नैरयिक जीव निश्चय रूप से ज्ञानावरणीय कर्म को वेदते हैं”।^४ इसी प्रकार जीव दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म का भी वेदन करते हैं। मुख्य अन्तर यह है कि वेदनीय, आयुष्य, नाम और अन्तराय कर्म का सब मनुष्य निश्चित रूप से भोग करते हैं।^५

१. पन्नवणासूत्र, २३/४

२. दोहि ठाणेहि तं जहां-रागेण य दोसेण य रागे दुविहे पणत्ते, तं जहा-कोहे य माणे य।

वही, २३/६

३. वही, २३/७

४. वही, २३/१/८

५. वही, २३/१/९

प्रज्ञापनासूत्र के इन उल्लेखों से कर्म वेदन अर्थात् कर्मफलोपभोग पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। गुणस्थानों के संकेत से यह फलित होता है कि जीव, राग, द्वेष मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदि दोषों के अनुसार कर्मों का वेदन करते हैं। चूँकि बारहवें गुणस्थान को छोड़कर उसके पहले वाले गुणस्थानों में उक्त दोष अधिकाधिक मात्रा में होते हैं, इस कारण ऐसे गुणस्थानवर्ती जीव ज्ञानावरणीयकर्म का निश्चय रूप से वेदन करते हैं। बारहवें गुणस्थान वाले जीव ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन इसलिए नहीं करते, क्योंकि उनमें राग एवं द्वेष का भाव ही नहीं होता। इससे यह स्पष्ट होता है कि जिस जीव में जो गुण या दोष होगा तदनुकूल फल की प्राप्ति हेतु वह उन कर्मप्रकृतियों का वेदन करेगा।

प्रज्ञापनासूत्र में कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित एक नवीन सूचना यह मिलती है कि इसमें प्रत्येक कर्म का बन्ध करने वाले जीव के तद्निमित्तक परिणामों पर भी प्रकाश डाला गया है। दूसरे शब्दों में इसमें इस बात का विवेचन है कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय से लेकर अन्तरायपर्यन्त कर्म का बन्ध करने वाले जीव के किस-किस प्रकार के परिणाम होते हैं ? इसमें ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होने पर जीव के दश प्रकार के परिणाम बताये गये हैं—यथा—१. श्रोत्रावरण—कानों से शब्द नहीं सुनना, २. श्रोत्रविज्ञानावरण—शब्द न समझना, ३. नेत्रावरण—आँखों से रूप न देख पाना, ४. नेत्रविज्ञानावरण—रूप समझ न सकना, ५. गन्धावरण—गन्ध ग्रहण न कर सकना, ६. गन्धविज्ञानावरण—गन्ध न समझ सकना, ७. रसावरण—रस ग्रहण न कर सकना, ८. रसविज्ञानावरण—रस समझ न सकना, ९. स्पर्शावरण—स्पर्श ग्रहण न कर सकना, १०. स्पर्शविज्ञानावरण—स्पर्श के भेद शीतोष्ण आदि न समझ पाना।^१ इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध होने पर जीव के ९ प्रकार के परिणाम बताये गये हैं—यथा—१. निद्रा सुख से आती है तथा वह सुख से जागता भी है, २. निद्रा-निद्रा—निद्रा दुःख से आती है तथा वह दुःख से भी जागता है, ३. प्रचला—बैठे-बैठे निद्रा आती है, ४. प्रचला प्रचला—रास्ते चलते निद्रा आती है, ५. स्थानाद्धि—दिन का सोचा हुआ कार्य निद्रा में करता है, ६. चक्षु-दर्शनावरणीय—आँखों से वह अच्छी तरह देख नहीं पाता, ७. अचक्षु-दर्शनावरणीय—आँखों के अतिरिक्त अन्य चारों इन्द्रियों तथा मन से संवेदनों को सम्यक् प्रकार अनुभूति नहीं कर सकता, ८. अवधिदर्शना-

वरण—अवधिदर्शन की प्राप्ति में बाधक बनता है, ९. केवलदर्शनावरण—केवलदर्शन की प्राप्ति में बाधक बनता है।^१ प्रज्ञापनासूत्र में सातावेदनीय कर्म के उदय होने पर जीव के आठ प्रकार के परिणाम बताये गये हैं। यथा—वह मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ गन्ध, मनोज्ञ रस, मनोज्ञ स्पर्श, मन सुखकारी, वचन सुखकारी एवं काया सुखकारी की अनुभूति करता है, इसके ठीक विपरीत परिणाम असातावेदनीय कर्म के उदय पर होते हैं।^२ मोहनीय कर्म के उदय होने पर जीव में सम्यक्त्व वेदनीय, मिथ्या वेदनीय, सम्यग्मिथ्यात्व वेदनीय, कषाय वेदनीय और नोकषाय वेदनीय इस तरह ५ प्रकार के परिणाम होते हैं।^३

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मोहनीय कर्म के उदय होने पर जीव की दृष्टि कभी सम्यक् रहती है और कभी मिथ्या रहती है, कभी दृष्टि सम्यक् और मिथ्या दोनों ही रहती है। कभी उसमें राग एवं द्वेष रूप कषायों की बहुलता होती है, तो कभी उसमें कषायभाव रहता ही नहीं। फलस्वरूप अपनी दृष्टि के अनुसार वह कर्मों का वेदन करता है। आयुष्मकर्म के उदय होने पर जीव नारकी का आयुष्य, तिर्यंच का आयुष्य, मनुष्य का आयुष्य और देवता का आयुष्य प्राप्त करता है।^४ इसी तरह नाम^५, गोत्र^६ और अन्तरायकर्म^७ का बन्ध होने पर जीव के किस प्रकार के परिणाम होते हैं? इसका बड़ा ही सांगोपांग विवरण प्रज्ञापनासूत्र में मिलता है।

प्रज्ञापनासूत्र में कर्मों के उदय से होने वाले जीव के विविध परिणामों अर्थात् मनोदशाओं से सम्बन्धित ये विवरण कर्मसिद्धान्त के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। किसी कर्म के उदय होने पर जीव में होने वाले परिणाम कर्मों के स्वभाव पर तो प्रकाश डालते ही हैं, साथ ही कर्म करने वाले जीव के स्वभाव का भी मूल्यांकन करते हैं, अर्थात् वे

-
१. पन्नवणा सूत्र, २३/१/११
 २. वही, २३/१/१२
 ३. वही, २३/१/१३
 ४. वही, २३/१/१४
 ५. वही, २३/१/१५
 ६. वही, २३/१/१६
 ७. वही, २३/१/१७

इस बात को सूचित करते हैं कि किसी विशिष्ट कर्म का उदय होने पर किन भावनाओं से उत्प्रेरित होकर पुनः कर्म किया जायेगा, इससे यह भी ज्ञात होता है कि समय के परिपक्व होने पर कर्म के बन्ध के अनुसार फल की प्राप्ति होती है। सामान्यतया अंग आगमों में भी कर्मफल के संदर्भ में कतिपय विवरण दृष्टिगत होते हैं, फिर भी उनमें प्रज्ञापनासूत्र के समान कर्मविपाक की विस्तृत सैद्धान्तिक चर्चा नहीं है। उसमें मुख्य रूप से इस बात का संकेत किया गया है—“जो जैसा कर्म करता है तदनुकूल फल की प्राप्ति उसे उस जन्म या भावी जन्म में करना पड़ता है।”^१ परन्तु प्रज्ञापनासूत्र में कर्मों की आठ मूल प्रकृतियों एवं उनकी उत्तर प्रकृतियों को लेकर क्रमशः उनके विविध परिणामों की विस्तृत चर्चा है। इसके साथ ही इसमें कर्म को सभी उत्तरप्रकृतियों का पूर्ण विवरण मिलता है।^२ इस प्रकार हम देखें तो कर्म की मूल प्रकृतियों एवं उनकी उत्तर प्रकृतियों के विस्तृत विवेचन की दृष्टि से भी प्रज्ञापनासूत्र में वर्णित कर्मसिद्धान्त पर्याप्त विकसित है। अंग साहित्य के समवायांगसूत्र एवं भगवतीसूत्र में भी कर्म प्रकृतियों की चर्चा है परन्तु उनमें कर्म की मूल एवं उनकी उत्तरप्रकृतियों के विवरण उतने पूर्ण एवं विस्तृत नहीं है जितने प्रज्ञापनासूत्र में।

विस्तार के भय से यहाँ हम प्रज्ञापनासूत्र में उल्लिखित कर्म की उत्तरप्रकृतियों का अलग-अलग नामोल्लेख नहीं कर रहे हैं, क्योंकि यहाँ हमें मात्र यहाँ देखना है कि कर्मसिद्धान्त के विविध तत्त्व समय के अंतराल के अनुसार कहाँ किस रूप में मिलते हैं, क्या वे अपने पूर्व स्वरूप में मिलते हैं या विकसित रूप में मिलते हैं ?

कर्म की उत्तरप्रकृतियों के विस्तृत विवेचन के साथ ही साथ प्रज्ञापनासूत्र में प्रत्येक कर्म की कितनी स्थिति है^३ ? इस पर भी विस्तृत प्रकाश डाला गया है। कर्म की स्थिति से अभिप्राय कर्म के सत्ता में रहकर उदय में आने के समय के निर्धारण से है। कर्म की मूल प्रकृतियों एवं प्रायः उनकी सभी उत्तरप्रकृतियों की काल-स्थिति का विस्तृत विवेचन प्रज्ञापनासूत्र में प्राप्त होता है।

१. सूत्रकृतांगसूत्र, १/५/२/२३

२. पल्लवणा सूत्र, २३/२/२-१०

३. वही, २३/२/११-१८

इस प्रकार प्रज्ञापनासूत्र में उल्लिखित कर्म सम्बन्धी विवरण प्रायः कर्मसिद्धान्त के सभी पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित बहुत कम ही ऐसे तत्त्व होंगे जो प्रज्ञापनासूत्र में न हों।

वैसे उपांगों में मुख्य रूप से प्रज्ञापनासूत्र में ही कर्म का पर्याप्त विवरण मिलता है। शेष उपांगों यथा—‘चन्द्रप्रज्ञप्ति’, ‘सूर्यप्रज्ञप्ति’, ‘जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति’ आदि में कर्म की कोई विशिष्ट चर्चा नहीं है।

मूल सूत्र निम्न हैं—

१. उत्तराध्ययन, २. आवश्यक, ३. दशवैकालिक, ४. पिण्डनिर्युक्ति, ५. ओषनिर्युक्ति।

इनमें उत्तराध्ययनसूत्र को छोड़कर शेष में कर्मसिद्धान्त के विवरण का अभाव ही है। उत्तराध्ययन सूत्र में मुख्य रूप से कर्म की आठ मूल प्रकृतियों एवं उनकी अधिकांश उत्तरप्रकृतियों के नामोल्लेख मिलते हैं। परन्तु मोहनीय और नामकर्म की सभी उत्तरप्रकृतियों के उल्लेख इसमें नहीं है।

वस्तुतः एक प्राचीन स्तर का आगम ग्रन्थ होने से इसमें कर्मसिद्धान्त का उतना सुविकसित रूप उपलब्ध नहीं होता है, जितना प्रज्ञापनासूत्र में मिलता है।

श्वेताम्बर आगम साहित्य के शेष ग्रन्थों यथा—छेदसूत्र, चूलिकासूत्र एवं प्रकीर्णकों में भी कर्मसिद्धान्त का कोई विकसित स्वरूप परिलक्षित नहीं होता।

श्वेताम्बर परम्परा के आगम ग्रन्थों की इस चर्चा के पश्चात् अब हम उनके कर्म सम्बन्धी कुछ प्रमुख ग्रन्थों की चर्चा करेंगे। इस चर्चा में हमारा उपजीव्य मुख्य रूप में जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ४ रहा है। उसी को आधार बनाकर यह विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

(श्वेताम्बर कर्म सिद्धान्त साहित्य)

१. कर्म प्रकृति

इस ग्रन्थ का प्राकृत मूलनाम “कम्मपयडि” है। यह श्वेताम्बर परम्परा का कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी प्राचीनतम एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के कर्ता शिवशर्मसूरि हैं जिनका समय अनुमानतः विक्रम की

पाँचवी शताब्दी माना जाता है। शिवशर्मसूरि के सम्बन्ध में ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे आगमोद्धारक देवद्विगणिक्रमाश्रमण के पूर्ववर्ती अथवा समकालीन रहे होंगे और सम्भवतः दशपूर्वधर भी रहे होंगे। पर ऐसा कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता है जिसके आधार पर शिवशर्मसूरि विषयक इन सम्भावनाओं को सत्य माना जा सके। पर यह तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि प्रतिभासम्पन्न एवं बहुश्रुत विद्वानों में शिवशर्मसूरि भी अपना अन्यतम स्थान रखते थे। कर्म प्रकृति के अतिरिक्त शतक (प्राचीन पंचम कर्म ग्रन्थ) भी शिवशर्मसूरि की ही कृति मानी जाती है। एक मान्यता ऐसी भी है कि सप्ततिका (प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ) भी इन्हीं की कृति है।^१ इस ग्रन्थ में ४७५ गाथाएँ हैं। ग्रन्थकर्ता ने ग्रन्थ में आठों कर्म के आठ करणों एवं उदय और सत्ता इन दस विषयों के वर्णन करने का संकल्प किया है।^२ इसके पश्चात् आठ कर्म के आठ करणों का नामोल्लेख किया गया है जो इस प्रकार है—१. बन्धनकरण, २. संक्रमण-करण, ३. उद्वर्तनाकरण, ४. अपवर्तनाकरण, ५. उदीरणाकरण, ६. उपशमनाकरण, ७. निधत्तिकरण, ८. निकाचनाकरण।^३ इसप्रकार ये आठ करण और उदय एवं सत्ता को मिलाकर कुल दस विषयों का वर्णन करना ही ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है।

१. बन्धनकरण

इसमें १०२ गाथाएँ हैं जिनमें अग्रांकित विषयों का विवेचन है—आत्मा के साथ कर्मों का बन्धन होने की क्रिया को ही बन्धनकरण कहते हैं। यहाँ करण से अभिप्राय आत्मा के परिणाम विशेष या वीर्य विशेष से है। दूसरों शब्दों में यह कहा जा सकता है कि बन्धन, संक्रमण आदि विविध अवस्थाओं में आत्मा में जिस शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, वह करण है। इस प्रकरण में बन्ध के दो कारणों—योग और कषाय में योग का बहु-विस्तृत विवेचन किया गया है। योग-प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि योग से ही प्राणी काम, भाषा, स्वासोच्छ्वास तथा मनोरूप अर्थात् शरीरादि के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और कर्मानुसार उन

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४, पृ० ११५, प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।

२. कर्मप्रकृति, गाथा १

३. वही, गाथा २

पुद्गलों का परिणमन करके उनका विसर्जन करता है।^१ तदनन्तर जीव के ग्रहण करने योग्य एवं ग्रहण न होने योग्य वर्गणाओं का निरूपण किया गया है।^२ इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग आदि बन्धों का भी विस्तृत उल्लेख है।

२. संक्रमणकरण

इसमें १११ गाथाएँ हैं जिनमें कर्मप्रकृतियों के संक्रमणकरण का विवेचन है। जीव जब जिस कर्मप्रकृति के बंधने योग्य योग अथवा परिणाम में प्रवर्तित होता है तब कर्म वर्गणाएँ भी उस कर्मप्रकृति के रूप में परिणत होती हैं। इस प्रकार कर्मप्रकृतियों की अन्य प्रकृतियों में प्रवर्तित होने की इसी प्रक्रिया को संक्रमणकरण कहते हैं। इस कर्मप्रकृति के संक्रमणकरण में संक्रमणकरण क्या है ? यह कितने प्रकार का होता है ? किन कर्मप्रकृतियों का किन प्रकृतियों में संक्रमण हो सकता है तथा किन कर्मप्रकृतियों का संक्रमण किनमें नहीं हो सकता ? मुख्य रूप से इन्हीं प्रश्नों का समुचित समाधान प्रस्तुत किया गया है।

३. ४. उद्वर्तनाकरण और अपवर्तनाकरण

स्थिति अथवा रस वाले कर्मप्रदेशों की स्थिति अथवा रस या अनुभाग में वृद्धि-हानि करना उद्वर्तना-अपवर्तना है। इस प्रकरण में कर्म की उद्वर्तना और अपवर्तना के निरूपण के साथ ही इस बात का भी संकेत किया गया है कि ये दोनों क्रियाएँ कर्म की स्थिति और अनुभाग में ही सम्भव हो सकती हैं, प्रकृति और प्रदेश में नहीं। अर्थात् इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि कर्म की एक निश्चित कालावधि तथा फल देने की शक्ति को घटाया-बढ़ाया जा सकता है, पर कर्म की प्रकृति अथवा स्वभाव में किसी प्रकार का परिवर्तन या परिवर्द्धन सम्भव नहीं है। इन दोनों करणों में मात्र १० गाथाएँ हैं।

५. उदीरणाकरण

इसमें ८९ गाथाएँ हैं जिनमें कर्म की उदीरणा से सम्बन्धित तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। योग विशेष से कर्मपुद्गलों को उदय में लाना उदीरणा है, जैसे आम को पकने के निश्चित समय के पूर्व ही भूसे आदि में दबाकर पुरुषार्थ विशेष से जल्दी पका लिया जाता है। ठीक इसी

१. कर्मप्रकृति, गाथा १७

२. वही, गाथा १८, २०

प्रकार उदीरणाकरण में कर्म के फल का भोग निर्धारित समय के पूर्व ही कर लिया जाता है। उदीरणा के विविध दृष्टियों से दो, चार, आठ एवं एक सौ अट्ठावन भेद किये गये हैं पर उनमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश इन चार भेदों को ही प्रधानता दी गयी है।^१ इनमें इन चार उदीरणाओं का तो उल्लेख है ही, साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि कर्म की किन प्रकृतियों की उदीरणा कौन करता है? इस प्रकार उनमें उनके स्वामियों का भी कथन किया गया है।

६. उपशमनाकरण

इस करण में ७१ गाथाएँ हैं जिनमें मुख्य रूप से निम्नलिखित विषयों का प्रतिपादन है—

कर्मों की उपशान्ति ही उपशमना है। इसमें कर्म वर्गणाओं के उदय को शान्त किया जाता है किन्तु उनका समूलोच्छेद नहीं किया जाता। उपशमनाकरण में कर्म की सत्ता कायम रहती है, मात्र कर्म कुछ क्षण हेतु दबे रहते हैं, वे उदय में नहीं आते। इस प्रकरण में उपशमना का निरूपण आठ द्वारों में किया गया है जो अग्रांकित है—१. सम्यक्त्व की उत्पत्ति, २. देशविरति की प्राप्ति, ३. सर्वविरति की प्राप्ति, ४. अनन्ता-नुबन्धी कषाय की वियोजना या विनाश, ५. दर्शनमोहनीय की क्षपणा, ६. दर्शनमोहनीय की उपशमना, ७. चारित्र्य मोहनीय की उपशमना और ८. देशोपशमना।^२ उपशमनाकरण की २३, २४, २५ और २६ नम्बर की गाथाएँ कषायप्राभृत की क्रमशः १००, १०३, १०४ और १०५ से मिलती हैं।

७. ८. निधत्ति और निकाचनाकरण

इन दोनों करणों में मात्र २ गाथाएँ हैं। निधत्ति और निकाचनाकरण भेद और स्वामी की दृष्टि से देशोपशमना के ही समान हैं। परन्तु निधत्ति में संक्रमणकरण नहीं होता जबकि निकाचना में संक्रमण के साथ ही साथ उद्ववर्तना और अपवर्तना की भी प्रवृत्ति नहीं होती।^३ इनमें

१. कर्मप्रकृति, गाथा ८९

२. कर्मप्रकृति, गाथा १-८९

३. देसोवसमण तुल्या होइ निहत्ती निकाइया नवरं संकमणं पि निहत्तीइ नत्थि सेसाणवियरस्स ॥

मुख्य रूप से इन्हीं से सम्बन्धित तथ्यों पर विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।

९. उदयावस्था

एक निश्चित कालावधि के पश्चात् कर्म का विपाक होना उदयावस्था है। ज्ञानावरणादि ४१ प्रकृतियों की दृष्टि से उदय एवं उदीरणा में समानता होने पर भी कुछ भिन्नता है। उक्त ४१ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की चार, अन्तराय की पाँच, संज्वलन लोभ की एक, वेद की तीन, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की एक-एक, आयु की चार, वेदना की दो, निद्रा की पाँच और नामकर्म की दस। इस प्रकार इन ४१ प्रकृतियों का उदय तो स्वाभाविक रूप से होता है, परन्तु इनकी उदीरणा नहीं हो सकती। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश की दृष्टि से भी दोनों में कतिपय भिन्नता है।

१०. सत्तास्थान

कर्मों का निधि के रूप में स्थित रहना सत्ता है। सत्ता के विवक्षाभेद से दो, आठ और एक सौ अट्ठावन भेद बताये गये हैं। विशेषता यह है कि सत्ता में स्थित कर्मप्रकृतियों का विशद विवेचन गुणस्थानों की दृष्टि से किया गया है। कर्मप्रकृति के प्रतिपाद्य विषयों से यही फलित होता है कि यह ग्रन्थ मुख्य रूप से कर्म की अवस्थाओं का विवेचन करने वाला एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी निरूपण शैली कुछ कठिन अवश्य है फिर भी इस पर लिखी गयी कतिपय टीकाओं से विषय के स्पष्टीकरण में पर्याप्त सहायता मिलती है।

कर्मप्रकृति की व्याख्याएँ

कर्मप्रकृति पर एक प्राकृत चूर्णि और दो संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। चूर्णिकार का नाम अज्ञात है किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह चूर्णि चूर्णिकार जिनदासगणिमहत्तर की हो।^१ संस्कृत टीकाओं में एक सुप्रसिद्ध टीका मलयगिरि की है एवं दूसरी टीका न्यायाचार्य यशोविजय द्वारा विरचित है। इन तीनों व्याख्याओं में अज्ञातकर्तृक चूर्णि का सात हजार श्लोक प्रमाण है। मलयगिरि कृत वृत्ति का ग्रन्थमान आठ हजार श्लोक प्रमाण तथा यशोविजय विरचित टीका का ग्रन्थमान तेरह हजार श्लोक प्रमाण है।

१. कर्मप्रकृति, सत्त्व प्रकरणम्, गाथा १-३२

२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४, पृ० १२१

पंचसंग्रह

कर्मवाद विषयक ग्रन्थों में चन्द्रर्षिमहत्तर विरचित पंचसंग्रह भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम काल की रचना है। ग्रन्थ के पंचसंग्रह नाम पड़ने के मुख्य कारणों को सूचित करते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि चूँकि इसमें शतकादि पाँच ग्रन्थों का समावेश है इसलिए इसका नाम पंचसंग्रह है। वैसे मूल गाथा तथा उसकी स्वोपज्ञ-वृत्ति में इन चारों के आधारभूत शतक आदि पाँच ग्रन्थों का कोई स्पष्ट नामोल्लेख नहीं है किन्तु मलयगिरि द्वारा इस ग्रन्थ पर लिखी गयी टीका में शतक, सप्ततिका, कषायप्राभूत, सत्कर्म और कर्मप्रकृति इन पाँचों ग्रन्थों का समावेश पंचसंग्रह में है, ऐसा उल्लेख है। इन पाँच ग्रन्थों में कषायप्राभूत को छोड़कर शेष चार ग्रन्थों का उल्लेख आचार्य मलयगिरि की टीका में भी प्रमाण रूप से मिलता है। इससे यह फलित होता है कि आचार्य मलयगिरि के समय में कषायप्राभूत को छोड़कर शेष चार ग्रन्थ अवश्य विद्यमान थे। वैसे आज सत्कर्म को छोड़कर तीन ग्रन्थ सप्ततिका, शतक और कर्मप्रकृति ही उपलब्ध हैं।

पंचसंग्रह में लगभग एक हजार गाथाएँ हैं, जिनमें योगोपयोगमार्गणा, बन्धक, बन्धव्य, बन्धहेतु और बन्धविधि इन पाँच द्वारों का कथन किया गया है।^१ योगोपयोगद्वार ४ से लेकर ३३ तक की गाथाओं में वर्णित है। इसमें योग के १५ भेद किये गये हैं जिनमें सत्य, असत्य, मिश्र और असत्यामृष ये चार-चार इस प्रकार कुल आठ मनोयोग और वचनयोग के भेद हैं और बैक्रिय, आहारक, औदारिक, मिश्र, शुद्ध एवं कार्मण आदि सात भेद काययोग के किये गये हैं।^२ तदनन्तर तीन—अज्ञान, पाँच—ज्ञान, साकारोपयोग आदि उपयोग के भेद किये गये हैं।^३ यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि किस-किस जीवस्थान में कितने योग और कितने उपयोग सम्भव हैं? गाथा संख्या २२ में १४ मूल मार्गणाओं का उल्लेख किया गया है, तत्पश्चात् मार्गणास्थान में जीवस्थान का निरूपण है।^४ मार्गणा-

१. पंचसंग्रह, गाथा ३
२. वही, (प्रथमद्वार) गाथा ४
३. वही, गाथा ५
४. वही, गाथा ६-२१
५. वही, गाथा २२-२६

स्थान में गुणस्थान का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक मार्गणा में कितने गुणस्थान सम्भव हो सकते हैं।^१

पंचसंग्रह के बन्धकद्वार में कर्म का बन्ध करने वाले जीवों का उल्लेख हैं। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि जीव कर्म का बन्ध करने वाला है तथा उपशमादि भावों से युक्त द्रव्य ही जीव है, वह अपने स्वरूप का स्वामी है और किसी का बनाया हुआ नहीं है।^२ जीव लोक में रहता है। इस ग्रन्थ में इन बातों की चर्चा प्रश्नोत्तर शैली में रोचक ढंग से की गयी है। चार गतियों के जीव शरीरों हैं, इसे स्पष्ट करते हुए पुनः प्रत्येक गति में जीव में कितने शरीर सम्भावित हैं, इसका निर्देश किया गया है। प्रथम गाथा में यह निर्देश किया गया है कि जीव को सत्पदादि पद के द्वारा जानना चाहिये। सत्पदादि में नव पदों का उल्लेख है, जो इस प्रकार है—सत्पदप्ररूपणा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शना, काल, अन्तर, भाग, भाव और अल्पबहुत्व।^३ इन नव पदों के प्रत्येक पद को लेकर जीवों की चर्चा की गयी है।^४

इस ग्रन्थ के तीसरे बन्धव्यद्वार में ६६ गाथाएँ हैं, जिनमें जीव को बाँधने योग्य क्या है? या किसका बन्धन होता है? इत्यादि प्रश्नों का समुचित समाधान प्रस्तुत किया गया है। यही कारण है कि इस द्वार का नाम बन्धव्यद्वार है। इसमें मुख्य रूप से कर्म की आठ मूल प्रकृतियों^५, एवं उनकी उत्तर प्रकृतियों^६ का उल्लेख करके यह निर्धारित किया गया है कि उन प्रकृतियों में कौन सी प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धी, अध्रुवबन्धी, ध्रुवोदयी, अध्रुवोदयी, सर्ववाती, देशघाती, शुभ, अशुभ तथा क्षेत्रविपाकी एवं भवविपाकी हैं?

पंचसंग्रह के चौथे बन्धहेतुद्वार में कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति कषाय तथा योग आदि मूल कारणों पर तो प्रकाश डाला ही गया है साथ ही उनके अवान्तर भेदों पर भी सूक्ष्मता से विचार किया गया है।

१. पंचसंग्रह (प्रथमद्वार), गाथा २७-३३

२. वही, द्वितीय द्वार, गाथा १-२

३. वही, गाथा ५

४. वही, गाथा ५

५. वही, तृतीय द्वार, गाथा १

६. वही, गाथा २-६६

उनके क्रम से पाँच, बारह, पच्चीस और पन्द्रह भेद बताये गये हैं।^१ तदनन्तर १४ गुणस्थानों में मिथ्यात्वादि मूल भेदों का निरूपण किया गया है और मिथ्यात्व के अवान्तर भेदों का जघन्य एवं उत्कृष्ट की दृष्टि से गुणस्थानों में कितना पारस्परिक वैषम्य है इसको भी स्पष्ट किया गया है।^२ अन्त में इस बात का विवेचन है कि कर्मों के उदय से परीषह उत्पन्न होता है, इस दृष्टि से परीषह को उत्पन्न करने वाले कर्म कौन से हैं ? इस पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है।^३

बन्धविधिद्वार नामक पाँचवें अधिकार में १८५ गाथाएँ हैं। इसमें बन्ध, उदय, उदीरणा एवं सत्ता के स्वरूप का निरूपण किया गया है। वैसे मूल रूप में “बन्धस्य विधिः इति बन्धविधिः” इस व्युत्पत्ति के आधार पर तो इसमें मात्र बन्ध का ही प्रतिपादन होना चाहिये, न कि उदयादि का। इस सम्बन्ध में स्वयं ग्रन्थकार का कहना है—“चूँकि बाँधे हुए कर्म का उदय होता है, उदय होते हुए कर्म की उदीरणा होती है तथा शेष कर्मों की सत्ता रहती है, इस प्रकार इनका पारस्परिक सम्बन्ध होनेके कारण बन्ध के साथ ही साथ उदय आदि का स्वरूप भी कथनीय है।”^४ इसी प्रकरण में प्रथम गुणस्थान में बन्ध, उदय, उदीरणा एवं सत्ता का विचार किया गया है।^५ तदनन्तर उदयादि के आधार पर उत्तरप्रकृतियों का उल्लेख करते हुए यह निर्धारित किया गया है कि किस गुणस्थान में किन प्रकृतियों की उदीरणा सम्भव हो सकती है ?^६

इस प्रकार पंचसंग्रह के इन पाँचों द्वारों से कर्मसिद्धान्त के विविध पक्षों पर प्रकाश पड़ता है।

पंचसंग्रह के पूर्वार्द्ध में तो उक्त पाँच द्वारों का बहुत ही विस्तृत एवं व्यवस्थित विवरण है पर इस ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध, कर्मप्रकृति में भी उल्लिखित आठ करणों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इन दोनों में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं है, चूँकि इन करणों का विस्तृत उल्लेख कर्मप्रकृति नामक ग्रन्थ में किया जा चुका है अतः पिष्टपेषण के भय से पंचसंग्रह के

१. पंचसंग्रह, चतुर्थद्वार, गाथा १
२. वही, गाथा ४-१६
३. वही गाथा १५-२०
४. वही, पंचमद्वार, गाथा १
५. वही, गाथा २-६
६. वही, गाथा ७-९

उत्तरार्द्ध में उल्लिखित आठ करणों का यहाँ विस्तृत उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

पंचसंग्रह की व्याख्यायें

पंचसंग्रह की उपलब्ध टीकाओं में एक स्वोपज्ञवृत्ति तथा दूसरी मलयगिरि कृत टीका है। स्वोपज्ञवृत्ति नौ हजार श्लोक प्रमाण तथा मलयगिरि कृत टीका अट्ठारह हजार श्लोक प्रमाण है।

प्राचीन कर्मग्रन्थ

आचार्य देवेन्द्रसूरि के कर्मग्रन्थ सरल विवेचन शैली एवं संक्षिप्तता के कारण अधिक प्रचलित एवं अपेक्षाकृत नवीन होने के कारण ये नव्य कर्मग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हुए। जबकि उनके पूर्व रचित कर्मग्रन्थ प्राचीन कर्मग्रन्थ के नाम से जाने-जाने लगे।

प्राचीन कर्मग्रन्थों की संख्या ६ है, जो निम्नांकित हैं—

१. कर्मविपाक, २. कर्मस्तव, ३. बंधस्वामित्व,
४. षडशीति, ५. शतक, ६. सप्ततिका।

इन सभी कर्मग्रन्थों के कर्त्ता एक नहीं हैं।

१. कर्मविपाक

इस कर्मग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य गर्गर्षि हैं।^१ इसमें १६८ गाथाएँ हैं।^२ ग्रन्थ के नामानुसार इसमें कर्म की मूल एवं उनकी उत्तरप्रकृतियों तथा उनके विपाक का कथन किया गया है। इसमें अष्टकर्मों के स्वरूप को विविध दृष्टान्तों के द्वारा स्पष्ट किया गया है। सम्भवतः इसी कारण इस ग्रन्थ का आकार थोड़ा विस्तृत हो गया है। इस कर्मविपाक का एक दूसरा नाम बृहत्कर्मविपाक भी है। आचार्य गर्गर्षि के समय के बारे में निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं होते। सिद्धर्षि ने अपनी उपमितिभवप्रपञ्च-कथा में गर्गर्षि को गुरु के रूप में स्मरण किया है और उक्त कथा उन्होंने संवत् ९६२ में समाप्त की थी। अतः गर्गर्षि और उनकी कृति कर्मविपाक का समय विक्रम की नौवीं शताब्दी का अन्तिम चरण या दशवीं का प्रथम चरण होना चाहिये।^३

१. भणिओ कम्मविवाओ समासओ गगगरिसिणाउ।

कर्मविपाक, गर्गर्षि, गाथा १६७

२. एवं गाहाण समं अहियं छावट्ठिए पढिउण।

जो गुरु पृच्छइ नाही कम्मविवागं च सो अहरा॥

वही, गाथा १६८

३. जैन साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ४३२

कर्मविपाक पर तीन टीकाएँ लिखी गयी हैं। प्रथम परमानन्दसूरि कृत वृत्ति है, द्वितीय उदयप्रभसूरि कृत टिप्पण और तृतीय अज्ञात कर्तृक टीका है। इन तीनों टीकाओं का काल विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी माना जाता है।

२. कर्मस्तव

इसके कर्ता अज्ञात हैं। इस पर दो भाष्य और दो टीकाएँ उपलब्ध हैं। भाष्यकारों का नाम भी अज्ञात है। दो वृत्तियों में एक संस्कृत वृत्ति गोविन्दाचार्य द्वारा रचित है। इस वृत्ति की एक प्रति १२८८ की लिखी हुई उपलब्ध होती है। दूसरी वृत्ति उदयप्रभसूरि के टिप्पण के रूप में प्राप्त होती है। “कर्मस्तव” का एक दूसरा नाम “बन्धोदयसद्युक्तस्तव” भी है।^१

३. बन्धस्वामित्व

इस ग्रन्थ के कर्ता भी अज्ञात हैं। इसमें ५४ गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ में १४ मार्गणाओं के आश्रय से कर्मप्रकृतियों के बन्ध के स्वामियों का कथन किया गया है। इस पर एक हरिभद्रसूरिकृत वृत्ति है। हरिभद्रसूरि बृहद्-गच्छ के मानदेव उपाध्याय के शिष्य थे और उनके द्वारा यह वृत्ति ११७२ में लिखी गयी है।

४. षडशीति

इस ग्रन्थ के कर्ता जिनवल्लभगणि हैं। इसमें अपने नामानुसार ८६ गाथाएँ हैं। इसका एक दूसरा नाम “आगमिकवस्तुविचारसार” भी है। इसमें मुख्य रूप से जीवसमास, मार्गणा, गुणस्थान, उपयोग, योग और लेश्या आदि पर प्रकाश डाला गया है।

इसके पतिपाद्य विषय गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में मिलते हैं। जीव-काण्ड में इन विषयों का विस्तृत विवेचन है जबकि इस प्राचीन कर्मग्रन्थ में उनका संक्षिप्त विवेचन है। दोनों में कहीं-कहीं भिन्नता भी लक्षित होती है।

जिनवल्लभगणि जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे। उन्होंने अभयदेवसूरि से विद्याध्ययन किया। इनका सम्बत् ११६७ में स्वर्गवास हुआ।

इस ग्रन्थ की तीन वृत्तियाँ उपलब्ध हैं—१. हरिभद्रसूरि की, २. मलय-गिरि की और ३. यशोभद्रसूरि की। यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि

ये हरिभद्रसूरि 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' आदि के कर्ता हरिभद्र से भिन्न हैं। इसके साथ ही इस ग्रन्थ पर दो अज्ञात कर्तृक भाष्य भी मिलते हैं।

५—शतक या बन्धशतक

इस ग्रन्थ के कर्ता आचार्य शिवशर्मसूरि हैं। इसमें १०० गाथाएँ हैं, इसी कारण ग्रन्थ का नाम 'शतक' प्रचलित हुआ है। इस पर तीन भाष्य, एक चूर्णि एवं तीन टीकाएँ हैं। तीन भाष्यों में दो लघु भाष्य हैं, जो अज्ञात कर्तृक हैं और एक बृहद् भाष्य है जिसके कर्ता चक्रेश्वर सूरि हैं। इस पर जो चूर्णि उपलब्ध है, उसके भी कर्ता अज्ञात हैं। तीन टीकाओं में एक कर्ता मलधारी हेमचन्द्र (विक्रम की बारहवीं सदी) दूसरी के उदयप्रभसूरि (सम्भवतः विक्रम की तेरहवीं सदी) तथा तीसरी के गुणरत्नसूरि (विक्रम की पन्द्रहवीं सदी) हैं।^१

६—सप्ततिका

इस ग्रन्थ के कर्ता के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है। "एक मान्यता के अनुसार चन्द्रविमहत्तर इसके कर्ता माने जाते हैं। ऐसी भी सम्भावना है कि शिवशर्मसूरि इसके भी कर्ता हों।"^२ इस ग्रन्थ में ७० गाथाएँ हैं और उसी को दृष्टि में रखते हुए ग्रन्थ का नाम 'सप्ततिका' रखा गया है।

सप्ततिका में बन्ध, उदय, प्रकृतिस्थान—ज्ञानावरणादि कर्मों की उत्तरप्रकृतियों, बन्धादिस्थान, आठ कर्मों के उदीरणास्थान, गुणस्थान आदि का विवेचन किया गया है।

चूँकि इन छः ग्रन्थों में, प्रथम पाँच ग्रन्थों में उन्हीं विषयों का प्रतिपादन है, जो देवेन्द्रसूरि के नव्य ग्रन्थों में मिलते हैं, इसी कारण यहाँ इन ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषयों का विस्तृत विवेचन नहीं किया जा रहा है।

सार्धशतक

इस ग्रन्थ में १५५ गाथाएँ हैं। इसके कर्ता जिनवल्लभगणि हैं। इन का समय विक्रम की बारहवीं शदी है। इस ग्रन्थ में कर्मविषयक कतिपय महत्त्वपूर्ण विचार प्ररूपित किये गये हैं।

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४, पृ० १२८

२. वही, पृ० १२८

इस पर अज्ञातकर्तृक भाष्य, मुनिचन्द्रसूरिकृत चूर्णि, चक्रेश्वरसूरिकृत प्राकृत वृत्ति, धनेश्वरसूरिकृत टीका एवं अज्ञात कर्तृक वृत्ति—टिप्पण उपलब्ध है।

देवेन्द्रसूरिकृत नवीन कर्मग्रन्थ

आचार्य देवेन्द्रसूरिविरचित नवीन पंच कर्मग्रन्थ, कर्मसिद्धान्त के विवेचन के एक आधारभूत अंग हैं। इनमें कर्मसिद्धान्त का सरल किन्तु गम्भीर विवेचन प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें कर्मसिद्धान्त के विविध पक्षों पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है। यद्यपि ये समस्त ग्रन्थ प्राचीन कर्मग्रन्थों के आधार पर ही लिखे गये हैं फिर भी, इनमें विद्वान् लेखक की रचना विषयक मौलिकता अभिसूचित होती है।

देवेन्द्रसूरिविरचित ये नवीन कर्मग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

१. कर्मविपाक, २. कर्मस्तव, ३. बन्धरवामित्व, ४. षडशीति, ५. शतक।

कर्मविपाक

इस प्रथम कर्मविपाक नामक ग्रन्थ में ६१ गाथाएँ हैं। इसका मूल आधार गर्गषिविरचित प्राचीन कर्मविपाक ग्रन्थ ही है। इस लघु ग्रन्थ में भी कर्मविपाक से सम्बन्धित सभी विषयों का सन्निवेश कुशलतापूर्वक किया गया है। इस ग्रन्थ की गाथाएँ सरल एवं सुगम प्राकृत भाषा में रची गयी हैं। इसमें कर्मप्रकृतियों के विपाक पर ही प्रमुखता से विचार किया गया है। पहले मंगलाचरण करके कर्म की व्याख्या की गयी है और बताया गया है कि जीव जिस हेतु से क्रिया करता है उसके अनुसार ही कर्म-बन्ध होता है।^१ बाद में कर्म को प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश इन चार वर्गों में विभक्त किया गया है। ये विभाजन कर्म के स्वरूप स्पष्टीकरण में महत् उपयोगी हैं। इसके पश्चात् प्रत्येक कर्म के भेद-प्रभेदों का उल्लेख करके विभिन्न दृष्टान्तों द्वारा उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। संक्षेप में इस ग्रन्थ में कर्म की १५८ प्रकृतियों के स्वरूप पर तो विस्तृत प्रकाश डाला ही गया है साथ ही प्रत्येक कर्म के बन्ध के कारणों का भी उल्लेख किया गया है।

१. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, गाथा १

इस प्रकार कर्मविपाक के प्रतिपाद्य विषयों को मुख्य रूप से पाँच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है^१—

१. कर्म की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार अंगों का कथन ।
 २. कर्म की मूल तथा उत्तरप्रकृति ।
 ३. पाँच प्रकार के ज्ञान तथा चार प्रकार के दर्शन का वर्णन ।
 ४. सब प्रकृतियों का दृष्टान्तपूर्वक कथन ।
 ५. सब प्रकृतियों के बन्ध के कारणों का कथन ।
- कर्मविपाक में इन्हीं विषयों का प्रतिपादन यथाक्रम में हुआ है ।

२. कर्मस्तव

प्रथम कर्मग्रन्थ में कर्म की जिन प्रकृतियों का उल्लेख किया गया है उन्हीं प्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता की चर्चा इस द्वितीय कर्मग्रन्थ में की गयी है ।^२ इसका वर्णन १४ गुणस्थानों के आधार पर किया गया है । ग्रन्थ का नाम ग्रन्थकार ने विषय के आधार पर न रख करके अपने आराध्यदेव श्री महावीर स्वामी की स्तुति के आधार पर कर्मस्तव रखा है ।

इस ग्रन्थ को विषयों की दृष्टि से चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१. बन्धाधिकार, २. उदयाधिकार, ३. उदीरणाधिकार, ४. सत्ता-धिकार । इन विषयों का निर्देश करके १४ गुणस्थानों का नामोल्लेख किया गया है ।^३ इसके अनन्तर तत्-तत् गुणस्थानवर्ती जीवों के कर्मबन्ध की योग्यता दर्शायी गयी है । इसी प्रकार उदयाधिकार में कर्मों के उदय की, उदीरणाधिकार में कर्मों की उदीरणा एवं सत्ताधिकार में कर्मों की सत्ता सम्बन्धी योग्यता का निर्देश किया गया है ।

वैसे प्राचीन कर्मस्तव के आधार पर ही इस ग्रन्थ की रचना की गयी

१. जैन साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ४३४

२. बंधुदओदीरणयासत्तापत्ताणि खवियाणि ।

द्वि० क० ग्र०, गाथा १

३. मिच्छे सासण मीसे, अविरय देसे पमत्त अपमत्ते ।

निअट्ठि अनिअट्ठि सुहुमुवसम खीणसजोगिअजोगि गुणा ।

द्वि० क० ग्र०, गाथा २

है और दोनों का वर्ण्यविषय भी लगभग समान ही है। भेद मात्र इतना है कि प्राचीन कर्मस्तव में ५५ गाथाएँ हैं, जबकि इस ग्रन्थ में ३४ गाथाएँ हैं। पर गाथा संख्या में अन्तर होते हुए भी इसमें कोई विषय छूटा नहीं है। इनमें गुणस्थानों के रूप में आत्मा के क्रमिक विकास को सूचित किया गया है तथा यह स्पष्ट किया गया है कि प्रारम्भिक अवस्था में आत्मा कर्ममल के प्रगाढ़ आवरण से घिरा होता है, पर धीरे-धीरे वह कर्मरूपी मलों का प्रक्षालन करते हुए अन्त में एक ऐसी अवस्था प्राप्त करता है जहाँ उसके कर्मरूप समस्त आवरण विनष्ट हो जाते हैं और वह मुक्ति-लाभ की प्राप्ति करता है।

संक्षेप में, इस द्वितीय कर्मग्रन्थ में आत्मा की विकास दशा के सूचक १४ गुणस्थानों में कर्म के बन्ध, उदय, उदीरण, सत्ता आदि का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

३. बन्धस्वामित्व

प्रस्तुत कर्मग्रन्थ में मार्गणाओं में गुणस्थानों का अवतरण करके बन्ध-स्वामित्व का कथन किया गया है अर्थात् इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि किन मार्गणाओं में कितने गुणस्थान सम्भव हैं और प्रत्येक मार्गणावर्ती जीवों की सामान्य रूप से और गुणस्थानों के विभागानुसार कर्मबन्धन सम्बन्धी कितनी योग्यता होती है ?

इसमें भी प्राचीन बन्धस्वामित्व की तुलना में विषय-विस्तार की संक्षिप्तता है। प्राचीन बन्धस्वामित्व की ५४ गाथाओं में वर्णित विषय नवीन कर्मग्रन्थ में २५ गाथाओं में समाविष्ट हैं। मार्गणाओं के विवरण में यहाँ स्पष्ट किया गया है कि नरक गति में नारकी जीव कितनी कर्मप्रकृतियों का बन्ध करते हैं।^१ बाद में मनुष्य गति में जीव की कर्मप्रकृति के बन्ध एवं गुणस्थान का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।^२ इसी प्रकार देवगति में कर्मप्रकृतियों के बन्ध का निरूपण किया गया है। इसी क्रम में एक-एक मार्गणा को लेकर उस मार्गणावर्ती जीवों की कर्मप्रकृतियों के बन्ध की योग्यता का मापन किया गया है, साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि किस कर्मप्रकृति के उदय में, जीव में कौन-सा गुणस्थान सम्भव हो सकता है।^३

१. कर्मग्रन्थ ३, गाथा ५-९

२. वही, गाथा १०

३. वही, गाथा १७-२४

षडशीति

प्राचीन कर्म ग्रन्थ की तरह इस षडशीति नामक चतुर्थ ग्रन्थ में भी ८६ गाथाएँ हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि प्राचीन षडशीति नामक ग्रन्थ की टीका में इसका एक नाम “आगमिकवस्तुविचारसार” दिया हुआ है जबकि नवीन ग्रन्थ के कर्ता ने इसका नाम “सूक्ष्मार्थविचार” दिया है।

विषय विवेचन की दृष्टि से इसमें मुख्य रूप से जीवस्थान, मार्गणा-स्थान, गुणस्थान, उपयोग, योग, लेश्या, बन्ध, अल्पबहुत्व, भाव एवं संख्या का निरूपण किया गया है।^१ पहले जीवस्थान का उल्लेख करके उसमें गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन आठ विषयों का प्रतिपादन किया गया है।^२ इसके बाद १४ मार्गणाओं एवं उनके ६२ अवान्तर भेदों का उल्लेख करके उसमें जीवस्थान, गुण-स्थान, योग, उपयोग, लेश्या और अल्पबहुत्व इन छः विषयों पर प्रकाश डाला गया है।^३ पुनः गुणस्थानों में जीवस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्धहेतु, बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता और अल्पबहुत्व इन दस विषयों का उल्लेख किया गया है।^४ तत्पश्चात् औदयिक, पारिणामिक आदि भावों के पाँच मूल भेदों एवं उनके उत्तर भेदों का निर्देश करते हुए अष्ट कर्मों एवं चौदह गुणस्थानों के सन्दर्भ में उनका निरूपण किया गया है तथा यह स्पष्ट किया गया है कि किस कर्म के उदय में एवं किस गुणस्थान में जीव में किस प्रकार के भाव प्रादुर्भूत होते हैं ?^५

५. शतक

शतक नामक इस अन्तिम और पाँचवें नव्य कर्मग्रन्थ में १०० गाथाएँ हैं। वैसे यह ग्रन्थ भी प्राचीन शतक नामक ग्रन्थ के आधार पर निर्मित हुआ है, परन्तु स्वोपज्ञ टीका के अन्त में, कर्मप्रकृति, पञ्चसंग्रह, बृहत्शतक आदि ग्रन्थों के आधार पर भी इस ग्रन्थ के निर्माण का संकेत मिलता है।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में भी पहले जिनदेव को नमस्कार कर ग्रन्थ में

१. चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गाथा १

२. वही, गाथा ३-८

३. वही, गाथा ९-४५

४. वही, गाथा ४५-६३

५. वही, गाथा ६४-७०

वर्णित विषयों का निर्देश किया गया है।^१ इस ग्रन्थ में ध्रुवबन्धिनी, अध्रुवबन्धिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ता, अध्रुवसत्ता, घातिनी, अघातिनी, पुण्यरूपा, पापरूपा, परावर्तमाना, अपरावर्तमाना, कर्मप्रकृतियों का विवेचन है। फिर इन कर्मप्रकृतियों में कौन, क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी, पुद्गलविपाकी है, इसकी चर्चा है। ध्रुवबन्धिद्वार में ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों का निर्देश किया गया है। ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों से तात्पर्य उन प्रकृतियों से है जिनका बन्ध कारण के होने पर अवश्य होता है। “ऐसी प्रकृति अपने बन्धविच्छेद पर्यन्त प्रत्येक जीव में प्रत्येक समय बँधती है।^२ अध्रुवबन्धिद्वार में उन प्रकृतियों की चर्चा है जिन प्रकृतियों का बन्ध, बन्ध के सामान्य कारणों के विद्यमान रहने पर भी अनिवार्य रूप से नहीं होता, अर्थात् कभी बन्ध होता है और कभी बन्ध नहीं होता है, उन प्रकृतियों को अध्रुवबन्धिनी प्रकृति कहते हैं।^३ ध्रुवोदयद्वार में ध्रुवोदय प्रकृतियों के नाम बतलाये गये हैं।^४ ध्रुवोदय प्रकृतियों से तात्पर्य उन प्रकृतियों से है जिनका उदय प्रारम्भ होने पर अपने निर्धारित होने के अन्त तक बराबर चलता रहता है। इसी प्रकार अध्रुवोदय द्वार में उन प्रकृतियों की चर्चा है, जिनका उदय नियमित क्रम में नहीं होता अर्थात् वे अपना समग्र फल-विपाक एक ही क्रम में नहीं देती है^५। ध्रुव-अध्रुव सत्ताद्वार में गुणस्थानों के सन्दर्भ में कर्म प्रकृतियों की सत्ता का विचार किया गया है।^६ “सम्यक्त्व आदि उत्तर गुणों की प्राप्ति होने से पहले अर्थात् मिथ्यात्व दशा में सभी संसारी जीवों में जो प्रकृति सर्वदा विद्यमान रहती है उसे ध्रुवसत्ताका (प्रकृति) कहते हैं और मिथ्यात्व दशा में जिस प्रकृति की सत्ताका नियम नहीं होता उसे अध्रुवसत्ताका प्रकृति कहते हैं।^७ गाथा १३ से २१ तक घाति, अघाति, पुण्य-पाप, परावर्तमाना, अपरावर्तमाना, क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी, पुद्गलविपाकी प्रकृतियों का एवं उनके कारणों

१. पञ्चम कर्मग्रन्थ, गाथा १

२. पञ्चम कर्मग्रन्थ, गाथा १ की हिन्दी व्याख्या, पृ० १

३. वही,

४. वही, गाथा ४

५. वही, गाथा ५

६. वही, गाथा ८-१२.

७. वही, पुस्तक पृ० १

का उल्लेख किया गया है।^१ जिन प्रकृतियों से आत्मिक गुणों का घात होता है, वे घाती और जिनसे इन गुणों का घात नहीं होता है वे अघाती कही जाती हैं। पुण्य एवं पाप प्रकृतियाँ कर्मफल के शुभत्व एवं अशुभत्व को इंगित करती हैं। “किसी दूसरी प्रकृति के बन्ध, उदय अथवा दोनों को रोककर जिस प्रकृति का बन्ध, उदय अथवा दोनों होते हैं उसे परावर्तमाना कहते। इसके विपरीत किसी दूसरी प्रकृति के बन्ध, उदय अथवा दोनों को रोके बिना ही जिस प्रकृति का बन्ध अथवा उदय दोनों ही होते हैं उसे अपरावर्तमाना कहते हैं।^२ “नया शरीर धारण करने के लिए जब जीव गमन करता है उस समय ही, अर्थात् विग्रह गति में जो कर्मप्रकृति उदय में आती है उसे क्षेत्रविपाकी कहते हैं।”^३ इसी प्रकार जीव अर्थात् चेतना को अपना फल देने वाली प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं। जिन प्रकृतियों के उदय से जीव संसार में परिभ्रमण करता है उन्हें भावविपाकी प्रकृतियाँ कहते हैं। इसी प्रकार शरीर रूप में परिणत हुए पुद्गल परमाणुओं को अपना फल प्रदान करने वाली प्रकृति पुद्गलविपाकी है। बन्धभेद द्वार में प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश में कर्म प्रकृतियों, उनके स्थान, प्रमाण आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। अन्त की दो गाथाओं में उपशम श्रेणी और क्षपकश्रेणी पर प्रकाश डाला गया है।^४

ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों पर दृष्टिपात करने के पश्चात् ग्रन्थकार के सम्बन्ध में कुछ जान लेना न्यायसंगत होगा।

स्वोपज्ञ टीका के अन्त में प्राप्त प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आचार्य श्री के गुरु जगच्चन्द्रसूरि थे। वे चन्द्रकुल में उत्पन्न हुए थे। उनके कर्मग्रन्थों की टीकाओं का संशोधन विबुध श्री धर्मकीर्ति तथा विद्यानन्दसूरि ने किया। देवेन्द्रसूरि का स्वर्गवास वि० सं० १३३७ में हुआ था, ऐसा गुर्वावली में उल्लेख है।^५ इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि देवेन्द्रसूरि सम्भवतः विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए हों। देवेन्द्रसूरि कर्म सिद्धान्त के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनके रचित नव्य पंचकर्मग्रन्थ इस बात के स्पष्ट परिचायक हैं। उनकी कर्मग्रन्थ की टीकाओं से यह भी

१. पञ्चम कर्मग्रन्थ, गाथा १३-२१.

२. वही, पुस्तक, पृ० २.

३. वही, पुस्तक, पृ० २.

४. वही, गाथा ९८-१००.

५. गुर्वावली, गाथा १७४.

सूचना मिलती है कि उन्होंने आगमादि का गहन अध्ययन किया था । संस्कृत और प्राकृत भाषा में रचे हुए ग्रन्थों से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि वे दोनों भाषाओं के प्रखर पण्डित थे । आचार्य देवेन्द्रसूरि ने अपने पाँचों ग्रन्थों पर स्वयं टीकाएँ भी लिखी हैं, किन्तु वर्तमान समय में तृतीय कर्मग्रन्थ की टीका अनुपलब्ध है । बाद में तृतीय कर्मग्रन्थ की टीका के अभाव को पूर्ण करने हेतु अवचूरि की रचना की गयी । गुणरत्नसूरि एवं मुनिशेखरसूरि ने पाँचों कर्मग्रन्थों पर अवचूरियाँ लिखी हैं । इनके अतिरिक्त कमलसंयम उपाध्याय आदि ने भी कर्मग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं । आज नव्य कर्मग्रन्थों पर गुजराती और हिन्दी में भी पर्याप्त विवेचन उपलब्ध हैं ।

भाव-प्रकरण

इस ग्रन्थ के कर्ता विजय विमलगणि हैं । जिसका ३० गाथा प्रमाण है । इसका मुख्य विषय उपशमादि भावों का वर्णन है । इस पर ३२५ श्लोक-प्रमाण स्वोपज्ञ वृत्ति प्राप्त है । यह ग्रन्थ वि० सं० १६२३ में निर्मित हुआ ।^१

बन्धहेतुव्यतिभंगी

इस ग्रन्थ में मात्र ६५ गाथाएँ हैं । इस ग्रन्थ के कर्ता हर्षकुलगणि हैं । यह विक्रम की सोलहवीं सदी की रचना है । इस पर वानरर्षि ने वि० सं० १६०२ में टीका लिखी । यह टीका ११५० श्लोक प्रमाण है ।^२

बन्धोदयसत्ताप्रकरण

इस ग्रन्थ में २४ गाथायें हैं । इसके कर्ता विजयविमलगणि हैं । इस पर ३०० श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञ अवचूरि है । विजयविमलगणि का समय १७वीं सदी है ।^३

(दिगम्बर कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी साहित्य)

षट्खण्डागम

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में षट्खण्डागम का अन्यतम स्थान है । इस ग्रन्थ के कर्ता आचार्य पुष्पदन्त तथा भूतबलि हैं । यह ग्रन्थ अनुमानतः

१. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ४, पृ० १३३.

२. वही, पृ० १३३.

३. वही, पृ० १३३.

विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी की रचना है। इसमें छः खण्ड हैं—
जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध।
जीवस्थान आठ अनुयोगद्वारों में विभक्त है—

१. सत्प्ररूपणा, २. द्रव्यप्रमाणानुगम, ३. क्षेत्रानुगम,
४. स्पर्शानुगम, ५. कालानुगम, ६. अन्तरानुगम,
७. भावानुगम, और ८. अल्पबहुत्वानुगम।^१

सत्प्ररूपणा में दो प्रकार का कथन है—ओघ अर्थात् सामान्य की अपेक्षा से और आदेश अर्थात् विशेष की अपेक्षा से।^२ यहाँ ओघ और आदेश से अभिप्राय क्रमशः गुणस्थान और मार्गणास्थान की दृष्टि से जीव की विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन करना है। गुणस्थानों के विस्तृत विवेचन के लिए गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, संज्ञा और आहार इन चौदह मार्गणाओं के उल्लेख हैं।^३ गुणस्थान और मार्गणास्थान कर्मप्रकृतियों के बन्ध और उदय से सम्बन्धित हैं। गुणस्थान कर्मों के क्षय-उपशम एवं क्षयोपशम के आधार पर जीवों के आध्यात्मिक विकास एवं पतन के सूचक हैं। चौदह गुणस्थान निम्नलिखित हैं—

१. मिथ्यादृष्टि, २. सास्वादनपसम्यग्दृष्टि, ३. सम्यक्-मिथ्यादृष्टि,
 ४. असंयत् सम्यग्दृष्टि, ५. संयतासंयत, ६. प्रमत्तसंयत्, ७. अप्रमत्तसंयत्,
 ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसाम्पराय, ११. उपशान्त-
कषाय, १२. क्षीणकषाय, १३. सयोगिकेवली, और १४. अयोगिकेवली।^४
- इन गुणस्थानों से क्रमशः कर्मप्रकृतियों के बन्धन, उदय एवं क्षय-सम्बन्धी जानकारी मिलती है। ये गुणस्थान यह सूचित करते हैं कि इन पर अवरोह मुक्ति की ओर और अवतरण संसार की ओर ले जाता है। इस प्रकार गुण-

१. षट्खण्डागम, धवलाटीकासमन्वित, पुस्तक १, भाग १, सूत्र संख्या ७,
पृ० १५६

२. संपरूवणदाए दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसणं य।

वही, पुस्तक, सूत्र ८, पृ० १६०

३. एत्तो इमेसि चोद्दसण्हं जीव-समासाणं मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेव
ट्ठाणाणि णायव्वाणि भवन्ति। तं जहा। गइ, इंदिए, काए, जोगे, वेदे, कसाए,
णाणे, संजमे, दंसणे, भविय, सम्मत्त, सण्णि, आहारए चेदि ॥

वही पुस्तक, सूत्र २-४

४. वही पुस्तक, सूत्र ९-२२, पृ० १६२-१९३.

स्थानों का विस्तृत विवरण कर्मसिद्धान्त के सन्दर्भ में अति महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इनसे उन तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है जो कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय से सम्बन्धित हैं।

जीवकाण्ड के सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में प्रथम गुणस्थानों की चर्चा है एवं तदनन्तर मार्गणाओं का विवरण है तथा प्रत्येक मार्गणा में कौन-कौन गुणस्थान पाये जाते हैं, इसका उल्लेख किया गया है। मार्गणास्थान कर्मों के अनुसार जीव को मिलने वाली विभिन्न गतियों के सूचक हैं। जीव अपने कृतकर्म के फलोपभोग हेतु इन्हीं १४ मार्गणाओं में भ्रमण करता है। इसमें प्रत्येक मार्गणा के भेद, उपभेदों की भी चर्चा है, जैसे—गति मार्गणा में चार प्रकार की गति मानी गयी है—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्य-गति एवं देवगति।^१ इसके बाद किस गुणस्थान वाले जीव इन गतियों में से किस गति में रहते हैं, इसका विवरण है जैसे—इसमें यह उल्लेख है कि “नरकगति में प्रारम्भ के चार गुणस्थानों वाले जीव होते हैं।^२ तिर्यञ्च-गति में आदि के पाँच गुणस्थानों वाले जीव होते हैं।^३ मनुष्यगति में चौदहों गुणस्थानों वाले जीव होते हैं।^४ देवगति में नरकगति की तरह चार ही गुणस्थान वाले जीव होते हैं।^५ इसी प्रकार अन्य शेष १३ मार्गणाओं में भी कौन से गुणस्थानवर्ती जीव पाये जाते हैं, इसका विवरण है।

मार्गणाओं में गुणस्थानों का वर्णन यह सूचित करता है कि मनुष्य जैसा कर्म बाँधता है वैसा ही फल प्राप्त करता है अर्थात् कर्म के अनुसार ही उसे विभिन्न प्रकार की गतियाँ प्राप्त होती हैं।

जीवस्थान के द्वितीय अनुयोगद्वार द्रव्यप्रमाणानुगम में भी ओष और आदेश की दृष्टि से दो प्रकार के कथन हैं।^६ ओष कथन में प्रत्येक गुण-स्थान को लेकर उनमें जीवों की संख्या का निर्धारण किया गया है। इसी प्रकार आदेश कथन में मार्गणाओं को लेकर विभिन्न मार्गणाओं में जीवों की संख्या का उल्लेख किया गया है। गुणस्थानों की अपेक्षा जीव राशि का प्रमाण बतलाते हुए कहा गया है कि सर्वजीवराशि अनन्तानन्त हैं।

१. षट्खण्डागम पुस्तक, १ सूत्र २४, पृ० २०१

२. वही, सूत्र २५, पृ० २०४

३. वही, सूत्र २६, पृ० २०८

४. वही, सूत्र २७, पृ० २११

५. वही, सूत्र २८, पृ० २२६

६. वही पुस्तक ३, भाग २, सूत्र १, पृ० १

अनन्तानन्त जीवराशि का बहुत बड़ा भाग मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में रहता है।^{११} इनमें १९२ सूत्र हैं, जिनमें प्रारम्भ के चौदह सूत्रों में गुणस्थानों में जीवराशि का प्रमाण बताया गया है और सूत्र १५ से मार्गणास्थानों में जीवों की संख्या का निर्देश है।^{१२} मिथ्यात्व गुणस्थान में जीवराशि को अधिकतम संख्या से यह फलित होता है कि अधिकांश जीव कषाय जनित उत्प्रेरकों (यथा-क्रोध, मान, माया, लोभ) से प्रभावित होते हैं। इसी कारण मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में उनकी संख्या अधिक है। किसी गुणस्थान में जीवों की संख्या के आधार पर यह जाना जा सकता है कि उन जीवों में बन्धन कारक राग, द्वेष इत्यादि की बहुलता है या नहीं।

जीवस्थान के क्षेत्र, काल और अन्तरानुगम में कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण विवरण नहीं है।

सातवें भावानुगम अनुयोगद्वार में कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित कतिपय विवरण मिलते हैं। इसमें कर्मों के उपशम, क्षय आदि के निमित्त से जीव के जो परिणाम विशेष होते हैं उन्हें भाव की संज्ञा दी गयी है।

इस अनुयोगद्वार में ओघ और आदेश से उन भावों पर प्रकाश डाला गया है।^{१३} प्रथम किस गुणस्थान में कौन-सा भाव होता है, इसका विवेचन है जैसे—मिथ्यात्वगुणस्थान में औदयिकभाव होता है, सास्वादन गुणस्थान में पारिणामिक भाव होता है, सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान में क्षयोपशमिक भाव होता है आदि।^{१४} ये पाँचों भाव कर्मों के उदय, क्षय, उपशम आदि के कारण होते हैं। अतः यह अनुयोगद्वार कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित है।

आठ अनुयोगद्वारों के पश्चात् जीवस्थान में नौ चूलिकाओं का उल्लेख है। जीवस्थान की नौ चूलिकाएँ इस प्रकार हैं—१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन, २. स्थानसमुत्कीर्तन, ३. प्रथम महादण्डक, ४. द्वितीय महादण्डक, ५. तृतीय

१. ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया, अणंता ।

वही पुस्तक, सूत्र २

२. गुणस्थानों एवं मार्गणास्थानों में जीव की संख्या निरूपण के लिए देखें—

षट्खण्डागम पुस्तक ३, भाग २

३. षट्खण्डागम, पुस्तक ५, भाग ६, ७, ८, सूत्र १, पृ० १८३ ।

४. ओघेण मिच्छादिट्ठित्ति को भावो ओद्धवो भावो । सासणसम्यग्दिट्ठि को भावो पारिणामिओ भावो । सम्मामिच्छादिट्ठित्ति को भावो खओवसमिओ भावो ।

वही पुस्तक, सूत्र २-४

५८ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

महादण्डक, ६. उत्कृष्ट स्थिति, ७. जघन्य स्थिति, ८. सम्यक्त्वोत्पत्ति, और ९. गति-अगति चूलिका ।

पहली चूलिका प्रकृतिसमुत्कीर्तन से तात्पर्य कर्मप्रकृतियों के स्वरूप निरूपण से है । प्रकृतिसमुत्कीर्तन पुनः दो भागों में विभक्त है—१. मूल-प्रकृतिसमुत्कीर्तन, एवं २. उत्तरप्रकृतिममुत्कीर्तन ।

मूलप्रकृतिसमुत्कीर्तन में कर्म की आठ मूल प्रकृतियों यथा—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय, कर्म की चर्चा है ।^१

इसी प्रकार उत्तरप्रकृतिसमुत्कीर्तन में कर्म की सभी उत्तरप्रकृतियों का उल्लेख है । ज्ञानावरणीय कर्म की चर्चा करते हुए इसकी पाँच उत्तर-प्रकृतियाँ निर्दिष्ट हैं यथा—मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय ।^२ इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म की नौ उत्तरप्रकृतियाँ बतायी गयी हैं, जैसे—निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवलदर्शनावरणीय ।^३ वेदनीय कर्म की दो उत्तरप्रकृति बतायी गयी है, यथा—सातावेदनीय और असातावेदनीय ।^४ मोहनीय कर्म का उल्लेख करते हुए उसकी अट्ठाइस प्रकृतियाँ बतायी गयी हैं ।^५ मोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियों के उल्लेख में पहले मोहनीय कर्म को दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय इस प्रकार दो वर्गों में विभाजित किया गया है ।^६ दर्शनमोहनीय के पुनः तीन भेद किये गये हैं—सम्यक्त्वमोह, मिथ्यात्वमोह एवं सम्यग्मिथ्यात्वमोह ।^७ इसी प्रकार चारित्रमोहनीय के दो भेद किये गये हैं—कषायवेदनीय, और नोकषायवेदनीय ।^८ चारित्रमोहनीय के भेदों में कषायवेदनीय के १६ भेद,

१. षट्खंडागम जीवस्थान चूलिका, पुस्तक ६, भाग ९, सूत्र ५-१२ ।

२. वही पुस्तक १३-१४ ।

३. वही पुस्तक १५-१६ ।

४. वेदणीयस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ, सादावेदणीयं चैव असात्तवेदणीयं ॥

वही पुस्तक, सूत्र १८

५. वही, सूत्र १० ।

६. वही, सूत्र २० ।

७. वही, सूत्र २१ ।

८. वही, सूत्र २२ ।

यथा-अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ एवं संज्वलन क्रोध, मान, माया एवं लोभ किये गये हैं।^१ इसी प्रकार नोकषाय (उपकषाय) वेदनीय के स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय एवं जुगुप्सा ये नौ भेद किये गये हैं।^२ इसी प्रकार आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म की सभी उत्तरप्रकृतियों का विवेचन उत्तरप्रकृति-समुत्कीर्तन में मिलता है।^३

इस प्रकार जीवस्थान की प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक चूलिका में कर्म के मूल एवं उनके उत्तर भेदों का विस्तृत विवेचन है। इससे यह फलित होता है कि यह ग्रन्थ कर्मसिद्धान्त के पूर्णतः सुव्यवस्थित होने के पश्चात् ही बना है।

जीवस्थान की स्थानसमुत्कीर्तन नामक दूसरी चूलिका में कर्मप्रकृतियों के बन्धन विषयक तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि किस गुणस्थान वाले जीव कर्म की किन प्रकृतियों का बन्ध करते हैं? इसमें प्रारम्भ के ६ गुणस्थानों वाले जीवों को बन्धक कहा गया है तथा यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञानावरणीय कर्म की पाँचों प्रकृतियाँ एक साथ बँधती हैं^४ और उनका बन्ध उक्त गुणस्थानवर्ती जीव करते हैं।^५ दर्शनावरणीय कर्म के तीन बन्धस्थान बताये गये हैं, यथा नौ प्रकृतियों से सम्बन्धित, छः प्रकृतियों से सम्बन्धित और चार प्रकृतियों से सम्बन्धित।^६ पहले और दूसरे गुणस्थान में एक साथ नौ प्रकृतियाँ बँधती हैं। तीसरे गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान पर्यन्त जीवों के नौ में से एक साथ छः ही प्रकृतियाँ बँधती हैं, तीन नहीं बँधती हैं। आगे आठवें से दसवें गुणस्थान पर्यन्त छः में से भी चार का ही बन्ध एक साथ होता है।^७ वेदनीय कर्म की दो ही प्रकृतियाँ हैं—साता और असाता। इनमें से एक समय में

१. षट्खण्डागम, सूत्र २३।

२. वही, सूत्र २४।

३. वही, सूत्र २५-४६।

४. षट्खण्डागम जीवस्थान चूलिका पुस्तक ६, सूत्र संख्या ५।

५. (क) वही, पुस्तक सूत्र ६।

(ख) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४, पृ० ४५।

६. वही, पुस्तक सूत्र ७।

७. वही, पुस्तक, सूत्र ७-१६।

एक ही बँधती हैं^१ और उनका बन्ध प्रथम छः गुणस्थानवर्ती जीव ही करते हैं।^२ मोहनीयकर्म के दस बन्धस्थान हैं—बाइस, इक्कीस, सत्तरह, तेरह, नौ, पाँच, चार, तीन, दो और एक प्रकृति सम्बन्धी।^३ मिथ्यात्व, सोलह-कषाय, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इन तीनों वेदों में से एक वेद, हास्य-रति, और अरति-शोक इन दो युगलों में से कोई एक युगल भय और जुगुप्सा इन बाइस प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यादृष्टि जीव करता है।^४ मोहनीय कर्म-सम्बन्धी उक्त दस बन्धस्थानों में प्रथम बन्धस्थान की बाइस प्रकृतियों में से मिथ्यात्व (किन्तु वेदों में नपुंसक वेद को छोड़कर) शेष इक्कीस प्रकृतियों का बन्ध दूसरे गुणस्थान में होता है।^५ अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया, लोभ (किन्तु वेदों में स्त्री-वेद को छोड़कर) के सिवाय शेष १७ प्रकृतियों का बन्ध एक साथ तीसरे और चौथे गुणस्थानवर्ती जीवों को होता है।^६ इन सत्तरह प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ को छोड़कर शेष तेरह प्रकृतियों का बन्ध पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव करते हैं।^७ इन तेरह प्रकृतियों में से पुनः प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ को छोड़कर शेष ९ प्रकृतियों का बन्ध छठवें से आठवें गुणस्थानवर्ती जीव करते हैं।^८ इसी प्रकार मोहनीय कर्म की शेष उत्तरप्रकृतियों का बन्ध किस-किस गुणस्थानवर्ती जीव करते हैं, इसका स्पष्ट विवरण इस स्थानसमुत्कीर्तन नामक चूलिका में मिलता है।^९

आयु कर्म के बन्ध विषयक तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए यह स्पष्ट

१. षट्खण्डागम, पुस्तक ६, भाग ९ सूत्र १७-१८।

२. वही, सूत्र १९।

३. वही, सूत्र २०।

४. वही, सूत्र २१-२२।

५. वही, सूत्र २४-२५।

६. अणताणुबंधि कोह-माण-माया-लोभं इत्थिवेदं वज्ज वारस कषाय पुरिसवेदो हस्सरदि-अरदि-सोग दोण्हं जुगलाणमेक्कदरं भय दुगुंछा। एदांसि सत्तरसण्हं पयडीणमेक्कमिह चैवट्ठाण बंधकाणस्स। तं सम्मामिच्छादिट्ठस्स वा असंजद-सम्मादिट्ठस्स वा।

वही पुस्तक सूत्र २६ से २८, पृ० ९२-९३

७. वही पुस्तक, सूत्र संख्या २९ से ६१, पृ० ९३-९५।

८. वही पुस्तक, सूत्र संख्या ३२ से ३४।

९. वही पुस्तक, सूत्र ३५ से ४९।

किया गया है कि आयुष्य कर्म में नरक एवं तिर्यञ्चायु का बन्ध पहले और दूसरे गुणस्थान में, मनुष्यायु का बन्ध पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान में और देवायु का बन्ध, मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयतजीव करते हैं।^१ इसी प्रकार नाम,^२ गोत्र^३ एवं अन्तराय कर्मों की किन प्रकृतियों का बन्ध किन गुणस्थानों वाले जीव करते हैं ? इसका सविस्तार निरूपण किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवस्थान की स्थानसमुत्कीर्तन नामक दूसरी चूलिका में आठों कर्मों के बन्धस्थानों का कथन किया गया है। स्थान-समुत्कीर्तन में विभिन्न गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों के बन्धन से सम्बन्धित जो सामग्री मिलती है वह कर्मसिद्धान्त से निकट रूप से सम्बन्धित है, साथ ही कर्मप्रकृतियों के स्वरूप पर भी प्रकाश डालती है। उक्त विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस कर्म के उदय से जीव किन-किन अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं।

जीवस्थान की प्रथम-महादण्डक नामक तीसरी चूलिका में मुख्य रूप से पहली बार सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय, तिर्यञ्च एवं मनुष्य किन-किन कर्मप्रकृतियों का बन्ध करते हैं, इसका निरूपण किया गया है।^४

द्वितीय-महादण्डक नामक चौथी चूलिका में प्रथमोसम्यक्त्व के अभिमुख देव और सातवें नरक के नारकियों को छोड़कर शेष नारकियों के बंधने वाली प्रकृतियाँ बतलायी गयी है।^५

छठवीं उत्कृष्ट स्थिति चूलिका में कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का कथन है।^६ इस चूलिका में मुख्य रूप से यह स्पष्ट किया गया है कि जीव कितने कालस्थिति वाले कर्मों के होने पर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है अथवा नहीं करता।

१. षट्खण्डागम, सूत्र ५० से ५९।

२. षट्खण्डागम जीवस्थान चूलिका, पुस्तक ६, सूत्र ६०-१०९।

३. वही पुस्तक, सूत्र ११०-११४।

४. वही पुस्तक, सूत्र ११५-११६।

५. वही पुस्तक, सूत्र १-२, पृ० १३३-१३४।

६. तत्थ इमो विदिओ महादण्डओ कादव्वो भवति। वही, सूत्र १-२, पृ० १४०-१४१।

७. वही पुस्तक, सूत्र १, २, पृ० १४५।

गति-आगति नामक जीवस्थान की अन्तिम चूलिका में इस बात की ओर संकेत किया गया है कि चारों गतियों में प्रवेश करने और वहाँ से निकलने के समय जीवों के कौन-कौन से गुणस्थान हो सकते हैं ?^१ जैसे—मनुष्य गति में कितने ही जीव मिथ्यात्वसहित जन्म लेकर मिथ्यात्वसहित ही वहाँ से निकलते हैं, कितने ही जीव मिथ्यात्वसहित जाकर सासादनसम्यक्त्वसहित निकलते हैं, कितने ही जीव सासादनसम्यक्त्वसहित जाकर मिथ्यात्वसहित निकलते हैं तथा कितने ही जीव सासादनसम्यक्त्वसहित जाकर सासादनसम्यक्त्वसहित ही निकलते हैं इसी प्रकार यह भी स्पष्ट किया गया है कि किस गति से निकलकर जीव किस गति में जन्म लेते हैं ? इसमें यह भी बताया गया है कि सातवें नरक से निकलकर नारकी जीव तिर्यञ्च गति में ही जन्म लेता है और वह यहाँ किसी तरह की उन्नति नहीं करता बल्कि मिथ्यादृष्टि का मिथ्यादृष्टि ही बना रहता है।^२ इस प्रकार इस गति-आगति नामक चूलिका में प्रत्येक नरक से तथा प्रत्येक गति से निकले हुए जीवों के सम्बन्ध में बड़ा ही सुव्यवस्थित विवरण देखने को मिलता है।

षट्खण्डागम के जीवस्थान नामक प्रथम खण्ड के विविध अनुयोगद्वारों एवं विभिन्न चूलिकाओं में जीव और कर्म के पारस्परिक सम्बन्धों का जो चित्रण उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनसे कर्म प्रकारों एवं उनके बन्ध विषयक तथ्यों पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है।

२. क्षुद्रकबन्ध

षट्खण्डागम के द्वितीय खण्ड क्षुद्रकबन्ध में भी कर्म सिद्धान्त सम्बन्धित महत्वपूर्ण सामग्री है। इसमें अपने नामानुकूल क्षुद्र रूप से कर्मबन्ध का विवेचन है। इस खण्ड के प्रारम्भ में पहले तो १४ मार्गणाओं का उल्लेख है।^३ तदनन्तर उनके भेदों के अनुसार उनमें कौन बन्धक अर्थात् कर्मबन्ध करने वाली है एवं कौन अबन्धक अर्थात् कर्मबन्ध नहीं करने वाली हैं—इसको स्पष्ट किया गया है। गति-मार्गणा की दृष्टि से इसमें स्पष्टतया

१. षट्खण्डागम, जीवस्थानचूलिका, पुस्तक ६, भाग ९, पृ० ४३७ से ४४६, सूत्र ४४-७५।

२. वही पुस्तक, सूत्र २०३-२४३, पृ० ४८४-५००।

३. षट्खण्डागम, क्षुद्रकबन्ध, खण्ड २, भाग ७, सूत्र संख्या १

कहा गया है कि नारकी जीव बन्धक है,^१ तिर्यञ्च बन्धक है,^२ और देव-बन्धक है,^३ किन्तु मनुष्य बन्धक भी है और अबन्धक भी है।^४ इसी तरह शेष अन्य मार्गणाओं के बन्धकत्व का विचार किया गया है।^५

क्षुद्रक बन्ध में बन्धकों के स्वरूप पर सम्यक् प्रकाश डालने हेतु ११ प्रकार के अनुयोगद्वारों की चर्चा है, जो निम्नलिखित है—

“१. एक जीव की अपेक्षा-स्वामित्व, २. एक जीव की अपेक्षा-काल, ३. एक जीव की अपेक्षा-अन्तर, ४. नानाजीवों की अपेक्षा-भंगविचय, ५. द्रव्य प्रमाणानुगम, ६. क्षेत्र प्रमाणानुगम, ७. स्पर्शानुगम, ८. नाना जीवों की अपेक्षा काल, ९. नाना जीवों को अपेक्षा अन्तर, १०. भागाभागानुगम, ११. अल्पबहुत्व।^६ प्रायः इन सभी अनुयोगद्वारों में बन्धकों का विवेचन प्रश्नोत्तर शैली में किया गया है।

एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व नामक अनुयोगद्वार में पहले प्रश्न किया गया है कि “नरक गति में नारकी जीव कैसे होता है ?” पुनः उत्तर में कहा गया है कि “नरक गति नामकर्म के उदय से।” पुनः तिर्यञ्च गति में तिर्यञ्च जीव, तिर्यञ्च गतिनाम कर्म के उदय से।^७ इस तरह जिस मार्गणा वाला जीव, जिस कर्म के उदय या क्षयोपशम आदि से होता है, उसका

१. गदियाणुवादेण निरयगदीए णेरइया बंधा १

षट्खण्डागम, क्षुद्रकबन्ध, खण्ड २, पुस्तक ७, सूत्र संख्या ३, पृ० ७

२. तिरिक्खा बंधा ११

वही खण्ड २, पुस्तक ७, सूत्र ४

३. देवा बंधा ११

वही, खण्ड २, पुस्तक ७, सूत्र ५

४. मणुसा बंधा वि अत्थि अबंधा वि अत्थि १

वही, खण्ड २, पुस्तक ७, सूत्र ६

५. वही, पुस्तक, सूत्र ७-४३

६. एगजीवेण सामित्तं, एगजीवेण काले, एगजीवेण अन्तर, णाणाजीवेहि भंग-विचओ, दब्बपल्लवणाणुगमो, खेताणुगमो, फोसफाणुगमो, णाणाजीवेहि कालो णाणाजीवेहि अन्तर, भागाभागानुगमो, अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ।

वही, खण्ड २ पुस्तक ७, सूत्र २, पृ० २५

७. गदियाणुवादेण निरयगदीए णरे ईओ णाम कथं भवति ?

वही, खण्ड २, पुस्तक ७, सूत्र ४, पृ० २८

८. निरयगदिनामाए उदएण,

वही, खण्ड २, पुस्तक ७, सूत्र ५

९. वही, खण्ड २, पुस्तक ७, सूत्र ६-७

६४ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

कथन किया गया है। इससे यह भी फलित होता है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न मार्गणाओं में भ्रमण करता है।

काल नामक अनुयोगद्वार में किस-किस गति में कोई जीव कितने काल तक रहता है, इसका वर्णन किया गया है।

भंगविचयानुगम में इस बात का उल्लेख किया गया है कि जीव विभिन्न मार्गणाओं में किस क्रम में रहते हैं। यह विवेचन अनेक जीवों की अपेक्षा से किया है। इसी प्रकार शेष अनुयोगद्वारों में भी जीव की विभिन्न स्थितियों का निरूपण करके उनके बन्धविषयक तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है।

३. बन्ध-स्वामित्व विचय

षट्खण्डागम के तीसरे खण्ड बन्ध-स्वामित्व-विचय में यह विचार किया गया है कि किस कर्म का बन्ध किस गुणस्थान और किस मार्गणास्थान में सम्भव है। वैसे जीवस्थान की स्थान समुत्कीर्तन नामक चूलिका में भी विभिन्न गुणस्थानों में कर्मों की किन प्रकृतियों का बन्ध सम्भव है ? इसका विस्तृत विवेचन किया गया है।

क्षुद्रकबन्ध एवं बन्धस्वामित्वविचय के कर्मबन्ध सम्बन्धी विवरणों में मुख्य अन्तर यही दृष्टिगत होता है कि क्षुद्रकबन्ध में विभिन्न मार्गणाओं की दृष्टि से बन्धकों का कथन किया गया है, परन्तु बन्ध स्वामित्वविचय गुण स्थानों एवं मार्गणा स्थानों में किन कारणों से कर्मों की किन-किन प्रकृतियों का बन्ध सम्भव हो सकता है ? इसका उल्लेख किया गया है।

विषय-विस्तार की दृष्टि से तो बन्धस्वामित्वविचय का बन्ध सम्बन्धी प्रकरण महत्वपूर्ण है, परन्तु इन विवरणों से कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित किसी नवीन तथ्य पर प्रकाश नहीं पड़ता है। इस खण्ड के बन्ध-सम्बन्धी प्रकरण में प्रायः उन्हीं विषयों का वर्णन है जिनका प्रतिनिधित्व जीवस्थान की स्थानसमुत्कीर्तन नामक चूलिका एवं क्षुद्रकबन्ध में उल्लेख है।

४. वेदनाखण्ड

षट्खण्डागम के इस चतुर्थ खण्ड में मुख्य रूप से दो अनुयोगद्वारों की चर्चा है—(१) कृति अनुयोगद्वार, और (२) वेदना अनुयोगद्वार। कृति अनुयोगद्वार में कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित कोई विशिष्ट नहीं है परन्तु वेदना अनुयोगद्वार में कुछ ऐसे विवरण हैं। जो कर्म प्रकृतियों के वेदना सम्बन्धी तथ्यों पर प्रकाश डालते हैं। अर्थात् इनसे यह सूचना मिलती है कि किन

स्थितियों में जीव कर्मों की किन प्रकृतियों का वेदन आवश्यक रूप से करता है ?

वेदना अनुयोगद्वार में निम्न १६ अधिकार हैं—

१. वेदनानिक्षेप, २. वेदननयविभाषणता, ३. वेदननामविधान, ४. वेदनद्रव्यविधान, ५. वेदनक्षेत्रविधान, ६. वेदनकालविधान, ७. वेदन भावविधान, ८. वेदनप्रत्ययविधान, ९. वेदनस्वामित्वविधान, १०. वेदन-वेदनविधान, ११. वेदनगतिविधान, १२. वेदनअनन्तरविधान, १३. वेदन-परिमाणविधान, १४. वेदनसन्निकर्षविधान, १५. वेदनभागाभागविधान और १६. वेदनअल्पबहुत्व ।^१

वेदना खण्ड के वेदना अनुयोगद्वार के तृतीय अधिकार वेदनानाम विधान में विभिन्न नयों की दृष्टि से कर्मों की कितने प्रकार की वेदना हो सकती है, इसको स्पष्ट किया गया है । मुख्य रूप से इसमें वेदना के विविध भेदों का वर्णन किया गया है ।^२ इससे विभिन्न प्रकार के कर्मों से प्राप्त होने वाली वेदनाओं के स्वरूप की सूचना मिलती है, जैसे ज्ञाना-वरणीय कर्म की वेदना कैसी होगी ? दर्शनावरणीय कर्म की वेदना कैसी होगी ? यहाँ वेदना शब्द अनुभूति का सूचक है ।

वेदना अनुयोगद्वार के चौथे अधिकार वेदनद्रव्यविधान में सभी कर्म एवं तज्जनित वेदनाओं की विभिन्न स्थितियों का प्रतिपादन है । इसके भी तीन अनुयोगद्वार हैं—१-पदमीमांसा, २-स्वामित्व और ३-अल्प-बहुत्व ।^३ पदमीमांसा में यह स्पष्ट किया गया है कि कौन से कर्म उत्कृष्ट या अनुत्कृष्ट हैं और कौन से कर्म जघन्य या अजघन्य हैं ।^४ स्वामित्व अनुयोगद्वार में यह बताया गया है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट आदि स्थिति किन-किन जीवों में किस प्रकार सम्भव है ? इस तरह उनके स्वामियों का कथन बहुत विस्तार से किया गया है तथा अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों की जघन्य एवं उत्कृष्ट वेदनाओं के अल्पबहुत्व का प्रतिपादन है । इसी प्रकार वेदना-

१. षट्खण्डागम, खण्ड ४ पुस्तक १०, सूत्र १, पृ० १ ।

२. वही, खण्ड ४ पुस्तक १० सूत्र १-४ पृ० १३-१७ ।

३. वही, खण्ड ४ पुस्तक १० सूत्र १, पृ० १८ ।

४. वही, खण्ड ४ पुस्तक १० सूत्र २-४, पृ० २०-२९ ।

अनुयोगद्वार के शेष अधिकारों में विभिन्न दृष्टियों से कर्मों की वेदनाओं का निरूपण किया गया है।

वेदनाखण्ड में कर्मों की वेदना उनकी विभिन्न प्रकार की स्थिति आदि से सम्बन्धित विवरण कर्मविपाक की अवस्था को सूचित करते हैं। ये समस्त विवरण यह स्पष्ट करते हैं कि एक निश्चित काल के परिपक्व होने पर ही विभिन्न प्रकार के कर्मों के द्वारा विविध प्रकार की वेदनाएँ (अनुभूतियाँ) होती हैं। इस प्रकार षट्खण्डागम का वेदना खण्ड विभिन्न दृष्टियों से वेदनाओं का निरूपण करके कर्मसिद्धान्त में कर्मविपाक के स्वरूप पर प्रकाश डालता है।

५. वर्गणा खण्ड

षट्खण्डागम का यह खण्ड मुख्य रूप से निम्न चार अनुयोगद्वारों में विभक्त है—

- | | |
|----------------------|---------------------|
| १—स्पर्शअनुयोगद्वार, | २—कर्मअनुयोगद्वार, |
| ३—प्रकृतिअनुयोगद्वार | ४—बन्धनअनुयोगद्वार। |

स्पर्शअनुयोगद्वार में कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित कोई विशिष्ट तथ्य दृष्टिगत नहीं होता। कर्मअनुयोगद्वार भी कई उप-अनुयोगों में विभक्त है। इसके कुछ अनुयोगों में कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। कर्मअनुयोगद्वार के कर्मनिक्षेप अनुयोगद्वार में कर्म के दस भेदों—नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, इर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म का सम्यक् विवेचन है।^१ इनमें से नामकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म जैन कर्म सिद्धान्त के स्वरूप पर सम्यक् प्रकाश डालते हैं। पर अन्य शेष कर्मप्रकार जैन कर्म सिद्धान्त सम्बन्धित कोई विशिष्ट सूचना नहीं प्रदान करते, यहाँ हम विषय-विस्तार के भय से इन अनुयोगद्वारों के समग्र स्वरूप का विस्तृत विवरण प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं।

वर्गणाखण्ड के प्रकृतिअनुयोगद्वार में भी कई उप-अनुयोग समाहित हैं।^२ मुख्य रूप से इस अनुयोगद्वार में कर्म के आठ भेदों एवं उनके उपभेदों की चर्चा है। प्रकृति अनुयोगद्वार में कर्म के दो भेद-उपभेद मिलते हैं, उनमें प्रायः जीवस्थान की स्थानसमुत्कीर्तन नामक चूलिका से सम्बन्धित

१. षट्खण्डागम, खण्ड ५ पुस्तक १३, सूत्र ४, पृ० ३८।

२. वही, खण्ड ५ पुस्तक १३ सूत्र २, पृ० १९७।

विषयों का ही वर्णन है। इन दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि वर्गणाखण्ड के प्रकृति अनुयोगद्वार में कर्म प्रकृतियों के विस्तृत उपभेद किये गये हैं, जैसे इनमें ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ निर्दिष्ट हैं यथा—आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्ययज्ञानावरणीय एवं केवलज्ञानावरणीय।^१ इन समस्त प्रकृतियों के पुनः उपभेद किये गये हैं, जैसे—आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय के पुनः चार भेद किये गये हैं—१. अवग्रहावरणीय, २. ईहावरणीय, ३. अवाया-वरणीय, और ४. धारणावरणीय।^२ पुनः इन भेदों के उपभेद किये गये हैं।^३ इस प्रकार इसमें कर्म प्रकारों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद-उपभेद किये गये हैं, जबकि स्थानसमुत्कीर्तन में कर्म की मूल प्रकृतियों के इन उपभेदों की चर्चा नहीं है।

वर्गणाखण्ड के बन्धन अनुयोगद्वार में बन्धन के चार भेद किये गये हैं, जो इस प्रकार है—१-बन्ध, २-बन्धक, ३-बन्धनीय, और ४-बन्ध-विधान।^४ इसमें पुनः बन्ध के चार भेद किये गये हैं—नामबन्ध, स्थापना-बन्ध, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध।^५ इनमें द्रव्यबन्ध और भावबन्ध, कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। वर्गणाखण्ड के प्रकृति अनुयोगद्वार में कर्मप्रकृतियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद-उपभेद किये गये हैं। वे कर्म प्रकृतियों के विस्तृत विवेचन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि कर्म प्रकृतियों के उतने विस्तृत भेदोपभेद अन्यत्र बहुत कम मिलते हैं।

६. महाबन्ध

षट्खण्डागम के इस अन्तिम खण्ड महाबन्ध में मुख्य रूप से कर्मबन्धन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में प्रकृति, स्थिति, प्रदेश एवं अनुभाग बन्धों के व्यवस्थित एवं विस्तृत विवेचन उपलब्ध होते हैं।

षट्खण्डागम के विभिन्न खण्डों के कर्मविषयक सन्दर्भों पर दृष्टि डालने पर यह स्पष्ट होता है कि कर्मसिद्धान्त के विषय विवेचन में प्रत्येक

१. षट्खण्डागम, खण्ड ५ पुस्तक १३, सूत्र २१, पृ० २०९।

२. वही, खण्ड ५ पुस्तक १३, सूत्र २३, पृ० २१६।

३. वही, खण्ड ५ पुस्तक १३, सूत्र २४।

४. वही, खण्ड ५ पुस्तक १४, सूत्र १, पृ० १।

५. वही, खण्ड ५ पुस्तक १४, सूत्र २।

खण्ड की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका है। इस ग्रन्थ के छः खण्डों के प्रतिपाद्य-विषयों में सबसे बड़ी विशेषता एवं नवीनता यह है कि ये खण्ड कर्मों के विविध पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। किसी में कर्म के कारण होने वाली जीव की विभिन्न दशाओं का चित्रण है, तो किसी में उसी के कारण उन्हें मिलने वाली विभिन्न गतियों का। किसी में कर्मप्रकारों की चर्चा है तो किसी में उनके उप-प्रकारों की। किसी में कर्मजनित वेदनाओं की चर्चा है तो किसी में कर्मजनित उन वेदनाओं के मूल कारणों की चर्चा है। इस प्रकार कर्मसिद्धान्त के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित इन विस्तृत विवरणों को एक स्थान पर संकलित कर षट्खण्डागम कर्मसिद्धान्त का एक सुव्यवस्थित विवरण प्रस्तुत करता है। जैन कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित शायद ही कोई ऐसा तथ्य हागा जो इस ग्रन्थ को पैनी दृष्टि से अच्छता होगा।

कसायपाहुडसुत्त

दिगम्बर परम्परा के कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित बहुचर्चित ग्रन्थों में कसायपाहुडसुत्त का भी अपना एक अन्यतम स्थान है। इस ग्रन्थ की उत्पत्ति षट्खण्डागम की तरह दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग से मानी जाती है, जो आज लुप्त हो गया है। ग्रन्थ की पहली गाथा में ही स्पष्ट उल्लेख है कि दृष्टिवाद के पाँचवें ज्ञानप्रवादपूर्व की दसवीं वस्तु के तीसरे पेज्जदोसपाहुड से इस ग्रन्थ की व्युत्पत्ति हुई है।^१ जिस प्रकार षट्खण्डागम की उत्पत्ति कर्मप्राभूत से होने के कारण उसको कर्मप्राभूत कहते हैं उसी तरह पेज्जदोषप्राभूत से उत्पन्न होने के कारण कषायप्राभूत को पेज्जदोष-प्राभूत कहा जाता है।

इस ग्रन्थ का मूल नाम पेज्जदोसपाहुड है और उत्तर नाम कसायपाहुड (कषायप्राभूत) है क्योंकि चूर्णिकार ने भी पेज्जदोसविहत्ती नामक प्रथम अधिकार के इक्कीसवें और बाइसवें सूत्र में इन्हीं नामों के इन्हीं क्रमों का उल्लेख किया है, साथ ही उनके कारणों का भी निर्देश किया है।^२ इसका एक अन्य नाम प्रेयोद्वेषप्राभूत अथवा पेज्जदोसपाहुड भी है जिसमें “पेज्ज” प्रेय अर्थात् राग भाव को सूचित करता है और दोस द्वेष भाव को।

कषायप्राभूत के प्रणेता

जयधवलाकार की टीका के प्रारम्भ में दिये हुए श्लोक से यह स्पष्ट

१. कसायपाहुडसुत्त, गाथा १।

२. वही, गाथा २१-२२।

होता है कि कषायप्राभृत के कर्ता आचार्य गुणधर हैं।^१ श्री गुणधराचार्य के समय के बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। कुछ उल्लेखों के आधार पर उनके समय का अनुमान लगाया जा सकता है; क्योंकि श्रुतावतार में भी यही निर्दिष्ट है कि गुणधर और धरसेन के वंश एवं गुरु के पूर्वापर क्रम को हम नहीं जानते; क्योंकि उनको जानने वाले आगम का अभाव है।^२ किन्तु जयधवलाकार के कथन से गुणधर के समय के बारे में कतिपय जानकारी मिलती है। उन्होंने लिखा है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्ष व्यतीत होने पर अंगों और पूर्वों का आंशिक ज्ञान आचार्य-परम्परा से गुणधराचार्य को प्राप्त हुआ और उन्होंने १६००० पदप्रमाण पेज्जदोसपाहुड का १८० गाथाओं में उपसंहार किया।^३ इस उल्लेख के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्य गुणधर का समय वीर निर्वाण ६८३ से पीछे न होकर लगभग दो सौ वर्ष पूर्व होना चाहिए।^४

ग्रन्थ प्रमाण

यह ग्रन्थ अनुमानतः विक्रम की तीसरी शती की रचना है। इस ग्रन्थ में १८० गाथाएँ हैं, ऐसा ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की दूसरी गाथा में स्वयं दर्शाया है।^५ वैसे इस ग्रन्थ में २३३ गाथाओं के होने का भी संकेत मिलता है किन्तु जयधवला टीकाकार वीरसेनस्वामी का मन्तव्य है कि १८० गाथाओं के बाद की शेष ५३ गाथाएँ नागहस्ती आचार्य द्वारा रची गयी हैं।^६ उनका कहना है कि आचार्य नागहस्ती कषायपाहुड के ज्ञाता थे और यतिवृषभ के गुरु थे।^७ आचार्य यतिवृषभ ने कषायप्राभृत पर चूर्ण की

१. जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जलं अणंतत्थं ।

गाहाहि विवरियं तं गुणहरभडारयं वंदे ॥

कसायपाहुडसुत्त (धवलाटीकासहित)

भाग १, मंगल गाथा ६, पृ० ४ ।

२. गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमो स्माभिः ।

न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥ श्रुतावतार, १५१ ।

३. कसायपाहुडसुत्त (धवलाटीकासहित), प्रथम भाग, पृ० ८४-८७.

४. कसायपाहुडसुत्त (चूर्णिसूत्रसमन्वित) प्रस्तावना, पृ० ५७ ।

५. वही, गाथा २ ।

६. वही, प्रस्तावना, पृ० १० ।

७. कसायपाहुडसुत्त (धवला टीका समन्वित) भाग १, गाथा ७, ८ ।

रचना भी की है। वैसे जो भी हो, इतना निश्चित है कि कषायप्राभूत की १८० गाथाएँ ही गुणधराचार्यकृत हैं शेष ५३ गाथाएँ अन्य आचार्यों की कृतियाँ हैं। यद्यपि जयध्वलाकार ने एक अन्य स्थल पर २३३ गाथाओं को गुणधराचार्य विरचित मानने की चेष्टा की है किन्तु उनकी ऐसी मान्यता युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती।

कषायप्राभूत के अधिकार

कषायप्राभूत के प्रतिपाद्य विषय १५ अधिकारों में विभक्त हैं^१—
१. प्रयोद्वेषविभक्ति, २. स्थितिविभक्ति, ३. अनुभागविभक्ति, ४. अकर्म-
बन्ध की अपेक्षा बन्धक, ५. कर्मबन्ध की अपेक्षा बन्धक, ६. वेदक,
७. उपयोग, ८. चतुःस्थान, ९. व्यंजन, १०. दर्शनमोह-उपशामना, ११-
दर्शनमोहक्षपणा, १२. देशविरति, १३. सकलसंयम, १४. चारित्रमोह-
उपशामना, १५. चारित्रमोह-क्षपणा।

कषायप्राभूत के इन १५ अधिकारों के नामों के विषय में चूर्णिकारों में मतभेद है। चूर्णिकार इनसे कुछ भिन्न १५ अधिकारों की सूचना देते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. प्रयोद्वेष अर्थाधिकार, २. स्थिति-अनुभागविभक्ति अर्थाधिकार, ३. बन्धक अर्थाधिकार, ४. संक्रम अर्थाधिकार, ५. वेदक या उदय अर्थाधिकार, ६. उदीरणा अर्थाधिकार, ७. उपयोग अर्थाधिकार, ८. चतुःस्थान अर्थाधिकार, ९. व्यंजन अर्थाधिकार, १०. सम्यक्त्व या दर्शनमोहनीय-उपशामना, ११. दर्शनमोहनीयक्षपणा, १२. देशविरति अर्थाधिकार, १३. संयम के अन्तर्गत चारित्रमोहनीय-उपशामना अधिकार, १४. चारित्रमोहनीय-क्षपणा अधिकार, १५. अद्वपरिमाण अधिकार।^२

जयध्वलाकार इन अधिकारों को निम्न १५ वर्गों में विभक्त करते हैं—
१. प्रयोद्वेष अर्थाधिकार, २. प्रकृतिविभक्ति, ३. स्थितिविभक्ति, ४. अनु-
भाग विभक्ति, ५. प्रदेशविभक्ति, ६. बन्धक, ७. वेदक, ८. उपयोग,
९. चतुःस्थान, १०. व्यंजन, ११. सम्यक्त्व, १२. देशविरति, १३. संयम
अर्थाधिकार, १४. चारित्रमोह-उपशामना, और १५. चारित्रमोह-क्षपणा।

मूल ग्रंथों, चूर्णियों तथा जयध्वला टीका में प्रतिपादित १५ अधिकारों के विभिन्न नामों से यही फलित होता है कि इन नामों में शाब्दिक

१. कसायपाहुह, गाथा १३-१४।

२. कसायपाहुहसुत्त (चूर्णिसूत्र समन्वित), पृ० १४।

परिवर्तन अवश्य है, पर वे नाम-परिवर्तन किसी महत्त्वपूर्ण अर्थ परिवर्तन के सूचक नहीं जान पड़ते। जयधवलाकार तो यहाँ तक कहते हैं कि इन सब प्रकारों में कोई भेद नहीं है।

अब इन अर्थाधिकारों के प्रतिपाद्य विषयों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायेगा।

पेज्जदोसविभक्ति नामक पहले अधिकार में कषायों का अनेक दृष्टियों से राग-द्वेष में विभाग कर यह बतलाया गया है कि राग-द्वेष एवं कषाय क्या हैं? इनके कितने भेद हैं? किस जीव में किस प्रकार के कषाय भावों की अधिकता होती है? वे कषाय भाव कब उत्पन्न होते हैं? और कितनी देर तक रहते हैं? तथा इनके धारण करने वाले जीव के परिणाम कैसे होते हैं? ^१ इस प्रकार इस अधिकार से जीव के राग एवं द्वेष रूप कषायों पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। ध्यातव्य है कि इन समस्त अधिकारों में एकमात्र मोहनीय कर्म की प्रकृतिविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, प्रदेशविभक्ति, उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट स्थिति आदि का ही निरूपण किया गया है। ^२ क्योंकि मोहनीय कर्म कषाय रूप है। चारित्र्य-मोहनीय कर्म की २५ प्रकृतियाँ कषायों एवं नोकषायों से सम्बन्धित हैं। दर्शनमोह का कारण भी कषाय है। इस दृष्टि से इन अधिकारों में मोहनीय कर्म का सुविस्तृत विवेचन होना स्वाभाविक ही है।

स्थितिविभक्ति नामक द्वितीय अधिकार में मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों (भेदों) की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति का विवेचन किया गया है। इस अधिकार में यह स्पष्ट किया गया है कि मोहनीय कर्म की विविध उत्तर प्रकृतियाँ आत्मा के सम्पर्क में अधिक से अधिक तथा कम से कम कितने समय तक रहती हैं।

अनुभागविभक्ति में मोहनीय कर्मों के फल देने की शक्ति का निरूपण किया गया है।

कसायपाहुड के बन्धक नामक पाँचवें अधिकार में प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश इन चार प्रकार के बन्धों पर प्रकाश डाला गया है,

१. पेज्जं वा दोसो वा कम्मि कसायम्मि कस्स व णयस्स ।

डुट्ठो व कम्मि दब्बे णियायदे को कर्हि वा वि ॥

कसायपाहुडसुत्त, गाथा २१ ।

२. वही, सुत्त, गाथा २२ ।

साथ ही बँधने वाली प्रकृतियों की संख्यां, बन्धन की कालावधि, बँधने वाली प्रकृतियों के अनुभाग एवं प्रदेशों का निर्धारण भी किया गया है।

संक्रम अधिकार में बन्ध के समान संक्रम के भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश चार प्रकार के भेद किये गये हैं। तदनन्तर यह स्पष्ट किया गया है कि जोव कितनी प्रकृतियों, कितनी स्थिति, कितने अनुभाग तथा कितने प्रदेशों का संक्रमण करता है ?^१ यहाँ संक्रम से अभिप्राय बँधे हुए कर्मों का अपने अवान्तर भेदों में परिवर्तित होने से है।

वेदक अधिकार में मोहनीय कर्म के वेदन अर्थात् फलानुभवन का विवेचन किया गया है। कर्मफल का उपभोग दो प्रकार से किया जा सकता है—पहला उदय से तथा दूसरा उदीरणा से।

जो फल निश्चित कालावधि पर अपने आप मिलता है, उसे उदय कहते हैं, पर जिस कर्म के फल को प्रयत्न विशेष से निश्चित समय के पूर्व ही भोग लिया जाता है, उसे उदीरणा कहते हैं। इस प्रकार इस अधिकार में यह स्पष्ट किया गया है कि जोव कितने कर्मों का फलोपभोग कर्मोदयानुसार करता है तथा कितने कर्मों के फलों का भोग उदीरणा के अनुसार करता है ? कर्म फलोपभोग को उदय एवं उदीरणा दोनों ही प्रकारों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश भेद से चार-चार भेद किये गये हैं और उन सबमें उदय एवं उदीरणा विधियों से कर्मफलों के भोग को निर्धारित किया गया है।^२

उपभोग अधिकार में क्रोधादि कषायों के उपयोग का वर्णन किया गया है। यहाँ उपयोग शब्द क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप कषायों से प्राप्त होने वाले जीव के परिणाम (मनोदशा) को सूचित करता है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि एक जीव में किसी कषाय विशेष का अभ्युदय कितने काल तक रहता है, किस गति के जीव में कौन-सा कषाय बार-बार उदय में आता है, किस कषाय विशेष का उदय एक भव में कितनी बार होता है और एक कषाय का उदय कितने भवों तक रहता है ? वर्तमान कालिक जीव किस कषाय से युक्त है ? क्या वह इसके पहले भी इसी कषाय से युक्त था तथा भविष्य में भी इसी कषाय से युक्त होगा ?^३

१. कसायपाहुडसुत्त, गाथा २३।

२. वही, गाथा ५९-६२।

३. कसायपाहुडसुत्त, गाथा ६३-६९।

इत्यादि कषायविषयक अनेकानेक प्रश्नों का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक समाधान इस उपयोग नामक अधिकार में किया गया है।

चूँकि चतुःस्थान अधिकार में क्रोधादि कषायों के चार-चार स्थानों का निरूपण किया गया है,^२ इसलिए इस अधिकार का नाम चतुःस्थान है। इसमें बतलाया गया है कि क्रोध चार प्रकार का होता है—(१) पाषाण रेखा के समान, (२) पृथ्वी रेखा के समान, (३) बालू रेखा के समान, (४) जल रेखा के समान।^३ इससे यह फलित होता है कि जैसे—जल में खींची हुई रेखा तुरन्त मिट जाती है किन्तु बालू, पृथ्वी और पाषाण पर खींची गयी रेखाओं को समाप्त करने में क्रमशः ज्यादा समय लगता है। इसी प्रकार क्रोध की भी चार अवस्थाएँ हैं, जो क्रमशः अधिक काल में उपशम को प्राप्त होती हैं अर्थात् समाप्त होती हैं। इसी प्रकार मान, माया एवं लोभ की भी चार-चार अवस्थाओं का निरूपण है।^४ इसके बाद चार कषायों की सोलह अवस्थाओं की पारस्परिक तीव्रता एवं मन्दता का भी निरूपण किया गया है।^५

व्यञ्जन नामक नौवें अधिकार में क्रोध, मान, माया एवं लोभ इन चारों ही कषायों के समानार्थी नामों का उल्लेख किया गया है, जैसे क्रोध के क्रोध, कोप, रोष, अक्षमा, संज्वलन, कलह, वृद्धि, झंझा, द्वेष और विवाद ये दस एकार्थक नाम बताये गये हैं।^६ इसी प्रकार मान, मद, दर्प, स्तम्भ, उत्कर्ष, प्रकर्ष, समुत्कर्ष, आत्मोत्कर्ष, परिभव और उत्सिक्त दस नाम मान कषाय के बताये गये हैं।^७ इसी क्रम में शेष दो माया एवं लोभ कषाय के भी विविध नामों का निरूपण किया गया है।^८

इस ग्रन्थ के दर्शनमोहोपशामना नामक अधिकार में उन अवस्थाओं पर प्रकाश डाला गया है, जिनसे जीव अपने स्वरूप की यथार्थ प्रतीति नहीं कर पाता। साथ ही इसमें कर्म परमाणुओं के एक अन्तर्मुहूर्त तक

१. कसायपाहुडसुत्त, गाथा ७०।
२. वही, गाथा ७१।
३. वही, गाथा ७२-७३।
४. वही, गाथा ७४।
५. वही, गाथा ८६।
६. वही, गाथा ८७।
७. वही, गाथा ८८-९०।

उपशान्त (दबे) रहने सम्बन्धी तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। मुख्य रूप से इसमें निम्न प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया गया है—

दर्शन मोहनीय कर्म का उपशमन करने वाले जीव के परिणाम कैसे होते हैं ? वह किस योग, उपयोग, कषाय, लेस्या और वेद से युक्त होता है ? इन सब बातों का विवेचन करते हुए उन कारणों का विस्तार से विवेचन किया गया है, जिनके फलस्वरूप जीव दर्शनमोहनीय कर्म उपशमन करता है।^१

दर्शनमोहक्षपणा नामक ग्यारहवें अधिकार में उपशम अवस्था को प्राप्त हुए कर्मों के क्षय (समाप्त) होने सम्बन्धी तथ्यों पर विचार किया गया है। इसमें स्पष्ट कहा है कि कर्मभूमि में उत्पन्न होने वाले मनुष्य ही दर्शनमोह का क्षपण (समाप्त) कर सकते हैं वैसे चारों गतियों वाले जीव दर्शनमोह का क्षपण कर सकते हैं, पर इसके लिए उनमें तेजोलेस्या का होना परमावश्यक है।^२

संयमासंयम एवं चारित्र्य लब्धि नामक दोनों अधिकारों में संयमासंयम अर्थात् देशसंयम तथा सकलसंयम की प्राप्ति का निरूपण किया गया है। दूसरे शब्दों में इनमें इस बात का विवेचन किया गया है कि किन कारणों से जीव असंयम रूप निन्द्य कर्मों का सम्पादन करता है और किन कारणों से मिथ्यात्व रूप कर्दम से निकलकर निर्मल सरोवर में स्नान करने रूप संयम की प्राप्ति करता है ?^३

चारित्र्यमोहोपशमना अधिकार में चारित्र्यमोहनीय कर्म के उपशम का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है कि यह उपशम कितने प्रकार का होता है, किस-किस कर्म प्रकृति का उपशम होता है, चारित्र्यमोह की प्रकृति एवं स्थिति के कितने भाग का उपशम होता है ? इसके साथ ही उन कर्मप्रकृतियों के संक्रमण एवं उदीरणा पर भी विस्तार से विचार किया गया है कि किन कारणों से कर्मों को उपशान्त करने वाला वीतरागी जीव एक बार वीतराग दशा को प्राप्त करने के बाद भी नीचे के गुणस्थानों में गिरता है।^४

चारित्र्यमोहनीय क्षपणा नामक पन्द्रहवें एवं अन्तिम अधिकार में

१. कसायपाहुडसुत्त, गाथा ९१-९४।

२. वही, गाथा १००-१०५।

३. वही, ११०-११४।

४. वही, गाथा ११५।

चारित्रमोहनीय कर्म की प्रकृतियों के क्षय पर प्रकाश डाला गया है अर्थात् यह स्पष्ट किया गया है कि चारित्रमोह की प्रकृतियों का क्षय किस क्रम में होता है, किस-किस कर्म प्रकृति के क्षय होने पर कहाँ कितना स्थितिबन्ध और स्थितिसत्त्व रहता है ? अन्त में यह बतलाया गया है कि कषायों के क्षय हो जाने या वीतराग दशा को प्राप्त करने के बाद भी यदि जीव छद्मस्थ पर्याय से नहीं निकलता है तो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्मों का नियम से वेदन करता है किन्तु शुक्ल ध्यान से इन तीन घाति कर्मों को समूल नष्ट करके सर्वदर्शी और सर्वज्ञ भी बन सकता है ।^१

इन विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि कसायपाहुडसुत्त में जीव जनित कषायों का सविस्तृत विवेचन तो है ही, साथ ही मोहनीय कर्म की प्रकृति स्थिति, अनुभाग, सक्रमण, उदीरणा आदि की भी विस्तृत विवेचना करने वाला यह एक प्राचीनतम ग्रन्थ है ।

इन्द्रनन्दि कृत 'श्रुतावतार' के अनुसार कसायपाहुड की रचना गुणधर ने की और यतिवृषभ ने कषायप्राभृत की गाथाओं के अर्थानुकूल उन पर चूर्णि को रचना की ।^२ चूर्णि सूत्रों के सम्यक् अर्थविवोध हेतु उन पर १२ हजार श्लोक प्रमाण उच्चारणा सूत्रों की रचना की गयी । तत्पश्चात् इस ग्रन्थ पर संस्कृत, प्राकृत एवं कन्नड़ भाषा मिश्रित पद्धति नामक टीका रची गयी, जिसके कर्ता शामकुण्डाचार्य थे । आज यह टीका अनुपलब्ध है । पुनः चिरकाल के पश्चात् वप्पदेवाचार्य ने इस ग्रन्थ पर अड़सठ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत टीका लिखी ।

अन्त में कषायपाहुड एवं चूर्णिसूत्रों पर साठ हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखी गयी । जिसके प्रारम्भ के २० हजार श्लोक आचार्य वीरसेन कृत हैं तथा उसके बाद के चालोस हजार श्लोक उनके शिष्य जिनसेनाचार्य कृत हैं । वर्तमान काल में उपर्युक्त टीकाओं में मात्र यतिवृषभाचार्य की चूर्णि और जयधवला टीका ही उपलब्ध है ।

यतिवृषभाचार्यकृत चूर्णि

जयधवलाकार के अनुसार आचार्य यतिवृषभ ने आर्यमंक्षु और नाग-हस्ती से कसायपाहुड की गाथाओं का सम्यक् अर्थ अवधारण करके सर्व-

१. कसायपाहुडसुत्त, गाथा ११६-१२० ।

२. श्रुतावतार, श्लोक १५६

प्रथम उन पर चूर्णि सूत्रों की रचना की।^१ आचार्य इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार से भी इस मत को समर्थन मिलता है।^२ इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी की रचना है। इसमें इन्द्रनन्दि ने षट्खण्डागम और कसायपाहुड के अवतार की विस्तृत चर्चा की है।

कसायपाहुड की गाथाएँ संक्षिप्त हैं और उनमें प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त विवेचन है। जबकि चूर्णिसूत्रों में उन्हीं विषयों का स्पष्ट, विस्तृत एवं व्यवस्थित विवरण उपलब्ध होता है।

बीरसेन-जिनसेनकृत-जयधवला

कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रों पर जो विस्तृत एवं महत्वपूर्ण टीका लिखी गयी है, उसका नाम 'जयधवला' है।

जयधवला टीका को शैली व्याख्यानात्मक है। इसमें प्राकृत भाषा की बहुलता होते हुए भी बीच में कहीं-कहीं संस्कृत भाषा का प्रयोग भी दृष्टिगत होता है। जयधवला टीका में दुर्गम विषय को भी सरल शैली में प्ररूपित किया गया है ताकि सर्वसाधारण, सहज एवं स्वाभाविक रूप से विषय का अर्थविवोध कर सके।

जयधवला टीका अत्यधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि ग्रंथ के मूल सूत्रों में जो बातें सार रूप में कही गयी हैं, उनका स्पष्ट, सुविस्तृत एवं सोदाहरण विवरण इस टीका में प्राप्त होता है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कसायपाहुड सुत्त में मुख्य रूप से जीवों को संसार में परिभ्रमण कराने वाले कषायों के राग-द्वेषात्मक स्वरूप का विविध प्रकार से वर्णन करके उनसे मुक्तिलाभ प्राप्त करने का मार्ग बतलाया गया है।

गोम्मटसार

गोम्मटसार कर्म साहित्य का महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके कर्ता आचार्य नेमिचन्द्र हैं, जिन्हें ११वीं शताब्दी के चामुण्डराय के समकालीन माना जाता है। इन्होंने षट्खण्डागम की टीकाओं का गहन मन्थन करके उसके आधार पर सार रूप में गोम्मटसार एवं लब्धिसार नामक ग्रन्थों की रचना की। इनकी और भी कृतियाँ हैं यथा—त्रिलोकसार एवं द्रव्यसंग्रह। वे स्वयं लिखते भी हैं कि जिस तरह चक्रवर्ती अपने चक्ररत्न से भारतवर्ष के

१. जयधवला, भाग १, पृ० ९-१० (प्रस्तावना)।

२. इन्द्रनन्दि, श्रुतावतार, श्लोक १५६।

छः खण्डों को बिना किसी विघ्न बाधा के साधता है या अपने अधीन करता है, उसी तरह मैंने बुद्धिरूपी चक्र से षट्खण्डागम के सिद्धान्तों को सम्यक् रीति से साधा ।^१ सम्भवतः इसी कारण नेमिचन्द्र को सिद्धान्त-चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित भी किया गया है ।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के गुरु अभयनन्दि थे । उन्होंने अपने गोम्मटसार में वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि को भी गुरु के रूप में स्वीकार किया है तथा दोनों की वन्दना भी की है ।^२ त्रिलोकसार में तो इन्होंने अपने को अभयनन्दि का वत्स्यमात्र भी लिखा है ।^३ इसमें सिद्धान्त ग्रंथों का सार होने के कारण इस विषय के जिज्ञासु एवं रचना के प्रेरक चामुण्डराय के दूसरे नाम गोम्मटराय के आधार पर इस ग्रंथ का नाम गोम्मटसार रखा गया है । इस ग्रंथ का एक नाम द्रव्यसंग्रह भी है, क्योंकि इसमें बन्ध, बध्यमान, बन्धस्वामो, बन्धहेतु व बन्धभेद इन पांच विषयों का वर्णन किया गया है ।^४ इसे गोम्मटसंग्रह अथवा गोम्मटसंग्रहसूत्र के नाम से भी जाना जाता है ।

गोम्मटसार के दो भाग हैं, जो जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड नाम से विख्यात हैं । इनमें कुल १७०५ गाथायें हैं, जिनमें ७३३ गाथायें जीवकाण्ड में हैं और ९७२ गाथायें कर्मकाण्ड में हैं । अब संक्षेप में इन दोनों भागों के प्रतिपाद्य विषयों पर प्रकाश डाला जायेगा ।

१. जीवकाण्ड

इस खण्ड में षट्खण्डागम में वर्णित जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बन्ध-स्वामित्वविचय, वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्ड, इन पांच विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है ।

प्रथम गाथा में तीर्थङ्कर नेमि को नमस्कार करके जीव का कथन

१. जह चक्केण य चक्की छक्खण्डं सादियं अविग्घेण ।

तह गइ चक्केण मया छक्खण्डं साहियं सम्मं ॥

गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ३९७ ।

२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ४३६, ७८५ ।

३. इडि नेमिचदमुणिणाणप्पसुदेणभयणं दिवच्छेण ।

रइओ तिलोयसारो खभंतु त बहुसुराई या ॥

त्रिलोकसार उद्धृत, जै० सा० वृ० इ०, पृ० ३८२ ।

४. जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग ४, पृ० १३४ ।

करने की प्रतिज्ञा की गयी है ।^१ दूसरी गाथा में उन २० प्ररूपणाओं अर्थात् विवेचनीय विषयों का नामोल्लेख किया गया है जिनमें जीव का कथन है । ये बीस प्ररूपणायें इस प्रकार हैं—

१. गुणस्थान, २. जीवसमास, ३. पर्याप्ति, ४. प्राण, ५. संज्ञा, ६ से १९. चौदह मार्गणायें और २०. उपयोग ।^२ इन बीस-प्ररूपणाओं का उल्लेख पंचसंग्रह के जीव समास में भी किया गया है पर जीवकाण्ड में इनका विस्तृत विवेचन है । पंचसंग्रह के जीवसमास की २१६ गाथाओं में अधिकांश गाथायें जीवकाण्ड में ज्यों की त्यों ले ली गयी हैं ।

गुणस्थान प्रकरण में १४ गुणस्थानों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है ।

जीवसमास प्रकरण में जीवसमास का लक्षण, जीवसमास के भेद एवं उसके अवान्तर ५७ भेदों का कथन किया गया है । इसमें स्थान, योनि शरीर की अवगाहना और कुलों के आधार पर जीवसमास का कथन किया गया है ।

पर्याप्ति प्रकरण में पर्याप्ति और अपर्याप्ति जीवों के स्वरूप का दृष्टान्त पूर्वक कथन किया गया है, साथ ही पर्याप्ति के छः भेदों का भी उल्लेख है ।

प्राण प्रकरण में प्राण के लक्षण, भेद उत्पत्ति एवं प्राण के स्वामी का कथन किया गया है ।

मार्गणा प्रकरण में १४ मार्गणाओं का विवेचन है—ये मार्गणायें इस प्रकार हैं—१. गति, २. इन्द्रिय, ३. काय, ४. योग, ५. वेद, ६. कषाय, ७. ज्ञान, ८. संयम, ९. दर्शन, १०. लेश्या, ११. भव्य, १२. सम्यक्त्व, १३. संज्ञि, १४. आहार । इन मार्गणाओं में एक-एक मार्गणा को लेकर उसके भेद-प्रभेद आदि का भी कथन किया गया है ।

उपयोग प्रकरण में उपयोग के लक्षण और उसके दो भेद—(१) साकारोपयोग, एवं (२) निराकारोपयोग का विवेचन किया गया है ।

१. सिद्धं सुद्धं पणमिय जिणिदवरणेमिचंदमकलंकं ।

गुणरयणभूसणुदयं जीवस्स परूवणं वोच्छं ॥

जीवकाण्ड, गाथा १ ।

२. गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य ।

उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा ॥

वही, गाथा २ ।

उक्त उल्लेखों से जीव के विविध स्वरूप का परिचय तो होता ही है साथ ही उसकी विविध अवस्थाओं के कर्मरूपी कारणों पर भी प्रकाश पड़ता है।

कर्मकाण्ड

गोम्मटसार के द्वितीय भाग का नाम कर्मकाण्ड है। इसमें नौ विषयों का प्रतिपादन है, जो इस प्रकार है—

- | | |
|-----------------------|---------------------|
| १. प्रकृतिसमुत्कीर्तन | ६. प्रत्यय |
| २. बन्धोदयसत्त्व | ७. भाव-चूलिका |
| ३. सत्त्वस्थानभंग | ८. त्रिकरणचूलिका |
| ४. त्रिचूलिका | ९. कर्मस्थिति रचना। |
| ५. स्थानसमुत्कीर्तन | |

पहली गाथा में नेमिनाथ का वन्दन किया गया है और प्रकृतिसमुत्कीर्तन का कथन किया गया है।^१

प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक प्रकरण में मुख्य रूप से कर्म की मूल एवं उत्तर प्रकृतियों का कथन विभिन्न दृष्टियों से किया गया है। इस अधिकार में ८६ गाथायें हैं जिसमें कर्मप्रकृतियों के स्वरूप का वर्णन, कर्म-नोकर्म ग्रहण करने के कारण, कर्म-नोकर्म परमाणुओं की संख्या, कर्मों की सामान्यादि भेद, घाति-अघाति कर्म संज्ञा, अष्टकर्मों का सोदाहरण विवेचन, कर्मों की उत्तर प्रकृतियों के भेद एवं उनके लक्षण, बन्धयोग्य प्रकृतियाँ, उदययोग्य प्रकृतियाँ, सत्त्व प्रकृतियाँ, घाति कर्म के भेद, अघाति कर्म के भेद, कषायों के कार्य, पुद्गलविपाकी, भवविपाकी, जीवविपाकी प्रकृतियों आदि का विस्तार से कथन किया गया है।

बन्धोदयसत्त्व प्रकरण में सर्वप्रथम प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध का कथन किया गया है।^२

प्रकृतिबन्ध की चर्चा में यह स्पष्ट किया गया है कि किन कर्म प्रकृतियों का बन्ध, किन गुणस्थानों में होता है।^३ पुनः कर्मप्रकृतियों का मार्गणाओं के सम्बन्ध में भी कथन किया गया है।

१. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा १।

२. पयडिदिठिअणुभागपदेसबन्धोत्ति चतुविहो बन्धो।

गोम्मटसार गाथा ८९।

३. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड गाथा ९२ से १०४

स्थितिबन्ध के उल्लेख में यह स्पष्ट किया गया है कि कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति कितनी है तथा उनके बन्धनों का स्वरूप कैसा है ?^१ इसमें स्थितिबन्ध का जो निरूपण उपलब्ध होता है वह षट्खण्डागम के जीवस्थान की धवला टीका का अनुकरण है।^२

इसी प्रकार इसमें अनुभाग एवं प्रदेशबन्धों पर भी विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

इसके पश्चात् उदय प्रकरण में कर्मों के उदय एवं उदीरणा का निर्धारण गुणस्थानों एवं मार्गणास्थानों में किया गया है। इस प्रकरण में स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक गुणस्थान एवं मार्गणास्थान में कर्म की कितनी प्रकृतियाँ उदय में आ सकती हैं ? कितनी प्रकृतियाँ उदय में नहीं आ सकती हैं तथा कितनी प्रकृतियों की उदय व्युच्छित्ति सम्भव है ? इसी प्रकार सत्त्व प्रकरण में गुणस्थान एवं मार्गणास्थान में कर्म प्रकृतियों की सत्ता, असत्ता एवं सत्त्व व्युच्छित्ति का निरूपण किया गया है।

मार्गणाओं में कर्म प्रकृतियों के बन्ध, उदय एवं सत्त्व का कथन कर्मकाण्ड की विशिष्टता को सूचित करता है, क्योंकि अन्यत्र मार्गणाओं में उनका कथन अनुपलब्ध है।^३

कर्मकाण्ड के सत्त्वस्थानभंगाधिकार में १४० गाथायें हैं। इसमें आयु की बन्ध-अबन्ध की अपेक्षा से मिथ्यात्वगुणस्थान में भंगसंख्या आदि का कथन किया गया है।

इसी प्रकार सास्वादन आदि प्रत्येक गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों के सत्त्व स्थान कितने प्रकार से सम्भव हैं और उसके फलस्वरूप जीव किस आयु का उपभोग करता है तथा परभव की किस-किस आयु को बाँधता है ? इन्हीं विषयों का विस्तृत उल्लेख इस विषय में किया गया है।

त्रिचूलिका अधिकार में ७४ गाथायें हैं, जिनमें नव प्रश्नचूलिका, पञ्चभागहारचूलिका और दशकरण इन तीन चूलिकाओं का व्याख्यान किया गया है।

१. गोमटसार, गाथा १०५-१२१।

२. तुलना कीजिये कर्मकाण्ड गाथा १४४, १४५, षट्खण्डागम, पुस्तक ६, पृ० १८४-१९५।

३. गोमटसार कर्मकाण्ड, गाथा ३३२-३५६।

नव प्रश्नचूलिका में नौ प्रश्नों का समुचित समाधान प्रस्तुत किया गया है। वे नौ प्रश्न, बन्ध, उदय बन्ध, एवं व्युच्छित्ति होने वाली प्रकृतियों से सम्बन्धित हैं।^१

पंचभागहारचूलिका में यह स्पष्ट किया गया है कि जीवों के शुभाशुभ कर्म कर्ता के परिणामों के निमित्त से अन्य कर्म प्रकृतियों का परिणमन करते हैं; जैसे यदि जीव का परिणाम शुभ है तो इसके प्रभाव से बँधा हुआ अशुभ परिणाम रूप असातावेदनीय कर्म भी शुभसूचक सातावेदनीय कर्म में परिणत हो जाता है। इससे कर्म की संक्रमण अवस्था पर प्रकाश पड़ता है।

त्रिकरणचूलिका की तीसरी चूलिका दशकरण में बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा, सत्ता, उदय, उपशम, निधत्ति और निकाचना इन दस विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

कर्मकाण्ड के पाँचवें अधिकार स्थान समुत्कीर्तन में ३३४ गाथायें हैं, जिनमें गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय और सत्त्व की संख्या का निरूपण किया गया। दूसरे शब्दों में स्थान समुत्कीर्तन में यह स्पष्ट किया गया है कि एक समय में एक जीव में कितनी कर्म-प्रकृतियों का बन्ध, उदय और सत्त्व सम्भव हो सकता है।

प्रत्यय-अधिकार में २५ गाथायें हैं जिन में कर्मबन्ध के मूल एवं अवान्तर प्रत्ययों अर्थात् कारणों पर प्रकाश डाला गया है। पहले कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग चार मूल कारण बताये गये हैं एवं तदनन्तर उनके क्रमशः ५, १२, २५ और १५ भेदों का निर्देश किया गया है।^२ इसके अतिरिक्त गुणस्थानों में उन कर्मबन्ध के मूल प्रत्ययों का निरूपण भी किया गया है, अर्थात् यह स्पष्ट किया गया है कि किस गुण-स्थान में कर्मबन्ध के कौन से मूल प्रत्यय विद्यमान रहते हैं? उदाहरण-स्वरूप इसमें स्पष्ट निर्देश है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में चारों मूल प्रत्ययों से बन्ध होता है। उसके बाद सासादन आदि तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व के बिना तीन प्रत्ययों से बन्ध होता है, किन्तु एकदेश असंयम के त्यागने वाले देशसंयत गुणस्थान में भी तीन कारणों से ही बन्ध होता है।^३ पाँचवें गुणस्थान के आगे छठें आदि ५ गुणस्थानों में २ प्रत्ययों से

१. जैन साहित्य का बृहद इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ४०८।

२. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ७८६।

३. वही, गाथा ७८७।

बन्ध होता है और इसके आगे के तीन गुणस्थानों में एकमात्र योग प्रत्यय से ही बन्ध होता है।^१ उसके बाद बन्ध के मूल प्रत्ययों के अवान्तर भेदों का भी गुणस्थानों में निरूपण किया गया है।^२ इसी प्रकार उन प्रत्ययों के व्युच्छित्ति एवं कर्मबन्ध के कारणों एवं परिणामों पर भी प्रकाश डाला गया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड के भाव-चूलिका नामक अधिकार में ८५ गाथायें हैं, जिनमें भेदसहित भावों के नाम तथा उसकी उत्पत्ति के कारणों आदि पर प्रकाश डाला गया है।^३

१७ गाथाओं से युक्त त्रिकरणचूलिका नामक अधिकार में अधः प्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों का विवेचन किया गया है। षट्खण्डागम के प्रारम्भ में भी गुणस्थानों के प्रकरण में उन करणों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड के कर्मस्थिति रचना नामक अन्तिम अधिकार में यह सूचित किया गया है कि प्रति समय बँधने वाले कर्म-परमाणुओं का प्रथम आठों कर्मों में विभाजन होता है। उसके बाद बन्ध को प्राप्त होते हैं। कर्म-परमाणु उदय के आने पर खिरने प्रारम्भ होने लगते हैं और अन्तिम स्थिति पर्यन्त खिरते रहते हैं। उनकी रचना को ही कर्म-स्थिति रचना कहते हैं।^४

अन्त में प्रशस्ति के रूप में आठ गाथायें हैं जिनमें ग्रन्थ रचना का प्रयोजन बतलाकर मुनि अजितसेन का स्मरण किया गया है और गोम्मट-राय को समर्पित किया गया है, एवं गोम्मटरायकृत गोम्मटसार की देशी अर्थात् वृत्ति का उल्लेख किया गया है।^५

कर्मप्रकृति

इस संग्रह ग्रन्थ में १६१ गाथायें हैं। वैसे इस ग्रन्थ के कर्ता के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह ग्रन्थ गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्राचार्य की कृति है; क्योंकि इसमें गोम्मटसार को १०२ गाथायें ज्यों की त्यों मिलती हैं।

१. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ७८८ ।

२. वही, गाथा ७८९-७९० ।

३. वही, गाथा ८७६ ।

४. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ४१२ ।

५. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ९६५-९७२ ।

गोम्मटसार पर सर्वप्रथम गोम्मटराय (चामुण्डराय) ने कन्नड़ भाषा में वृत्ति लिखी है, जिसका अवलोकन स्वयं नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने किया था। इस वृत्ति को आधार बनाकर इस ग्रन्थ पर केशव वर्णी ने संस्कृत में टीका लिखी है। तत्पश्चात् अभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती ने मन्दप्रबोधिनी नामक संस्कृत टीका रची। उन अनेक संस्कृत टीकाओं के आधार पर पण्डित टोडरमल्ल ने सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक हिन्दी टीका की रचना की। वर्तमान काल में भी उक्त टीकाओं के आधार पर हिन्दी टीकाओं की रचना उपलब्ध होती है, जैसे पण्डित खूबचन्द्रकृत जीवकाण्ड का हिन्दी अनुवाद तथा पण्डित मनोहरलालकृत कर्मकाण्ड का हिन्दी अनुवाद।

लब्धिसार (क्षपणासारगर्भित) :

यह ग्रन्थ भी नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती की ही कृति है। इसमें मुख्य रूप से कर्म-बन्धन से मुक्त होने के उपायों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें ६४९ गाथाएँ हैं, जिनमें २६१ गाथाएँ क्षपणसार की हैं। उसमें दर्शनलब्धि, चारित्रलब्धि एवं क्षायिकलब्धि नामक तीन प्रकरणों का उल्लेख है। इनमें क्षायिक चारित्र प्रकरण को क्षपणसार के रूप में स्वतन्त्र ग्रन्थ भी माना जाता है।

लब्धिसार पर दो टीकाएँ हैं—(१) केशववर्णी कृत संस्कृत टीका तथा (२) टोडरमल्ल कृत हिन्दी टीका। केशववर्णी कृत टीका दर्शनलब्धि और चारित्र सन्धि पर है, जबकि हिन्दी टीका पूरे ग्रन्थ पर प्राप्त होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि नेमिचन्द्र रचित गोम्मटसार और लब्धिसार एक संग्रह ग्रन्थ हैं, जिनमें न केवल षट्खण्डागम एवं कषाय-पाहुड तथा उन टीकाओं के सार को ही संग्रहीत किया गया है अपितु उनकी तथा पंचसंग्रह की अधिकांश गाथाओं का संग्रह करके ग्रन्थ को एक विशिष्ट तथा व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया गया है।

परन्तु यह ग्रन्थ उक्त ग्रन्थों की अनुकृति नहीं है अपितु इसकी अपनी मौलिक विशिष्टता भी है जिसने इस ग्रन्थ को अति महत्त्वपूर्ण बना दिया है।

पंचसंग्रह

इस ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् १०७३ में हुई। यह ग्रन्थ १४५६ श्लोक प्रमाण है। ग्रन्थ के कर्ता अमितगति हैं। यह गोम्मटसार का संस्कृत रूपान्तर सा है। यह ग्रन्थ संस्कृत गद्य-पद्यात्मक है।

एक अन्य पंचसंग्रह प्राकृत भाषा में भी लिखा हुआ प्राप्त होता है, पर उसके मूल कर्ता और भाष्य-गाथाकार के नाम और समय दोनों ही अज्ञात हैं। इसमें १३२४ गाथायें हैं। गद्य भाग ५०० गाथा प्रमाण है।^१

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के कर्म-विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों के ऐतिहासिक स्वरूप को देखने से ऐसा लगता है कि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों के रचनाकाल तक कर्म सिद्धान्त की सभी महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ बन चुकी थीं। श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में उतनी सूक्ष्मता से प्रतिपादन नहीं हुआ है। एक अन्य मुख्य अन्तर, जो इन दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में है, वह कर्मसिद्धान्त के विवेचन की शैली से सम्बन्धित है। जहाँ दिगम्बर साहित्य में कर्म-विषयक तथ्यों को सूक्ष्म, गूढ़ एवं गम्भीर शैली में वर्णित किया गया है, वहीं श्वेताम्बर साहित्य में कर्म-विषयक तथ्य अपेक्षाकृत सरल, सुबोध एवं सुगम शैली में निरूपित किये गये हैं जिससे दिगम्बर साहित्य की तुलना में श्वेताम्बर साहित्य के कर्म-विषयक सन्दर्भों को सहज एवं स्वाभाविक रूप से समझा जा सकता है। कर्म-सिद्धान्त को एक सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने में दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों का विशेष योगदान है।



जैनकर्म-सिद्धान्त का स्वरूप

जैन दर्शन में कर्म-विषयक विवरणों के आधार पर निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि इसमें कर्मसिद्धान्त का सूक्ष्म विवेचन हुआ है। जैन दर्शन में कर्म-सिद्धान्त को जिस प्रकार सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया है वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। यहाँ मुख्य रूप से हमें यह देखना है कि जैन दर्शन में कर्म-सिद्धान्त के विविध पक्षों का विस्तृत एवं व्यवस्थित विवरण किस रूप में उपलब्ध होता है, साथ ही यह भी देखने का प्रयास किया जायेगा कि जैन कर्म-सिद्धान्त के विविध पक्षों का विकास कैसे-कैसे हुआ ? इस प्रकार इसमें कर्म-सिद्धान्त की विविध मान्यताओं को ऐतिहासिक क्रम में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जायेगा। जैने कर्मसिद्धान्त के स्वरूप के सन्दर्भ में डा० सागरमल जैन ने अपने ग्रन्थ 'जैन कर्म-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन' में विस्तृत चर्चा की है। प्रस्तुत विवेचन में हमारा उपजीव्य वही ग्रन्थ रहा है। यद्यपि अन्यत्र उपलब्ध सामग्री को भी आधार बनाया गया है।

कर्मसिद्धान्त की मौलिक स्वीकृतियाँ और फलितार्थ

कर्मसिद्धान्त यह मानकर चलता है कि जीव द्वारा किये हुए कर्मों का अपने फलों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। प्रत्येक कर्म कालक्रम में अपना फल अवश्य देता है। इसकी दूसरी मान्यता यह है कि पूर्वकृत कर्मों के फल का भोक्ता कर्म करने वाला व्यक्ति ही होता है अर्थात् पूर्ववर्ती कर्मों का कर्ता ही उसके भावी परिणामों का भोक्ता होता है।^१ जैन कर्मसिद्धान्त यह भी मानकर चलता है कि यदि जीव अपने किये हुए कर्मों के फल का भोग वर्तमान जीवन में नहीं कर पाता है तो उसे अपने कर्मों के फलोपभोग हेतु भावी जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार जैन कर्मसिद्धान्त के साथ पुनर्जन्म की अवधारणा भी जुड़ी हुई है।

कर्मसिद्धान्त की उपर्युक्त मान्यताओं के उल्लेख ईसापूर्व चतुर्थ एवं तृतीय शताब्दी में रचित आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन आदि में में तथा परवर्ती काल के जैनागम स्थानांग, भगवती आदि में उपलब्ध हो

१. डा० सागरमल जैन, जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २।

जाते हैं। आचारांग सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि “कामभोगों में आसक्त जन कर्मोंका संचय करते रहते हैं और उन कर्मों के फलस्वरूप वे पुनः पुनः जन्म धारण करते रहते हैं।”^१ इसमें “संसिञ्चमाणापुनरेंति गब्भं” शब्द कर्म और पुनर्जन्म की अवधारणा को इंगित करता है। इससे यह ध्वनित होता है कि पहले तो मनुष्य राग आदि निमित्तों से विविध प्रकार के कर्मों का बन्धन एवं संचय करते हैं एवं तदनन्तर उन कर्मों का काल परिपाक होने पर एक जन्म में उन कर्मों का फलोपभोग नहीं करने पर पुनः दूसरा जन्म धारण करते हैं। सूत्रकृतांग में कर्म और उसके फल के पारस्परिक सम्बन्ध को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि “जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसके अनुसार ही उसे उस जन्म या भावी जन्म में फल मिलता है।”^२ इस उल्लेख से कर्म और उसके फल के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध का तो स्पष्टीकरण होता ही है, साथ ही पुनर्जन्म सम्बन्धी मान्यता भी परिपुष्ट होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी उल्लेख है कि कर्म का कर्ता कर्मफल का भोग अनिवार्य रूप से करता है।^३ स्थानांगसूत्र के एक उल्लेख से भी कर्म-पुनर्जन्म की मान्यता का विकास परिलक्षित होता है, जहाँ स्पष्ट कहा गया है कि ‘इस लोक में किये हुए कर्मों के सुखदायी फल इस लोक में भी मिल सकते हैं अगर इस लोक में नहीं मिलते हैं तो परलोक में सुखदायी फल मिलते हैं।’^४ भगवती सूत्र में महावीर भी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ‘मनुष्य स्वकृत सुख-दुःख का भोग

१. कामेसु गिद्धा णिचयं करेंति

संसिञ्चमाणा पुनरेंति गब्भं ॥

आचारांगसूत्र, २/३/१३

२. जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं

तमेव आगच्छति संपराए ।

सगत् दुक्खं भवमज्जणिप्ता

वदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं ॥ सूत्रकृतांग, प्रथमश्रुतस्कन्ध, ५/२/२३

३. न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ

न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा ।

एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥

उत्तराध्ययन, १३/२३

४. इहलोगसुचिण्णाकम्मा इहलोग सुहफल विवाग संजुत्ता भवंति, इहलोग सुचिण्णाकम्मा परलोग विभाग संजुत्ता भवंति ॥

स्थानांग सूत्र, ४/२/७

करता है परकृत का नहीं।^१ इस उल्लेख से भी यह फलित होता है कि कर्मों का कर्ता ही उसके फलों का भोक्ता है।

इन उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन में कर्मसिद्धान्त की इन अवधारणाओं का विकास प्राचीन काल में हो गया था। अंग आगम में आचारांग एवं सूत्रकृतांग सर्वाधिक प्राचीन हैं और इनमें इन मान्यताओं का उल्लेख मिलना इनकी प्राचीनता का ज्वलन्त प्रमाण है।

जैन कर्मसिद्धान्त का ऐतिहासिक विकासक्रम

जागतिक वैविध्य की व्याख्या हेतु काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा इत्यादि वादों की मिथ्यावधारणाओं के परिहारार्थ जैन विद्वानों ने कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन किया। आचारांग सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि 'सुख या दुःख की उपलब्धि का कारण कर्म है। इससे यह फलित होता है कि प्राणियों में दृष्टिगत होनेवाली विविधता का कारण बाह्य तथ्य नहीं अपितु उनके अपने-अपने कर्म हैं। इसी प्रकार सूत्रकृतांग में भी कहा गया है कि 'प्राणियों की पारस्परिक विविधता का कारण कर्म है।'^२

इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि जैन कर्मसिद्धान्त के मूल बीज प्राचीन आगमों में संरक्षित हैं। प्राचीन जैनागम साहित्य के कुछ प्राचीन ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त के मूलभूत सिद्धान्त प्रतिपादित हुए और बाद के ग्रन्थों में जैन कर्मसिद्धान्त का सुव्यवस्थित रूप सामने आया।

जैन कर्मसिद्धान्त का समन्वयवादी दृष्टिकोण

जहाँ कालवाद के समर्थक काल को, स्वभाववाद के समर्थक स्वभाव को, नियतिवाद के समर्थक नियति को, यदृच्छावाद के समर्थक यदृच्छा को और ईश्वरवादी ईश्वर को जागतिक वैविध्य का एकमात्र कारण मानते हैं वहीं जैन दार्शनिक कर्म को जागतिक वैषम्य का मूल कारण मानते हैं और अपने कर्मसिद्धान्त में उपर्युक्त वादों का समन्वय स्थापित करते हैं।

कारण सम्बन्धी इन वादों को अलग-अलग लेकर इनके आधार पर यदि हम जागतिक वैविध्य की व्याख्या करने का प्रयत्न करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये वाद जागतिक वैविध्य को समोचीन व्याख्या दे पाने में

१. कम्मुणा उवाही जायइ ।

आयारो, ३/१/२०

२. जमिणं जगती पुढो जगा कम्मेहि लुप्पन्ति पाणिणो ।

सयमेव कडेहि गाह्णो तस्स मुच्चेज्ज पुट्ठयं ॥

सूत्रकृतांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, १/१/४

असमर्थ हैं। उदाहरण के लिए कालवाद की मान्यता के अनुसार यदि हम काल को ही सांसारिक जीवन के सुख एवं दुःख का एकमात्र कारण मानें तो यह कथन बहुत न्यायसंगत नहीं लगता, क्योंकि यदि वास्तव में काल ही सुख-दुःख का एकमात्र कारण होता है तो एक समय में प्रत्येक व्यक्ति को सुख-दुःख का अनुभव एक समान होना चाहिये। परन्तु व्यावहारिक जीवन में ऐसा दृष्टिगत नहीं होता, हम अक्सर एक ही समय में एक व्यक्ति को सुखी एवं दूसरे व्यक्ति को दुःखी देखते हैं। पुनः एकमात्र काल शुभ-अशुभ प्रकृतियों का प्रेरक भी नहीं हो सकता अन्यथा एक युग में सभी की एक समान प्रवृत्तियाँ होंगी। इस प्रकार काल सुख-दुःखात्मक अनुभूति का आधार नहीं हो सकता। इसी प्रकार विश्व-वैचित्र्य के कारण की व्याख्या स्वभाव के आधार पर भी नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में डा० सागरमल जैन का विचार है कि 'यदि हम यह मानें कि व्यक्ति की सद्-असद् प्रवृत्तियों का कारण या प्रेरक तत्त्व स्वभाव है और हम उसका अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं तो फिर किसी प्रकार का सुधार या प्रगति कैसे होगी।' ^१ इसी प्रकार नियति को कारण मानकर चलने पर व्यक्ति के स्वतन्त्र कर्तृत्व एवं पुरुषार्थ का कोई महत्त्व ही नहीं रहता है। ईश्वर को कारण मानकर चलने पर शुभाशुभ कर्मों हेतु किसी व्यक्ति-विशेष को उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार कर्मों के अनुसार उन्हें निन्दा या प्रशंसा का पात्र भी नहीं कहा जा सकता है। यदि यह मानकर चला जाय कि कोई भी घटना या कार्य अकस्मात् हो हो जाता है, अर्थात् उसका कारण यदृच्छावाद है तो फिर अपने विवेक के आधार पर किसी कर्म के सम्पादन में व्यक्ति की चयनात्मक स्वतन्त्रता का अपलाप होता है।

इस प्रकार ये समस्त वाद आनुभविक स्तर पर खरे नहीं उतरते हैं। काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, ईश्वर आदि कोई भी वाद निरपेक्ष रूप से जागतिक वैविध्य के युक्तिसंगत कारण प्रतीत नहीं होते हैं। इन वादों की भ्रान्त धारणाओं को दूर करने हेतु कर्मसिद्धान्त का उद्भव हुआ।

जैन कर्मसिद्धान्त में इन वादों को समन्वित करने का प्रयास किया गया है। जहाँ एक-दूसरे से स्वतन्त्र होकर ये वाद जागतिक वैविध्य को व्याख्या नहीं कर पाते हैं वहीं कर्मसिद्धान्त में परस्पर समन्वित होकर उसे समीचीन रूप से प्रस्तुत करते हैं।

जैन कर्मसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में कालवाद का स्थान कर्म के विपाक काल के रूप में है; क्योंकि प्रत्येक कर्म की विपाक की दृष्टि से एक निश्चित काल मर्यादा होती है और अपने विपाक काल में ही कर्मों में फल प्रदान करने की शक्ति होती है। प्रत्येक कर्म का अपना एक नियत स्वभाव होता है और वह स्वभाव के अनुसार फल प्रदान करता है। प्रत्येक कर्म-प्रकृति का अपना स्वभाव है और उसके अनुसार वे अपना फल देते हैं। किसी कर्म का फल सुखद होता है तो किसी का दुःखद। जैन दर्शन की यह भी मान्यता है कि कर्म का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है। यदि किसी कर्म का फल वर्तमान समय में नहीं मिलता है तो उसके लिए भावी जन्म लेना पड़ता है। इससे फलित होता है कि प्रत्येक कर्म का फल नियति क्रम में ही मिलता है, इस नियतिक्रम का व्यतिक्रम नहीं हो सकता है। इस रूप में कर्मसिद्धान्त में नियति का तत्त्व भी प्रविष्ट है। चूँकि कर्मसिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति स्वयं ही अपना निर्माता, नियन्ता और स्वामी है, इसलिए वह स्वयं ही ईश्वर भी है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन अनेक एकांगी धारणाओं के समन्वय के आधार पर अपना कर्म सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। आचार्य सिद्धसेन ने कहा है कि 'काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकर्म और पुरुषार्थ परस्पर निरपेक्ष रूप में कार्य की व्याख्या करने में अयथार्थ बन जाते हैं, जबकि यही सिद्धान्त परस्पर सापेक्ष रूप में समन्वित होकर कार्य की व्याख्या करने में सफल हो जाते हैं।'^१ इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि जैन कर्म सिद्धान्त काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा आदि वादों का अतिक्रमण नहीं करता बल्कि उन्हें विशिष्ट अर्थ प्रदान कर उनसे विशिष्ट समन्वय स्थापित करता है।

जैन दर्शन में कर्म शब्द का अर्थ

कर्म का साधारण अर्थ क्रिया होता है और वेदों से लेकर ब्राह्मण काल तक वैदिक परम्परा में कर्म का क्रियापरक अर्थ ही दृष्टिगत होता है, परन्तु जैन दर्शन में कर्म शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वैसे जैन दर्शन में क्रिया को ही कर्म कहा गया है और क्रिया में जीव की शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक तीनों ही प्रकार की क्रियाओं को समा-

१. सम्मति प्रकरण, ३।५३

उद्धृत, जैन बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम भाग, पृ० ३०३

१० : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

विष्ट किया गया है। वस्तुतः शरीर, मन और वाणी के निमित्त से जो कुछ भी किया जाता है उसे कर्म कहा गया है। शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक व्यापार को जैन दर्शन में योग कहा गया है और इस व्याख्या का जो हेतु है वही कर्म है। आचार्य देवेन्द्रसूरि कर्म की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि “जीव की क्रिया का जो हेतु है वह कर्म है।”^१ पण्डित सुखलाल जी कहते हैं कि “मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव द्वारा जो कुछ किया जाता है वही कर्म कहलाता है।”^२ इस प्रकार जैन दर्शन में क्रिया और क्रिया के हेतु या कारण दोनों को कर्म कहा गया है। कर्म सिद्धान्त में कर्म का तात्पर्य वे पुद्गल परमाणु (कर्म-वर्गणा) भी हैं जो किन्हीं क्रियाओं के परिणाम स्वरूप आत्मा को ओर आकर्षित होकर (आस्रव) कालक्रम में अपना फल प्रदान करते हैं और आत्मा में विशिष्ट मनोभाव उत्पन्न करते हैं।^३

कर्म का भौतिक स्वरूप

यहाँ कर्म के भौतिक स्वरूप से तात्पर्य उन कर्म-पुद्गलों से है जिनसे आत्मा का बन्ध होता है। जैन परम्परानुसार आत्मा का बन्धन स्वतः होता है अतः इसका कोई निमित्त कारण अवश्य होना चाहिये। बन्धन के हेतु कषाय, राग, द्वेष, मोह आदि मनोभाव भी आत्मा में स्वतः उत्पन्न नहीं होते अपितु कर्म-वर्गणा के विपाक के फलस्वरूप चेतना के सम्पर्क में आने पर ये तज्जनित मनोभाव बनते हैं। ये कर्म-पुद्गल प्राणी की क्रिया द्वारा उसकी ओर आकर्षित होते हैं, ये ही बन्धन के मूल कारण हैं। उदाहरण स्वरूप जिस प्रकार कुम्भार, चाक आदि निमित्त कारणों के बिना मिट्टी, स्वतः घट का निर्माण नहीं कर सकती, उसी प्रकार आत्मा किसी बाह्य निमित्त के बिना बन्धन में नहीं आ सकती। आत्मा के बन्धन में जिन बाह्य निमित्तों का योगदान है, उन्हें कर्म-वर्गणा के पुद्गल कहते

१. (क) कीरड़ जिएणं हेउहिं, जेण तो भण्णए कम्मं ।

कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, गाथा ?

(ख) विसय कसायहि रंगियहं जे अणुया लग्गंति ।

जीए एसहं मोहियहं ते जिण कम्म भणंति ॥

परमात्मप्रकाश, १/६२

उद्धृत, प्रथम कर्मग्रन्थ, व्याख्याकार मधुकर केसरी, पृ० ३१

२. दर्शन और चिन्तन, पृ० २२५

३. जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ११

हैं जैसे बीज और वृक्ष में पारस्परिक कार्य-कारण भाव है, वैसे ही आत्मा के बन्धन की दृष्टि से आत्मा की अशुद्ध मनोवृत्तियों (कषाय और मोह) और कर्म-वर्गणा के पुद्गलों में पारस्परिक सम्बन्ध है ।” वस्तुतः बन्धन की दृष्टि से जड़ कर्मपरमाणु और आत्मा में निमित्त और उपादान का सम्बन्ध है। कर्म-पुद्गल बन्धन के निमित्त कारण हैं और आत्मा उपादान कारण ।

इस प्रकार जैन आचार्यों ने एकान्त रूप से न तो आत्मा को बन्धन का कारण माना है और न ही कर्मपुद्गलों को, अपितु दोनों के पारस्परिक संयोग से आत्मा बन्धन में आता है—यह स्वीकार किया है ।

द्रव्यकर्म और भावकर्म

आत्मा के राग, द्वेष, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद एवं कषाय आदि परिणाम भावकर्म कहलाते हैं और उनके फलस्वरूप जो कर्मण-वर्गणा के पुद्गल आते हैं और राग-द्वेष के निमित्त से आत्मा के साथ बँधते हैं, उन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि “आत्मा में होने वाले मानसिक विचार भावकर्म हैं और आत्मा में होने वाला मानसिक विचार जिसके निमित्त से होता है वह द्रव्यकर्म कहलाता है” ।^१ आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती लिखते हैं कि “पुद्गल पिण्ड द्रव्यकर्म और उसकी चेतना को प्रभावित करने वाली शक्ति भावकर्म है ।”^२ पण्डित दलसुख मालवणिया लिखते हैं कि भावकर्म अर्थात् जीव की क्रिया द्वारा जो अजीव पुद्गल द्रव्य आत्मा के संसर्ग में आकर आत्मा को बन्धन में बाँध देता है, उसे द्रव्यकर्म कहते हैं ।^३ इन उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि जीव की क्रिया भावकर्म है और उसके फलस्वरूप आत्मा के कर्म-पुद्गलों का बन्ध द्रव्यकर्म है ।

द्रव्य एवं भावकर्म का सम्बन्ध

द्रव्यकर्म और भावकर्म के स्वरूप पर विचार करने पर यही लगता है कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं तथा ये दोनों एक दूसरे से इतने घुले-मिले हैं कि इनमें से किसी एक के अभाव में दूसरे की कल्पना ही नहीं हो सकती । द्रव्य एवं भावकर्म के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए

१. जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन पृ० १३

२. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ६, पृ० ८

३. आत्ममीमांसा, पृ० ९५, ९६

पण्डित सुखलाल जी लिखते हैं कि “भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म के होने में भावकर्म निमित्त है। इन दोनों का आपस में बीजांकुर की तरह कार्य कारण भाव सम्बन्ध है।”^१ पण्डित मालवणिया जी लिखते हैं कि “भावकर्म कारण है और द्रव्यकर्म कार्य है किन्तु यह कार्य-कारणभाव मुर्गी और उसके अण्डे के कार्य-कारणभाव के सदृश है। मुर्गी से अण्डा होता है अतः मुर्गी कारण है और अण्डा कार्य। यदि कोई व्यक्ति प्रश्न करे कि पहले मुर्गी थी या अण्डा, तो इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता, यह सत्य है कि अण्डा मुर्गी से होता है परन्तु मुर्गी भी अण्डे से उत्पन्न हुई है। अतः दोनों में कार्य-कारण भाव तो है परन्तु दोनों में पहले कौन ? यह नहीं कहा जा सकता। संतति की अपेक्षा से इनका पारस्परिक कार्य कारणभाव अनादि है।”^२

कभी-कभी भावकर्म के सम्बन्ध में यह शंका उपस्थित होती है कि वास्तव में जीव की किन क्रियाओं को भावकर्म कहा जाय ? क्या क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय जो आत्मा के अभ्यन्तर परिणाम हैं, भावकर्म हैं ? अथवा राग, द्वेष, मोह, रूप आत्मा के अभ्यन्तर परिणाम भावकर्म हैं ? चूँकि संसारी आत्मा सदैव शरीर सहित होती है अतएव उनमें स्वाभाविक रूप से निरन्तर उक्त परिणामों का होना अवश्यम्भावी है। कषाय एवं राग-द्वेष तथा मोह में कोई मौलिक भेद नहीं है इनसे लगभग एक ही अर्थ प्रतिध्वनित होता है। इसे स्पष्ट करते हुए पण्डित मालवणिया का कथन है कि “जैसे कपड़े और उसके रंग को भिन्न-भिन्न भी कहते हैं, वैसे ही आत्मा की इस प्रवृत्ति के भी दो नाम हैं—योग और कषाय। रंग से हीन कोरा कपड़ा एकरूप ही होता है इसी प्रकार कषाय के रंग से विहीन मन, वचन और काय की प्रवृत्ति एक रूप होती है।”^३ इससे यह स्पष्ट होता है कि कषाय एवं राग, द्वेष तथा मोह में कोई सैद्धान्तिक भेद नहीं है।

जहाँ तक यह स्पष्ट करने की बात है कि कौन-सी क्रियायें भावकर्म हैं, मुख्य रूप से कषाय को ही भावकर्म कहते हैं। क्योंकि इससे कर्मों का बन्धन दृढ़ होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है क्रोध, मान, माया,

१. कर्मविपाक भूमिका, पृ० २४

२. आत्ममीमांसा, पृ० ९६

३. आत्ममीमांसा, पण्डित दलसुखभाई मालवणिया, पृ० ९८।

लोभ ये चार कषाय अथवा राग, द्वेष एवं मोह^१ भावकर्म हैं और इनके निमित्त से कर्मपुद्गलों का आत्मा के सान्निध्य में आकर नीर-क्षीरवत् हो जाना द्रव्यकर्म है ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि द्रव्य एवं भावकर्म का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । मात्र व्यावहारिक दृष्टि से ही इन दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है । यदि हम इनके पारस्परिक सम्बन्ध को न मानें और इन्हें पूर्णतया एक-दूसरे से पृथक् मानें तो ऐसा सम्भव ही नहीं हो सकता; क्योंकि दोनों एक-दूसरे से अभिन्न हैं । यदि भावकर्म द्रव्यकर्म के बन्धन में सहायक है तो द्रव्यकर्म भी विविध प्रकार के मानसिक विचाररूप भावकर्म का उत्प्रेरक है, अर्थात् द्रव्यकर्म के कारण ही आत्मा में विविध प्रकार के विचार (भाव) उत्पन्न होते हैं और इन भावों से द्रव्यकर्म का बन्धन होता है । इस प्रकार दोनों एक-दूसरे की उत्पत्ति के कारक कहे जा सकते हैं ।

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म की उत्पत्ति होती है । परन्तु भावकर्म की उत्पत्ति में द्रव्यकर्म कितना सहायक है ? यह प्रश्न विचारणीय है । इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए पण्डित दलसुख मालवणिया लिखते हैं कि 'यदि द्रव्यकर्म के अभाव में भी भावकर्म की उत्पत्ति सम्भव हो तो मुक्त जीवों में भी भावकर्म का प्रादुर्भाव होगा और उन्हें फिर संसार में आना होगा । फिर संसार और मोक्ष में कुछ भी अन्तर न रह जायेगा । जैसी बन्धन-योग्यता संसारी जीव की है वैसी ही मुक्त जीव में माननी पड़ेगी । ऐसी दशा में कोई भी व्यक्ति मुक्त होने के लिए क्यों प्रयत्नशील होगा ? अतः हमें स्वीकार करना होगा कि मुक्त जीव में द्रव्यकर्म न होने के कारण भावकर्म भी नहीं है और द्रव्यकर्म के होने के कारण ही संसारी जीव में भावकर्म की उत्पत्ति होती है ।'^२ इस उल्लेख से भी द्रव्यकर्म एवं भावकर्म के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है, साथ ही यह भी फलित होता है कि इनमें से एक के अभाव में दूसरे की कल्पना असम्भव है ।

कर्म के सामान्य स्वरूप को इंगित करने वाले द्रव्यकर्म एवं भावकर्म के विस्तृत विवेचन के पश्चात् अब कर्म की मूल एवं उनकी उत्तरप्रकृतियों के ऐतिहासिक विकास पर दृष्टिपात किया जायेगा ।

१. उत्तराभ्ययन सूत्र, ३२/७ ।

२. आत्ममीमांसा, पृ० ९७ ।

कर्मप्रकृतियों के विकास की एक ऐतिहासिक रूपरेखा

इस प्रसंग में मुख्य रूप से कर्म की मूल एवं उनकी उत्तरप्रकृतियों के विकास को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया गया है। दूसरे शब्दों में, इसमें यह जानने का प्रयास किया गया है कि कर्म की मूल एवं उनकी उत्तरप्रकृतियों का विकास कैसे-कैसे हुआ है? अर्थात् सर्वाधिक प्राचीन जैनग्रन्थों में कर्मप्रकृतियों के कौन से रूप दृष्टिगत होते हैं और क्रमशः बाद में उनके स्वरूप में किस प्रकार के परिवर्तन-परिवर्द्धन होते हैं और अन्त में किस काल के ग्रन्थों में इनका पूर्ण विकसित स्वरूप दृष्टिगत होता है? तदनन्तर कर्म की मूल एवं उनकी उत्तरप्रकृतियों का दार्शनिक विवरण प्रस्तुत किया गया है।

जैन ग्रन्थों में कर्मप्रकृतियों का वर्णन अत्यन्त विस्तृत रूप में हुआ है। ऐतिहासिक विकासक्रम के दृष्टिकोण से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन जैन आगम ग्रन्थ आचारांग एवं सूत्रकृतांग में कर्मप्रकृतियों का कोई उल्लेख नहीं है। यद्यपि कर्मसिद्धान्त की मूलभूत अवधारणा इनमें पायी जाती है—जैसे कर्म बन्धन है, व्यक्ति को उसके शुभाशुभ कर्म का फल मिलता है, अप्रमत्त भाव से किया गया कर्मबन्धन कारक नहीं है आदि।

स्थानांग सूत्र में कर्म की आठ मूलप्रकृतियों का तो विवरण है पर उनकी उत्तरप्रकृतियों का विस्तृत उल्लेख नहीं है। इसमें ज्ञानावरणीयकर्म के दो भेद दृष्टिगत होते हैं—(१) मतिज्ञानादि को ढकने वाला देशज्ञानावरणीय और (२) केवलज्ञान को ढकनेवाला सर्वज्ञानावरणीय।^१ उक्त दो भेद दर्शनावरणीयकर्म के भी किये गये हैं, यथा—(१) देशदर्शनज्ञानावरणीय एवं (२) केवलदर्शनावरणीय। इसी प्रकार वेदनीयकर्म के साता, असाता; मोहनीयकर्म के दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय; आयुकर्म के (१) अध्वायुष्य (जो मनुष्य और तिर्यञ्चों को होता है) तथा (२) भवायुष्य (जो देवों और नारकों को होता है); नामकर्म के (१) शुभनामकर्म एवं (२) अशुभनामकर्म; गोत्रकर्म के (१) उच्च गोत्रकर्म और नीच गोत्रकर्म; और अन्तराय कर्म के भी दो भेद दृष्टिगत होते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि आचारांग एवं सूत्रकृतांग की तुलना में स्थानांग सूत्र में कर्म-

१. णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे ५० ते० देसणावरणिज्जे चेव सब्बणाणावर-
जिज्जेचेव ।
स्थानांगसूत्र २/४/१२ ।

प्रकृतियों की चर्चा कुछ विकसित है, परन्तु इसमें भी कर्म की सभी उत्तर-प्रकृतियों का पूर्ण उल्लेख नहीं है। प्रथम बार समवायांग सूत्र में दर्शनावरणीय कर्म की ९ उत्तरप्रकृतियों के उल्लेख मिलते हैं, यथा—निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण।^१

इसमें चारित्र मोहनीयकर्म के दो भेदों—कषायमोहनीय एवं नोकषाय-मोहनीय में कषायमोहनीय कर्म के १६ अवान्तर भेदों के भी उल्लेख दृष्टिगत होते हैं, जैसे—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ, एवं संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।^२

इसी प्रकार इसमें नामकर्म की १४ पिण्ड प्रकृतियों एवं २८ प्रत्येक प्रकृतियों के उल्लेख से नामकर्म के ४२ भेदों की भी चर्चा है।^३ समवायांग सूत्र में ज्ञानावरणीय कर्म की ५, वेदनीय की २, आयु की चार, नामकर्म की ४२ और अन्तरायकर्म की ५, इस प्रकार ५८ उत्तरप्रकृतियों की चर्चा उपलब्ध होती है।^४ इससे यह फलित होता है कि समवायांग सूत्र के रचनाकाल तक उक्त कर्मों की उत्तरप्रकृतियों की पूर्ण अवधारणा बन चुकी थी।

समवायांग सूत्र में कर्म की अधिकांश उत्तरप्रकृतियों की चर्चा है, किन्तु इसमें दर्शनावरणीयकर्म की ९, एवं चारित्र मोहनीयकर्म के १६ नामों तथा नामकर्म के ४२ भेदों को छोड़कर अन्य शेष कर्मों की उत्तर-प्रकृतियों के नाम निर्देश नहीं हैं।

भगवतीसूत्र में कर्मों की मात्र आठ मूलप्रकृतियों का ही उल्लेख है।^५ अंगसाहित्य के अन्य ग्रन्थों में कर्मप्रकृतियों की कोई विशिष्ट चर्चा नहीं है।

१. दंसणावरणिज्जस्स णं कम्मस्स नव उत्तरपगडीओ पण्णत्ताओ तं जहानिद्दा, पयला, निद्दानिद्दा, पयलापयला, थीणद्धी, चक्खुदंसणावरणे, अचक्खु-दंसणावरणे, ओहिदंसणावरणे, केवलदर्शनावरणे।—समवायांग सूत्र, ९/५८

२. वही, १६/१११

३. वही, ४२/२५१

४. णाणावरणिज्जस्स वेयणिय-आउय, नाम, अंतराइयस्स एएणि णं पंचण्हं कम्मपगडीयं अट्ठावन्नं उत्तरपगडीओ पण्णत्ताओ।

समवायांग सूत्र, ५८/३०४

५. भगवती सूत्र, १/४/१४६-१५३

उपांगों में मुख्य रूप से प्रज्ञापना में कर्म की मूल एवं उनकी उत्तर-प्रकृतियों का पूर्ण विवरण है।^१

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अंग साहित्य के समवायांग सूत्र में कर्म की जिन उत्तरप्रकृतियों की चर्चा नहीं है उनकी विस्तृत चर्चा प्रज्ञापना सूत्र में है।

उत्तराध्ययन सूत्र में भी कर्म की आठ मूल प्रकृतियों एवं उनकी उत्तर-प्रकृतियों की संख्या निर्दिष्ट है, पर मोहनीय कर्म एवं नामकर्म की उत्तर-प्रकृतियों के पूर्ण उल्लेख नहीं हैं।^२ समवायांग और उत्तराध्ययन की कर्म-प्रकृतियों की चर्चा में बहुत कुछ समानता है।

जहाँ तक कर्मप्रकृतियों के सुव्यवस्थित विवरण का प्रश्न है, इनकी विस्तृत एवं सुव्यवस्थित चर्चा हमें कर्मसाहित्य के स्वतन्त्र ग्रन्थों में देखने को मिलती है। षट्खण्डागम के जीवस्थान की प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक चूलिका में इनका परिपूर्ण विकसित स्वरूप दृष्टिगत होता है।^३

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भी कर्म की मूल एवं उनकी उत्तरप्रकृतियों का पूर्ण उल्लेख है।^४ श्वेताम्बर परम्परा के देवेन्द्रसूरिविरचित कर्मविपाक नामक प्रथम कर्मग्रन्थ में भी सभी कर्मप्रकृतियों की चर्चा है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जैन साहित्य में कर्म की आठ मूलप्रकृतियों एवं उनकी सभी उत्तरप्रकृतियों की पूरी अवधारणा क्रमशः विकसित हुई।

कर्मप्रकृतियों के ऐतिहासिक विकास क्रम को समझने के बाद अब उनके स्वरूप का एक दार्शनिक चित्रण प्रस्तुत किया जा रहा है।

कर्म की मूल एवं उनकी उत्तरप्रकृतियों का विवेचन श्रीमद् देवेन्द्र सूरि विरचित 'कर्मविपाक' नामक कर्मग्रन्थ (प्रथम भाग) जिसके व्याख्याकार मरुधरकेसरी प्रवर्तक मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज हैं, के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

जैन विचारणा के अनुसार कर्म आठ प्रकार के होते हैं, जो इस प्रकार

१. प्रज्ञापना सूत्र, २३/२-१०

२. उत्तराध्ययन सूत्र, ३३/१-१५

३. षट्खण्डागम, जीवस्थान चूलिका, पुस्तक ६, भाग ९, सूत्र ५-४६

४. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा, ८, २२

हैं—१. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अन्तराय ।^१

१. ज्ञानावरणीयकर्म

यह कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को आच्छादित करता है। जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को आवरित करते हैं जिससे सूर्य का प्रकाश तिरोहित हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा की सहज ज्ञान की उपलब्धि में बाधक होता है जिससे आत्मा का ज्ञान प्रकट नहीं होने पाता ।^२ यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि ज्ञानावरणीयकर्म, मात्र आत्मा के ज्ञान का आवरण करता है जिससे उसके प्रभाव से आत्मा को पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानने में कठिनाई होती है। यद्यपि ऐसा भी नहीं है कि ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के समग्र ज्ञान का समूलोच्छेद करता हो, जैसे—घने बादलों से सूर्य के ढक जाने पर भी दिन-रात का भेद कराने वाले सूर्य का कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य बना रहता है उसी प्रकार कर्मों का कैसा भी गाढ़ आवरण हो जाय लेकिन आत्मा को कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य रहता है ।^३ इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म के उदय से जीव के ज्ञानदर्शन का मात्र आवरण होता है। जीव के वे ज्ञान-दर्शन, रूपगुण पूर्णतया नष्ट नहीं होते ।

२. दर्शनावरणीयकर्म

यह कर्म जीव के दर्शनगुण को आच्छादित करता है जिसके परिणाम-स्वरूप जीव पदार्थ का यथार्थ दर्शन नहीं कर पाता। सामान्यतया इस कर्म की तुलना दरवाजे पर खड़े द्वारपाल से की जा सकती है जो राजा के दर्शन में बाधक बनता है। इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म व्यक्ति के ऐन्द्रिक-संवेदन में बाधक बनता है।

१. (क) अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ तंजहा णाणावरणिज्जं, दरिसणावरणिज्जं, वेयणिज्जं, मोहणिज्जं, आउयं, णामं, गोत्तं, अन्तराइयं ।

प्रज्ञापना, २१/१/२८८

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, ३२/२-३, ३३/२३

(ग) तत्त्वार्थ सूत्र, ८/५

२. जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ६८

३. कर्मग्रन्थ, मरुवरकेसरी प्रवर्तक मिश्रीमल, पृ० ५७-५८

१८ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

३. वेदनीयकर्म

जिस कर्म के कारण सांसारिक सुख-दुःख की संवेदना होती है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

४. मोहनीयकर्म

जिन कर्मपरमाणुओं से आत्मा की विवेक शक्ति कुण्ठित होती है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं, जैसे—मदिरा आदि नशीली वस्तुओं के सेवन से व्यक्ति का विवेक और चरित्र दूषित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार मोहनीय कर्म के कारण व्यक्ति की दृष्टि और आचरण दूषित हो जाता है।

५. आयुष्यकर्म

यह वह कर्म है जिसके उदय से जीव जीता है तथा क्षय होने से मरता है।

६. नामकर्म

जिस कर्म के कारण जीव नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि विविध शरीर धारण करता है, उसे नामकर्म कहते हैं। दूसरे शब्दों में नामकर्म जीव के व्यक्तित्व का एक प्रमुख निर्धारक तत्त्व है।

७. गोत्रकर्म

जिस कर्म के कारण जीव उच्च अथवा नीच कुल में जन्म लेता है उसे गोत्रकर्म कहते हैं।

८. अन्तरायकर्म

इस कर्म के प्रभाव से आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य रूप शक्तियों का घात होता है।

इन आठ कर्मों के घाती एवं अघाती रूप दो भेद हैं। इनमें प्रथम-चार घाती कर्म हैं जिनसे आत्मा के गुणों का घात होता है और शेष चार अघाती कर्म हैं जो आत्मा के गुणों का घात नहीं करते। पण्डित मालव-णिया कहते हैं कि 'घाती कर्म आत्मा के स्वरूप का घात करते हैं और अघाती कर्म उसे वह रूप देते हैं जो उसका निजी गुण नहीं है।'

१. (क) आत्ममीमांसा, पृ० १२०

(ख) कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० १५

कर्म की मूलप्रकृतियों के स्वरूप पर संक्षेप में प्रकाश डालने के पश्चात् अब उनकी उत्तरप्रकृतियों के सामान्य स्वरूप का भी अवलोकन किया जायेगा ।

१. ज्ञानावरणीयकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ

ज्ञानावरणीयकर्म ५ प्रकार के होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. मतिज्ञानावरण, २. श्रुतज्ञानावरण, ३. अवधिज्ञानावरण,
४. मनःपर्यायज्ञानावरण, ५. केवलज्ञानावरण ।^१

१. मतिज्ञानावरणकर्म

जो ज्ञान मन और इन्द्रियों की सहायता से होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं तथा इस ज्ञान को आवरित करने वाले कर्म को मतिज्ञानावरण कर्म कहते हैं ।

२. श्रुतज्ञानावरणकर्म

शब्द को सुनकर उसके अर्थ का ज्ञान होना श्रुतज्ञान है तथा ऐसे ज्ञान को आवरित करने वाले कर्म को श्रुतज्ञानावरणकर्म कहते हैं ।

३. अवधिज्ञानावरणकर्म

मन और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखते हुए केवल इन्द्रियों के द्वारा रूपी अर्थात् मूर्तद्रव्य का जो ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं और जो कर्म ऐसे ज्ञान का आवरण करता है उसे अवधिज्ञानावरण कर्म कहते हैं ।

४. मनःपर्यायज्ञानावरणकर्म

इन्द्रियों एवं मन की अपेक्षा न रखते हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानना मनःपर्यायज्ञान कहलाता है तथा इस ज्ञान को आवरित करने वाले कर्म को मनःपर्यायज्ञानावरण कर्म कहते हैं ।

५. केवलज्ञानावरणकर्म

जो ज्ञान किसी की सहायता के बिना सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों को विषय करता है अर्थात् जिस ज्ञान के लिए मन, इन्द्रिय तथा देह एवं वैज्ञानिक

१. (क) नाणावरणं पंचविहं सुयं आभिणिबोहियं ।

ओहिनाणं तइयं, मणनाणं च केवलं ॥

उत्तरा०, ३३/४

(ख) स्थानांगसूत्र, ५/३/४६४

(ग) मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलनाम् ॥

तत्त्वार्थ सूत्र, ८/६

यंत्रों की आवश्यकता नहीं रहती, वह बिना किसी की सहायता के रूपी, अरूपी, मूर्त, अमूर्त सभी को प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है, ऐसे ज्ञान को केवल ज्ञान कहते हैं।^१ इस ज्ञान के अवरोध करने वाले कर्म को केवलज्ञानावरण कर्म कहते हैं।

दर्शनावरणीयकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ

दर्शनावरणीय कर्म की ९ उत्तरप्रकृतियाँ हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. चक्षुदर्शनावरण, २. अचक्षुदर्शनावरण, ३. अवधिदर्शनावरण, ४. केवलदर्शनावरण, ५. निद्रा, ६. निद्रानिद्रा, ७. प्रचला, ८. प्रचला-प्रचला, ९. स्त्यानगृद्धि^२

१. चक्षुदर्शनावरणकर्म

आँख द्वारा पदार्थों के सामान्य धर्म के ग्रहण को चक्षुदर्शन कहते हैं तथा इस दर्शन को आवरित करने वाले कर्म चक्षुदर्शनावरण कर्म कहलाते हैं।

२. अचक्षुदर्शनावरणकर्म

चक्षुरेन्द्रिय को छोड़कर अन्य इन्द्रियों तथा मन से पदार्थ के सामान्य स्वरूप का जो संवेदन होता है, उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं तथा ऐसे दर्शन को आच्छादित करने वाले कर्म को अचक्षुदर्शनावरण कर्म कहते हैं।

३. अवधिदर्शनावरणकर्म

इन्द्रिय और मन की बिना सहायता लिए आत्मा द्वारा रूपी पदार्थों का सामान्य बोध होना अवधिदर्शन है तथा उनके अवरोधक कर्म अवधिदर्शनावरण कर्म हैं।

४. केवलदर्शनावरणकर्म

भूत, भविष्य एवं वर्तमान में होने वाली घटनाओं का सामान्यावबोध

१. कर्मग्रन्थ (प्रथम भाग), पृ० २० ।

२. (क) णावविधे दरिसणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा निद्रा, निद्रानिद्रा, पयला, पयलापयला थीणगिद्धि, चक्खुदंसणावरणे, अचक्खुदंसणावरणे, ओहिदंसनावरणे, केवलदंसनावरणे । स्थानांगसूत्र, ९/६६८

(ख) उत्तराध्ययन, ३३/५-६

(ग) तत्त्वार्थसूत्र, ८/७

(घ) कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, १०, ११, १२

केवलदर्शन कहलाता है और ऐसे दर्शन को आवरित करने वाला कर्म केवलदर्शनावरण कर्म है ।

५. निद्रा

जो सोया हुआ प्राणी थोड़ी ही आवाज देने पर जग जाता है या जिसे जगाने में विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता, ऐसी नींद को निद्रा कहते हैं तथा जिस कर्म के अभ्युदय से इस प्रकार की नींद आती है उस कर्म का नाम निद्रा है ।

६. निद्रा-निद्रा

जो सोया हुआ प्राणी बड़े जोर से चिल्लाने, हाथ से जोर से हिलाने आदि प्रक्रिया से बड़ी मुश्किल से जगता है, उसकी नींद एवं तन्निमित्तक कर्म दोनों को निद्रा-निद्रा कहते हैं ।^१

७. प्रचला

खड़े-खड़े या बैठे-बैठे नींद लेने का नाम प्रचला है तथा उसका हेतुभूत कर्म भी प्रचला कहलाता है ।

८. प्रचला-प्रचला

चलते-फिरते नींद लेने का नाम प्रचला-प्रचला है तथा जिस कर्म के कारण प्रायः ऐसी नींद आती है, उस कर्म को प्रचला-प्रचला कहते हैं ।

९. स्त्यानगृद्धि

दिन अथवा रात्रि में सोचे हुए कार्य-विशेष को सुप्तावस्था में सम्पन्न करने की सामर्थ्य उत्पन्न होना स्त्यानगृद्धि है ।

वेदनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ

वेदनीय कर्म साता एवं असाता के भेद से दो प्रकार का होता है ।^२

१. सातावेदनीयकर्म

जिस कर्म के उदय से प्राणी को अनुकूल विषयों की प्राप्ति से सुख का अनुभव होता है उसे सातावेदनीयकर्म कहते हैं ।

१. दर्शनावरणीयकर्म की उत्तरप्रकृतियों के विस्तृत विवरण के लिए देखें—कर्म-ग्रन्थ, प्रथमभाग, गाथा १०-१२

२. (क) सायावेदणिज्जेय असायावेऊणिज्जेय । प्रज्ञापना २३/२/२९३

(ख) वेयणीयं पि य दुविहं सायमसायं च आहियं । उत्तराध्ययन सूत्र ३३/७

(ग) सदसद्वेद्ये ।

तत्त्वार्थसूत्र, ८/८

२. असाता-वेदनीयकर्म

इसके ठीक विपरीत जिसके कारण प्रतिकूल दिषयों की प्राप्ति से मनुष्य को दुःखानुभूति होती है उसे असातावेदनीयकर्म कहते हैं।

आचार्य देवेन्द्रसूरि के अनुसार देव और मनुष्य गति में प्रायः साता-वेदनीय कर्म का और तिर्यंच और नारकगति में असातावेदनीयकर्म का उदय होता है।^१ इनका यह भी कहना है कि देव और मनुष्य गतियों में भी असातावेदनीयकर्म का उदय सम्भव हो सकता है भले ही वह उदय बहुत अल्पांश ही क्यों न हो। इसी प्रकार नरक एवं तिर्यंच गति में सातावेदनीयकर्म का भी उदय हो सकता है। देव एवं तिर्यंच गतियों में क्रमशः सातावेदनीय एवं असातावेदनीय कर्मों के उदय को स्पष्ट करते हुए कर्मग्रन्थ में कहा गया है कि 'बहुत से देवों के देवगति से च्युत होने के समय अपनी ऋद्धि की अपेक्षा अन्य देवों की विशाल ऋद्धि को देखने से जो ईर्ष्या, मात्सर्य आदि का प्रादुर्भाव होता है, उसका कारण असाता-वेदनीयकर्म है। इसी प्रकार तिर्यंचों में किन्हीं-किन्हीं हाथी, घोड़े एवं कुत्ते आदि जीवों का जो बड़े लाड़-प्यार से लालन-पालन होता है, उसका कारण उनके सातावेदनीयकर्म का उदय है।'^२

अन्त में हम कह सकते हैं कि कर्म महत्त्वपूर्ण निर्णायक तत्त्व है। उसके उदय की कोई सीमा रेखा नहीं है कि वह अमुक गतियों में ही उदय में आयेगा। बल्कि कर्मानुसार वह विभिन्न गतियों में अपना प्रभाव दिखाने में सक्षम है।

मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ

मोहनीयकर्म दो प्रकार का है—

१. दर्शनमोहनीय, और २. चारित्रमोहनीय।^३

यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा का नाम दर्शन है तथा व्यक्ति की यथार्थ दृष्टि या यथार्थ श्रद्धा को दूषित करने वाला कर्म दर्शन मोहनीयकर्म है।

१. ओसन्नं सुरमणुए सायमसायं तु तिरियनरएसु ।

कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, गाथा १३

२. वही, पृ० ६७

३. (क) मोहणिज्जे णं भंते । कम्मे कतिविधे पणत्ते ? गोयमा दुविहे पणत्ते, तं जहा दंसणमोहणिज्जे य चरित्तमोहणिज्जे ।—प्रज्ञापना, २३/२

(ख) मोहणिज्जं पि दुविहं दंसणे चरणे तहा ।—उत्तराव्ययन, ३३/८

जिसके द्वारा आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करता है उसे चारित्र कहते हैं तथा आत्मा के इस चारित्र गुण के घातक कर्म को चारित्रमोहनीयकर्म कहते हैं।

दर्शनमोहनीयकर्म के पुनः तीन भेद हैं—

१. सम्यक्त्वमोहनीय, २. मिथ्यात्वमोहनीय, और
३. मिश्रमोहनीय।^१

सम्यक्त्वमोहनीय कर्म में जीव आंशिक सम्यक्त्व ग्रहण करता है, परन्तु मोहनीय कर्म की क्रमिक प्रबलता के कारण उसका वह सम्यक्त्व घूमिल होने लगता है, अर्थात् तत्त्वों के वास्तविक श्रद्धान में उसकी रुचि कम होने लगती है। दूसरे शब्दों में सम्यक्त्वमोहनीय कर्म में कुछ क्षण हेतु जीव में सम्यक्त्व की व्युत्पत्ति होती है पर कर्म की मोहनीय शक्ति की प्रगाढ़ता से उस सम्यक्त्व में मलिनता आ जाती है जिसके फलस्वरूप यथार्थतत्त्व-श्रद्धा स्थिर नहीं हो पाती।

मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से जीव की तत्त्व श्रद्धा मिथ्या होती है अर्थात् वह सत्य को असत्य तथा असत्य को सत्य मानता है। इस कर्म वाले प्राणी में हित को अहित रूप एवं अहित को हित रूप समझने की प्रवृत्ति होती है।

मिश्र मोहनीय कर्म को सम्यक्त्वमिथ्यात्व मोहनीय के नाम से भी जाना जाता है। यह सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व का समन्वित रूप है, अर्थात् ऐसे कर्मों के उदय से जीव में पदार्थ के वास्तविक गुण धर्मों को जानने-समझने में न तो विशेष रुचि ही होती है और न अरुचि ही अर्थात् उसकी दोलायमान स्थिति रहती है। यह संशयात्मक अवस्था है, जिसमें व्यक्ति कभी सत्य की ओर झुकता है और कभी असत्य की ओर।

मोहनीय कर्म का दूसरा मुख्य भेद चारित्रमोहनीय कर्म है। इसके

१. (क) दंसणमोहणिज्जेणं भन्ते ! कम्मे कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते तंजहा सम्मत्तवेयणिज्ज, मिच्छत्तवेयणिज्जे, सम्मामिच्छत्त-वेयणिज्जे ।—प्रज्ञापना, २३/२

(ख) उत्तराध्ययन, ३३/९

(ग) कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, गाथा १४

मुख्य रूप से दो भेद हैं—(१) कषायमोहनीय, एवं (२) नोकषायमोहनीय ।^१
कषायमोहनीय के पुनः १६ अवान्तर भेद हैं जो इस प्रकार हैं—

१. अनन्तानुबन्धी क्रोध, २. अनन्तानुबन्धी मान, ३. अनन्तानुबन्धी माया, ४. अनन्तानुबन्धी लोभ, ५. अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, ६. अप्रत्याख्यानावरण मान, ७. अप्रत्याख्यानावरण माया, ८. अप्रत्याख्यानावरण लोभ, ९. प्रत्याख्यानावरण क्रोध, १०. प्रत्याख्यानावरण मान, ११. प्रत्याख्यानावरण माया, १२. प्रत्याख्यानावरण लोभ, १३. संज्वलन क्रोध, १४. संज्वलन मान, १५. संज्वलन माया, १६. संज्वलन लोभ ।^२

चारित्र्यमोहनीय कर्म के दूसरे भेद नोकषायमोहनीय के ९ भेद हैं—

१. स्त्रीवेद, २. पुरुषवेद, ३. नपुंसकवेद, ४. हास्य, ५. रति, ६. अरति, ७. भय, ८. शोक, ९. जुगुप्सा ।^३

यहाँ कषाय से अभिप्राय आत्मा के स्वाभाविक गुणों को कृश करके या उन्हें नष्ट करके उनके स्थान पर वैभाविक विकारों को उत्पन्न करने से है। क्रोध, मान, माया एवं लोभ ये कषाय के चार भेद हैं जो आत्मा की वैभाविक या विकार दशा के सूचक हैं। विशेषावश्यक भाष्य में कहा गया है कि “कष् का अर्थ जन्म-मरण रूप संसार अर्थात् जन्म-मरण रूप संसार की आय अर्थात् प्राप्ति जिससे होती है वह कषाय है ।”^४

१. (क) चारित्र्यमोहणं कम्मं दुविहं तु वियाहियं ।

कसायमोहणिज्जं तु नोकसायं तहेव य ॥ उत्तराध्ययन सूत्र, ३३।१०

(ख) प्रज्ञापना, २३।२ ।

२. कसायवेदणिज्जे णं भंते । कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! सोलस विधे पण्णत्ते, तं जहा—अणंताणुबन्धीकोहे, अणंताणुबन्धी माणे, अणंताणुबन्धी माया, अणंताणुबन्धी लोभे । अपच्चक्खाणे कोहे णेव माणेमायालोभे.....संजलणा कोहे एहां माणेमायालोभे । प्रज्ञापना कर्मबन्ध पद २३।२

३. नोकषाय वेयणिज्जे णं भंते । कम्मे कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा । णवविधे पण्णत्ते, तं जहा—इत्थीवेय वेयणिज्जे, पुरिसवेयणिज्जे, नपुंसक वेयणिज्जे हासे, रती, अरती, भए, सोगे दुगुंछा । वही, २३।२

४. कम्मं कसं भवो वा, कसमातो जिओसाया तो ।

कसमययंति व जओ गमयंति कसं कसाय त्ति ॥

विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १२२७; उद्धृत कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० ८२ ।

क्रोध कषाय के कारण आत्मा स्वभाव से वंचित होकर आक्रोश से भर जाता है ।

मान कषाय के प्रभाव से जीव में आत्म-प्रदर्शन की मिथ्या भावना जागरित होती है ।

माया के कारण जीव के आचार एवं विचारों में एकरूपता न रहकर उसमें एक तरह की कपट प्रवृत्ति विकसित होती है । वह बाहर कुछ और करता है पर उसके अन्दर कुछ और होता है ।

लोभ कषाय के कारण ममत्व की भावना जागरित होती है । यह कषायसंग्रह वृत्ति को जन्म देती है ।

इन कषायों के पूर्व में जो अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन शब्द जुड़ा हुआ है, वह इन कषायों के क्रमशः तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र एवं मन्द स्थिति का परिचायक है ।

१. अनन्तानुबन्धी कषाय

जो जीव के सम्यक्त्व गुणों का घात करके अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण कराये, उस कषाय को अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं ।^१ दूसरे शब्दों में ये वे कषाय हैं जो व्यक्ति में जीवनपर्यन्त विद्यमान रहते हैं और जिनसे जीव नरक गति के योग्य कर्मों का बन्ध करता है । मुख्य रूप से इस कषाय के उदय से जीव के सम्यग्दर्शन का घात होता है ।

२. अप्रत्याख्यानावरणकषाय

अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से आत्मा के देशविरति-चारित्र (श्रावक धर्म) का घात होता है अर्थात् इसके कारण जीव आंशिक रूप में भी संयम का पालन नहीं कर पाता ।^२ अप्रत्याख्यानावरणकषाय एक वर्ष तक विद्यमान रहते हैं और इनके उदय से तिर्यच गति के योग्य कर्मों का बन्ध होता है ।

३. प्रत्याख्यानावरण कषाय

जिस कषाय के उदय से आत्मा को सर्वविरति चारित्र प्राप्त करने में बाधा हो, अर्थात् श्रमण धर्म (साधु धर्म) की प्राप्ति न हो उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं । इस कषाय के उदय होने पर एक देश त्याग रूप

१. अनन्तानुबन्धी—सम्यग्दर्शनोपघाती । तस्योदयाद्वि सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते ।

तत्त्वार्थसू०, ८-१० भाष्य ।

२. अप्रत्याख्यानावरणकषायोदयद्विरवर्तनं भवति ।

तत्त्वार्थसूत्र, ८/१० भाष्य

श्रावकाचार के पालन करने में तो बाधा नहीं आती है किन्तु सर्वत्याग—साधुधर्म का पालन नहीं हो पाता है।^१ दूसरे शब्दों में इस कषाय के उदय होने पर जीव आंशिक रूप से तो संयम का पालन कर लेता है पर पूर्ण रूप से संयम का पालन नहीं कर पाता अर्थात् इससे सर्वविरति रूप चारित्र नहीं हो पाता। प्रत्याख्यानावरण कषाय की स्थिति चार महीने की होती है और इनके उदय से मनुष्य गति योग्य कर्मों का बन्ध होता है।

४. संज्वलन कषाय

जिस कषाय के उदय से आत्मा को यथाख्यात-चारित्र की प्राप्ति न हो उसे संज्वलन कषाय कहते हैं।^२ दूसरे शब्दों में ऐसे कषायों के उदय से जीव सर्वविरति चारित्र की प्राप्ति तो करता है पर पूर्णरूप से वीतरागी नहीं हो पाता। इस कषाय की काल-मर्यादा एक पक्ष की है तथा इनके उदय से देवगति के योग्य कर्मों का बन्ध होता है।

१. अनन्तानुबन्धी क्रोध

इस क्रोध के प्रभाव से जीव अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है। ऐसे क्रोध की तुलना पर्वत के फटने से उसमें पड़ने वाली दरार से की गयी है। जिस प्रकार पत्थर की दरार कभी नहीं जुड़ती उसी प्रकार अनन्तानुबन्धी क्रोध भी विभिन्न उपायों से शान्त नहीं होता।

२. अनन्तानुबन्धी मान

यह मान भी किसी बाह्य निमित्त से दूर नहीं होता। इसकी तुलना पत्थर के खम्भे से की जा सकती है जिसको किसी भी तरह से झुकाना असम्भव है।

३. अनन्तानुबन्धी माया

अनन्तानुबन्धी माया की तुलना बाँस की जड़ में रहने वाली उस वक्रता से की गयी है जिसको किसी तरह से सीधा नहीं किया जा सकता।

४. अनन्तानुबन्धी लोभ

यह किरमिची रंग के समान है जो किसी भी उपाय से छुड़ाया नहीं जा सकता है।

१. प्रत्याख्यानावरणकषायोदयाद्विरताविरतर्भवत्युत्तम चारित्रलाभस्तु न भवति ।

तत्त्वार्थसूत्र ८/१० भाष्य

२. संज्वलनकषायोदयादयथाख्यातचारित्रलाभो न भवति । वही, ८/१० भाष्य

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया एवं लोभ का स्वरूप अनन्ता-
नुबन्धी क्रोध, मान, माया, एवं लोभ के स्वरूप से कुछ भिन्न है।

५. अप्रत्याख्यानावरण क्रोध

सूखी मिट्टी में पड़ने वाली दरार जैसे पानी के संयोग से भर जाती है, वैसे ही इस प्रकार के क्रोध की शान्ति कुछ परिश्रम और प्रयत्न द्वारा हो जाती है।^१

६. अप्रत्याख्यानावरण मान

जैसे हड्डी को झुकाने के लिए कठिन परिश्रम के सिवाय उपाय भी करना पड़ता है, उसी प्रकार जो मान बहुत से उपायों से एवं अतिपरिश्रम से दूर किया जा सके वह अप्रत्याख्यानावरण मान है।

७. अप्रत्याख्यानावरण माया

इस प्रकार की माया भी परिश्रम विशेष से दूर होती है।

८. अप्रत्याख्यानावरण लोभ

जैसे गाड़ी के पहियों में लगने वाला कीचड़ कठिन परिश्रम से छूटता है, वैसे ही यह लोभ अति परिश्रम से छूटता है।

९. प्रत्याख्यानावरण क्रोध

जैसे धूल में खींची गयी रेखा हवा के झोंकों से क्षण मात्र में मिट जाती है, उसी प्रकार यह क्रोध भी कुछ उपाय से शान्त हो जाता है।

१०. प्रत्याख्यानावरण मान

जैसे सूखे काष्ठ को तेल आदि के प्रयोग से झुकाया जा सकता है, उसी प्रकार प्रत्याख्यानावरण मान में नम्रता आने की सम्भावना रहती है।

११. प्रत्याख्यानावरण माया

प्रत्याख्यानावरण माया कुटिल परिणामों वाली होती है और यह कुटिल स्वभाव कठिनाई से दूर हो जाता है। कर्मग्रन्थ में इसकी तुलना चलते हुए मूत्र क्रिया करने वाले बैल की मूत्र रेखा की वक्रता से की गयी है।

१. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० ८८

नोट—कषायों की तुलना के लिए देखें—

कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, गाथा १९, २०, पृ० ८७

१०८ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

१२. प्रत्याख्यानावरण लोभ

यह लोभ काजल के रंग के समान परिणाम वाला होता है। यह भी प्रयत्न विशेष से छूट जाता है।

१३. संज्वलन क्रोध

यह क्रोध जल में खींची जाने वाली रेखा के समान होता है जैसे—जल में खींची जाने वाली रेखा तत्काल समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार यह क्रोध भी तत्काल समाप्त हो जाता है।

१४. संज्वलन मान

संज्वलन मान उस बेंत के समान है जो क्षण मात्र के अल्प परिश्रम में ही नम जाता है। उसी प्रकार संज्वलन मान भी क्षणिक होता है। उसके निवारण में विशेष परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती।

१५. संज्वलन माया

बाँस के छिलके में रहने वाला टेढ़ापन बिना श्रम के सीधा हो जाता है, उसी प्रकार यह मायाभाव सरलता से दूर हो जाता है।

१६. संज्वलन लोभ

यह लोभ हल्दी के रंग के समान सहज ही छूटने वाला होता है।

इसी प्रकार विभिन्न दृष्टान्तों से कषायमोहनीय के १६ अवान्तर भेदों के स्वरूप को देखने से यही फलित होता है कि उनके स्वरूप में पर्याप्त वैविध्य है। जहाँ अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया एवं लोभ जन्म-जन्मान्तर तक रहने वाले हैं, इनमें किसी भी प्रकार के प्रयत्न से उनका निवारण असम्भव है, वहीं अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन क्रोध, मान, माया एवं लोभ में क्रमशः इनके स्वरूप में अधिकाधिक परिवर्तन होने लगता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया एवं लोभ तो छूटते ही नहीं हैं पर अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया एवं लोभ कठिन परिश्रम से छूट जाते हैं। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया एवं लोभ उनकी अपेक्षा बहुत कम परिश्रम से ही छूट जाते हैं और संज्वलन क्रोध, मान, माया एवं लोभ के छूटने में कोई विशेष प्रयत्न की आवश्यकता ही नहीं होती।

इससे यह स्पष्ट होता है कि अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया एवं लोभ तीव्रतम स्थिति वाले हैं और इसकी अपेक्षा बाद के अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन, क्रोध, मान, माया, एवं लोभ

क्रमशः तीव्रतर, तीव्र एवं मन्द स्थिति वाले हैं। इनमें पहले कषाय चतुष्क में जीव में तज्जनिता कषाय भावों की प्रबल प्रगाढ़ता होती है। दूसरे में कषाय भाव कुछ कम हो जाते हैं तथा तीसरे कषाय-चतुष्क में क्रोध, मान, माया एवं लोभ कषायभाव अत्यन्त अल्प हो जाते हैं तथा चौथे चतुष्क में ये उत्पन्न होकर तत्काल ही समाप्त हो जाते हैं।

नोकषायमोहनीय कर्म

चारित्र्यमोहनीय के दूसरे भेद नोकषायमोहनीय कर्म के ९ भेद हैं—
१. हास्य, २. रति, ३. अरति, ४. भय, ५. शोक, ६. जुगुप्सा, ७. स्त्रीवेद, ८. पुरुषवेद, और ९. नपुंसक वेद।

जो कषाय तो न हो, किन्तु कषाय के उदय के साथ जिसका उदय होता है अथवा कषायों को पैदा करने में, उत्तेजित करने में सहायक हो, उसे नोकषाय कहते हैं।^१ यहाँ यह ध्यातव्य है कि कषायों के अभ्युदय से ही इनका भी उदय सम्भव है, बिना कषाय भाव से प्रभावित हुए इनका उदय नहीं हो सकता, इसलिए इन्हें नोकषाय कहा गया है।

जिस कर्म के उदय से जीव में कारणवश अथवा अकारण ही हास्य, रति, अरति, शोक, भय, अथवा जुगुप्सा होती है उसे हास्य आदि मोहनीय कर्म कहा जाता है।^२ नोकषाय मोहनीय कर्म के सातवें भेद स्त्रीवेद के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ सम्भोग करने की इच्छा होती है। इसी प्रकार इस कर्म के आठवें भेद पुरुषवेद के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ सम्भोग करने की इच्छा होती है तथा अन्तिम भेद नपुंसकवेद के उदय से पुरुष और स्त्री दोनों के साथ सम्भोग करने की इच्छा होती है।^३

इस प्रकार दर्शनमोहनीय के ३, कषायमोहनीय के १६ एवं नोकषाय-मोहनीय के ९ भेदों को लेकर मोहनीय कर्म के २८ भेद होते हैं।

१. कषायसहवर्तित्वात् कषायप्रेरणादपि ।

कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० ८४ ।

२. जस्सुदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।

सनिमित्तमन्नहा वा तं इह हासाइमोहणियं ॥

वही, कर्मग्रन्थ, गाथा २१ ।

३. पुरिसिस्थि तदुभयं पइ अहिलासो जव्वसा हवइ सोउ ।

थीनरनपुवेउदयो फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥

वही, गाथा २२ ।

११० : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

५. आयुष्य कर्म की चार उत्तर-प्रकृतियाँ

आयुष्य कर्म की चार उत्तर-प्रकृतियाँ हैं—

१. देवायु, २. मनुष्यायु, ३. तिर्यचायु, ४. नरकायु ।^१

१. देवायु

जिसके कारण देवगति का जीवन प्राप्त होता है, वह देवायु है ।

२. मनुष्यायु

जिसके कारण मनुष्य योनि मिले, वह मनुष्यायु है ।

३. तिर्यचायु

जिसके फलस्वरूप तिर्यचगति का जीवन व्यतीत करना पड़े, उसे तिर्यचायु कहते हैं ।

४. नरकायु

जिसके परिणामस्वरूप नरकगति की आयु का भोग करना पड़े, उसे नरकायु कहते हैं ।

वैसे आयु दो प्रकार की होती है—१. अपवर्तनीय आयु तथा २. अनपवर्तनीय आयु ।

बाह्य निमित्तों से जो आयु कम हो जाती है अर्थात् नियत समय से पूर्व ही जो आयु समाप्त हो जाती है, उसे अपवर्तनीय आयु कहते हैं, जैसे—जल में डूबने, शस्त्रघात, विषपान आदि बाह्य कारणों के फलस्वरूप एक निश्चित काल के लिए बांधी गयी आयु को छोड़कर मर जाना, आयु का अपवर्तन है, एवं इस आयु को अपवर्तनीय आयु कहते हैं ।

जो आयु किसी भी तरह से कम न हो, जितने काल तक के लिए बांधी गयी हो, उतने काल तक उनका भोगना अनिवार्य हो, या एक नियत समय पर ही समाप्त हो, ऐसी आयु को अनपवर्तनीय आयु कहते हैं ।

६. नामकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ

देवेन्द्रसूरिविरचित 'कर्मविपाक' नामक ग्रन्थ में विभिन्न दृष्टियों से

१. (क) नेरइय तिरिक्खाउ मणुस्साउ तहेव य ।

देवाउयं चउत्थं तु आउकम्मं चउव्विहं ॥

उत्तराध्ययन सूत्र, ३३।१२ ।

(ख) प्रज्ञापना कर्मबन्ध, पद २३।२ ।

(ग) तत्त्वार्थ सूत्र, ८।११ ।

नामकर्म के विभिन्न भेद दृष्टिगत होते हैं। नामकर्म की केवल मूलप्रकृतियों की गणना की दृष्टि से तो इसके बयालीस प्रकार बताये गये हैं पर नाम-कर्म की मूलप्रकृतियों के कुछ अवान्तर भेदों की गणना से इसके ६७, ९३ एवं १०३ भेद भी बताये गये हैं।

अब हम संक्षेप में नामकर्म के क्रमशः ४२, ६७, ९३ एवं १०३ भेदों की चर्चा करेंगे।

वैसे नामकर्म की प्रकृतियों को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

१. पिण्डप्रकृतियाँ, एवं २. प्रत्येक प्रकृतियाँ।

१. पिण्ड प्रकृतियाँ

इनकी संख्या १४ है, यथा—१. गति, २. जाति, ३. शरीर, ४. अंगोपांग, ५. बन्धन, ६. संघातन, ७. संहनन, ८. संस्थान, ९. वर्ण, १०. गन्ध, ११. रस, १२. स्पर्श, १३. आनुपूर्वी, और १४. विहायोगति।^१

इनके अन्य अवान्तर भेद भी हैं, जिनकी चर्चा आगे की जायेगी। सर्वप्रथम इनके सामान्य स्वरूप पर प्रकाश डाला जा रहा है।

१. गतिनामकर्म

इस कर्म के प्रभाव से जीव मनुष्यादि गतियों में जाता है, अथवा नारको, तिर्यच, मनुष्य एवं देव की पर्याय प्राप्त करता है।

२. जातिनामकर्म

इसके निमित्त से स्पर्शन, रसन आदि पाँच इन्द्रियों में क्रमशः एक, दो, तीन, चार अथवा पाँचों इन्द्रियों की प्राप्ति होती है और इनके प्राप्ति के अनुसार जीव क्रमशः एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय कहलाते हैं।

३. शरीरनामकर्म

इस कर्म के कारण जीव औदारिक, वैक्रिय आदि शरीरों की प्राप्ति करता है। जब शरीरनामकर्म के अवान्तर भेदों की चर्चा होगी, उस समय औदारिक, वैक्रिय आदि शरीरों के स्वरूप का भी स्पष्टीकरण किया जायेगा। शरीरनामकर्म के उदय से विविध प्रकार के शरीरों की प्राप्ति होती है।

१. गइजाइतणुउवंगा बंधणसंघायणाणि संघयणा।

सं ठाणवण्णगन्धरसफास अणुपुब्बि विहगगइ ॥

४. अंगोपांगनामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव के अंग यथा—हाथ, पैर, सिर आदि और उपांग—अंगुलि आदि रूपों में पुद्गलों का परिणमन होता है उसे अंगोपांग नामकर्म कहते हैं।^१ दूसरे शब्दों में यह कर्म जीव के विविध अंगों एवं उपांगों को एक निश्चित स्वरूप प्रदान करता है।

५. बन्धननामकर्म

यह कर्म पूर्वगृहीत शरीर पुद्गलों के साथ नवीन ग्रहण होने वाले शरीर योग्य पुद्गलों का पारस्परिक तादात्म्य स्थापित करता है, अर्थात् इस कर्म के उदय से पूर्व एवं बाद में ग्रहण होने योग्य शरीर पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध दृढ़ होता है।

६. संघातननामकर्म

जिस कर्म के उदय से प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर-पुद्गलों पर नवीन ग्रहण किये जा रहे शरीर योग्य पुद्गल व्यवस्थित रूप से स्थापित किये जाते हैं, उसे संघातन नामकर्म कहते हैं।^१

७. संहनन नामकर्म

जिस कर्म के उदय से शरीर के हड्डियों की सन्धियाँ दृढ़ होती हैं, उसे संहनन नामकर्म कहते हैं।

८. संस्थान नामकर्म

इस कर्म के प्रभाव से शुभता एवं अशुभता की दृष्टि से शरीर के पृथक्-पृथक् आकार निर्मित होते हैं।

९. वर्णनाम कर्म

यह कर्म शरीर के विविध वर्णों को निर्धारित करता है, अर्थात् इसी कर्म के कारण शरीर के कृष्ण, गौर आदि रंग होते हैं।

१०. गन्ध नामकर्म

जिस कर्म के उदय से शरीर में शुभ (अच्छी) या अशुभ (बुरी गन्ध) हो, उसे गन्ध नामकर्म कहते हैं।^२

११. रसनाम कर्म

इस कर्म के उदय से शरीर में तिक्त, मधुर आदि शुभ एवं अशुभ रसों की निष्पत्ति होती है।

१. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० १००

२. वही, पृ० १०१।

१२. स्पर्शनामकर्म

जिस कर्म के प्रभाव से शरीर का स्पर्श कर्कश, मृदु, स्निग्ध, रुक्ष आदि रूप हो, उसे स्पर्शनामकर्म कहते हैं।

१३. आनुपूर्वीनामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति में अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है उसे आनुपूर्वीनामकर्म कहते हैं।^१

१४. विहायोगतिनामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हाथी, बैल आदि की चाल के समान शुभ अथवा ऊँट, गधे की चाल के समान अशुभ होती है, उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं।^२

इस प्रकार नामकर्म की १४ पिण्ड प्रकृतियाँ शरीर रचना से सम्बन्धित हैं।

प्रत्येक प्रकृतियाँ

नामकर्म की २८ प्रत्येक प्रकृतियाँ निम्न हैं—

१. पराघात, २. उच्छ्वास, ३. आतप, ४. उद्योत, ५. अगुरुलघु, ६. तीर्थङ्कर, ७. निर्माण, ८. उपघात।^३

इस प्रकार नामकर्म की ये आठ प्रकृतियाँ हैं। इसके अन्य भेदों को त्रसदशक एवं स्थावरदशक में विभक्त किया गया है अर्थात् त्रसदशक में १० प्रत्येक प्रकृतियाँ एवं स्थावरदशक में १० प्रत्येक प्रकृतियाँ हैं।

त्रसदशक की प्रत्येक प्रकृतियाँ—

१. त्रसनाम, २. वादरनाम, ३. पर्याप्तनाम, ४. प्रत्येकनाम, ५. स्थिरनाम, ६. शुभनाम, ७. सुभगनाम, ८. सुस्वरनाम, ९. आदेयनाम, १०. यशः कीर्तिनाम।^४

१. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० १०१।

२. वही, पृ० १०१।

३. (क) समवायांग स्थान, ४२।

(ख) प्रज्ञापना, २/२३/२९३

(ग) परघा उस्सास आयुवुज्जोयं।

अगुरुलघुतिथ्यनिमणोवघायमिय अट्ठपत्तेया ॥

कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, गाथा २५।

४. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, गाथा २६-२७।

११४ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

स्थावरदशक की दस प्रकृतियाँ—

१. स्थावरनाम, २. सूक्ष्मनाम, ३. अपर्याप्तनाम, ४. साधारणनाम,
५. अस्थिरनाम, ६. अशुभनाम, ७. दुर्भगनाम, ८. दुःस्वरनाम, ९. अनादेयनाम, १०. अयशःकीर्तिनाम ।^१

नामकर्म की त्रसदशक एवं स्थावरदशक प्रकृतियाँ क्रमशः शुभ एवं अशुभ प्रकृतियों की सूचक हैं ।

प्रत्येक प्रकृतियों के अन्य अवान्तर भेद नहीं होते, पर पिण्ड प्रकृतियों में प्रत्येक के अवान्तर भेद होते हैं ।

प्रत्येक प्रकृतियों के स्वरूप का संक्षिप्त विवरण :—

१. पराघात नामकर्म

इस कर्म के प्रभाव से जीव दूसरे बलवानों के लिए अजेय दृष्टिगत होता है ।^२

२. उच्छ्वास नामकर्म

इस कर्म के उदय से जीव शरीर से बाहर की हवा को नासिका द्वारा अन्दर तथा शरीर के अन्दर की हवा को नासिका द्वारा बाहर छोड़ता है । नासिका द्वारा हवा लेने (अर्थात् श्वास लेने) अथवा हवा छोड़ने की क्रिया को उच्छ्वास नामकर्म कहते हैं ।^३

३. आतपनामकर्म

जिस कर्म के प्रभाव से जीव का शरीर स्वयं उष्ण न होकर उष्ण प्रकाश करता है उसे आतपनामकर्म कहते हैं । सारांश यह है कि जिन जीवों में आतपनामकर्म का उदय होता है उनका शरीर तो ठण्डा रहता है लेकिन उनकी प्रभा उष्ण होती है ।^४

१. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, गाथा २६-२७

(ख) तत्त्वार्थसूत्र, ८/१२ ।

(ग) प्रज्ञापना, २/२३/२९३ ।

२. पराघातदया पाणी परेसि बलिनं पि होइ दुद्धरिसो ।—कर्मग्रन्थ, गाथा ४४ ।

३. अससणलद्धिणुत्तो हवेइ ऊसासनामवसा ।

कर्मग्रन्थ, गाथा ४४ ।

४. वही, पृ० १३६ ।

४. उद्योतनामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शीत प्रकाश फैलाता है, उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं।^१ प्रायः लब्धिधारी मुनि जब वैक्रिय शरीर धारण करते हैं तब उनके शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है।

५. अगुरुलघु नामकर्म

यह वह कर्म है, जिसके कारण जीव का शरीर न तो हल्का ही होता है और न भारी ही।

६. तीर्थङ्करनामकर्म

इस कर्म का उदय केवल ज्ञान के प्राप्त किये बिना नहीं हो सकता। केवल ज्ञान के उत्पन्न होने पर ही तीर्थंकर नामकर्म का उदय होता है।

७. निर्माणनामकर्म

इस कर्म के उदय से शरीर के विविध अंगों एवं उपांगों को एक व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त होता है। यदि यह कर्म न हो तो अंगोपांगनामकर्म के उदय से बने हुए हाथ, पैर, आँख, कान आदि अंगों-उपांगों का ठीक व्यवस्थापन ही नहीं हो सकता।

८. उपघातनामकर्म

जिसके कारण शरीर के विविध अवयव यथास्थान व्यवस्थित नहीं होते, वह उपघातनामकर्म है, जैसे—ओठ के अन्दर रहने वाले दाँत का बाहर निकल जाना, या पाँच अँगुलियों के स्थान पर छः अँगुलियों का हो जाना।

९. त्रसनामकर्म

जिस कर्म के प्रभाव से त्रसकाय अथवा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय की प्राप्ति हो, उसे त्रसनामकर्म कहते हैं।

१०. बादरनामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव को बादर (स्थूल) काय की प्राप्ति हो, उसे बादरनामकर्म कहते हैं। इस कर्म के उदय से एक-एक बादर पृथ्वी-काय आदि का शरीर आँखों से देखा जा सकता है।

११. पर्याप्तनामकर्म

यह वह नामकर्म है जो जीव को ऐसी शक्ति प्रदान करता है जिसके

११६ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

फलस्वरूप जीव विविध पुद्गलों को ग्रहण करता है तथा उन्हें आहार, शरीर आदि के रूप में परिणत कर देता है।

१२. प्रत्येकनामकर्म

यह वह नामकर्म है, जिसके उदय से एक शरीर का स्वामी एक ही जीव होता है।

१३. स्थिरनामकर्म

इस नामकर्म के उदय से जीव के दाँत, हड्डी, ग्रीवा आदि अपने-अपने सुनिश्चित स्थान पर स्थित होते हैं।

१४. शुभनामकर्म

यह नामकर्म शरीर के अवयवों की शुभता को सूचित करता है।

१५. सुभगनामकर्म

इस नामकर्म के उदय से किसी का उपकार न करने एवं किसी से विशिष्ट सम्बन्ध न स्थापित करने पर भी जीव लोकप्रिय बनता है या सबको प्रिय लगता है।

१६. सुस्वरनामकर्म

इस कर्म के उदय से जीव की आवाज मधुर एवं सुस्वर होती है।

१७. आदेयनामकर्म

इसके उदय से जीव का वचन सर्वमान्य होता है।

१८. यशःकीर्तिनामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव की संसार में यश और कीर्ति फैले, उसे यशःकीर्तिनामकर्म कहते हैं।^१

१९. स्थावरनामकर्म

इस कर्म के उदय से शक्तिहीन होकर जीव में एक निश्चित स्थान पर पड़े रहने की प्रवृत्ति विकसित होती है।

२०. सूक्ष्मनामकर्म

जिस कर्म के उदय से न तो बहुत भारी और न बहुत हल्का शरीर मिले, उसे सूक्ष्मनामकर्म कहते हैं।

२१. अपर्याप्तनामकर्म

इसके उदय से जीव न तो पुद्गल को ग्रहण ही कर पाता है और न उन्हें आहार, शरीर आदि विभिन्न पर्याप्तियों में परिवर्तित ही कर पाता है।

२२. साधारणनामकर्म

जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का एक ही शरीर हो अर्थात् अनन्त जीव एक शरीर का स्वामी बने, उसे साधारणनामकर्म कहते हैं।^१

२३. अस्थिरनामकर्म

इस कर्म के उदय से शरीर के विविध अवयव अस्थिर अर्थात् चपल होते हैं।

२४. अशुभनामकर्म

यह नामकर्म नाभि के नीचे के विविध अवयवों की अशुभता को सूचित करता है।

२५. दुर्भगनामकर्म

इस नामकर्म के उदय से उपकार करने तथा किसी के साथ सम्बन्ध स्थापित करने पर भी व्यक्ति उनकी दृष्टि में प्रिय न होकर अप्रिय होता है।

२६. दुःस्वरनामकर्म

इस कर्म के उदय से कर्कश एवं अप्रिय वचन का उच्चारण होता है।

२७. अनादेयनामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव का युक्ति-युक्त अच्छा वचन अनादरणीय एवं अग्राह्य समझा जाता है, वह अनादेयनामकर्म है।^२

२८. अयशःकीर्तिनामकर्म

इस नामकर्म के उदय से जीव लोक में अपयश एवं अपकीर्ति प्राप्त करता है।

इस प्रकार १४ पिण्ड प्रकृतियाँ एवं २८ प्रत्येक प्रकृतियों को जोड़ने से नामकर्म के ४२ भेद होते हैं।

नामकर्म के पिण्डप्रकृतियों की उत्तरप्रकृतियाँ :

१. गतिनामकर्म

इसके चार भेद हैं—१. नरकगति, २. तिर्यग्गति, ३. मनुष्यगति, ४. देवगति।

१. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० १४९।

२. वही, पृ० १५०।

गतिनामकर्म के उदय से ही जीव को उक्त गतियों की विविध पर्यायें प्राप्त होती हैं ।

२. जातिनामकर्म

ये पाँच प्रकार के हैं—१. एकेन्द्रिय जातिनाम, २. द्वीन्द्रिय जातिनाम, ३. त्रीन्द्रिय जातिनाम, ४. चतुरिन्द्रिय जातिनाम, और ५. पंचेन्द्रिय जातिनाम ।

एकेन्द्रिय जातिनामकर्म में जीव को सिर्फ एक स्पर्शन (शरीर) इन्द्रिय प्राप्त होती है ।

द्वीन्द्रिय जातिनामकर्म के उदय से जीव स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय अर्थात् दो इन्द्रियाँ—शरीर और जीभ प्राप्त करता है ।

त्रीन्द्रिय जातिनामकर्म के उदय से जीव को स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय अर्थात् तीन इन्द्रियाँ—शरीर, जीभ एवं नाक प्राप्त होती हैं ।

चतुरिन्द्रिय जातिनामकर्म के उदय से जीव को शरीर, जीभ, नाक और आँख की प्राप्ति होती है ।

पंचेन्द्रिय जातिनामकर्म में जीव को शरीर, जीभ, नाक, आँख और कान पाँचों इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं ।

कहने का अभिप्राय यह है कि इन्द्रियाँ ५ होती हैं—१. स्पर्शनेन्द्रिय (शरीर), २. रसनेन्द्रिय (जीभ), ३. घ्राणेन्द्रिय (नाक), ४. चक्षुरिन्द्रिय (आँख) और ५. श्रोत्रेन्द्रिय (कान) और जातिनाम के भेदों के उदयानुसार इनकी प्राप्ति होती है ।

३. शरीरनामकर्म

ये पाँच प्रकार के होते हैं—१. औदारिक शरीरनामकर्म, २. वैक्रिय शरीरनामकर्म, ३. आहारक शरीरनामकर्म, ४. तैजस् शरीरनामकर्म, ५. कर्मणशरीरनामकर्म ।^१

जिस कर्म के उदय से हाड़, मांस, रक्त आदि से संयुक्त शरीर प्राप्त होता है, उसे औदारिक शरीरनामकर्म कहते हैं ।

जिस कर्म के उदय से जीव को वैक्रिय शरीर प्राप्त हो, वह वैक्रिय शरीरनामकर्म कहलाता है । यह शरीर, तप आदि के द्वारा विशेष शक्ति

से प्राप्त होता है। जीव में वैक्रिय शरीरनामकर्म के उदय से एक ही शरीर के विविध, विचित्र आकार-प्रकार बनाने की शक्ति पैदा हो जाती है।

आहारक शरीरनामकर्म सबको नहीं प्राप्त होता, बल्कि १४ पूर्वधारी मुनिराज अपने लब्धि-विशेष से यह शरीर धारण करते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव को तैजस शरीर प्राप्त होता है, उसे तैजस-शरीरनामकर्म कहते हैं।^१ इस शरीर में तेजोलेस्या एवं शीतलेस्या दोनों का सम्पुट है। जब क्रोध आदि तेजोलेस्या द्वारा कोई मुनि/तपस्वी दूसरों को हानि पहुँचाता है तो उसका कारण तैजस् शरीरनामकर्म का उदय है एवं प्रसन्न होकर शीतल लेस्या के द्वारा लाभ पहुँचाता है, तो इसका कारण भी तैजस् शरीरनामकर्म का उदय है।

कर्मों के फलस्वरूप जो शरीर प्राप्त होता है, उसे कर्मण-शरीरनामकर्म कहते हैं। इसी शरीर के कारण जीव नरकादि रूप संसार में जन्म-मरण का चक्कर लगाता रहता है।

सामान्यतया तैजस एवं कर्मण शरीर सभी जीवों को प्राप्त होते हैं और आत्मा से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

इन पाँचों शरीरों के सन्दर्भ में ध्यातव्य तथ्य यह है कि एक साथ एक संसारी जीव में पाँचों शरीर नहीं हो सकते। एक साथ एक संसारी जीव में कम से कम दो और अधिक से अधिक चार शरीर तक हो सकते हैं।^२ एक जीव में दो शरीर होने की स्थिति में तैजस और कर्मण ही होते हैं, क्योंकि सभी संसारी जीवों में इन शरीरों का सन्निधान सामान्यतया अवश्यम्भावी है। जब तीन शरीर एक जीव में एक साथ होते हैं, तो तैजस, कर्मण और औदारिक या तैजस, कर्मण या वैक्रिय होते हैं। तैजस और कर्मण दो शरीर ऐसे हैं जो पाँचों शरीरों में पाये जा सकते हैं, जब एक जीव में चार शरीर एक साथ होते हैं, तब तैजस, कर्मण, औदारिक और वैक्रिय अथवा औदारिक, कर्मण, तैजस, और आहारक होते हैं।^३

४. अंगोपांग नामकर्म

अंगोपांग नामकर्म तीन प्रकार के हैं—

१. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० ११४।

२. वही, पृ० ११५।

३. वही, पृ० ११६।

१२० : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

१. औदारिक अंगोपांग, २. वैक्रिय अंगोपांग, ३. आहारक अंगोपांग ।^१

चूँकि अंगादि का मूल्यांकन किसी आकृति से ही सम्भव है और औदारिक, वैक्रिय एवं आहारक शरीर में ही अंगोपांग रूप आकृति की सम्भावना है, इसी कारण अंगोपांग नामकर्म के ये तीन भेद ही होते हैं ।

१. औदारिक अंगोपांग

इस कर्म के उदय से औदारिक शरीर रूप परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयवों का विनिर्माण होता है ।

२. वैक्रिय अंगोपांग

इस नामकर्म में वैक्रिय रूप में परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयव बनते हैं ।

३. आहारक अंगोपांग

इसमें आहारक रूप परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयव बनते हैं ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि अंगोपांग नामकर्म में शरीर की विशेषताओं के अनुसार अंगोपांग रूप अवयव बनते हैं । इससे यह भी सूचना मिलती है कि इन तीनों शरीरों के निमित्त से जिन अंगोपांग रूप अवयवों की रचना होता है उनमें पारस्परिक विभिन्नता होती है ।

५. बन्धन नामकर्म

इस नामकर्म के पाँच भेद हैं तथा इन्हीं के अन्य अवान्तर भेदों की दृष्टि से इसके १५ भेद भी किये गये हैं । पहले बन्धन-नामकर्म के पाँच भेदों पर प्रकाश डाला जा रहा है ।

इस नामकर्म के पाँच भेद इस प्रकार हैं—

१. औदारिक शरीर-बन्धननाम, २. वैक्रिय शरीर—बन्धननाम, ३. आहारक शरीर-बन्धननाम, ४. तैजस—शरीर-बन्धननाम, ५. कर्मण-शरीर-बन्धन नाम ।^२

१. औदारिक शरीर—बन्धननामकर्म

यह कर्म पूर्व में ग्रहण हुए औदारिक शरीर रूप पुद्गलों के साथ बाद

१. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० ११७

२. वही, पृ० ११८

में ग्रहण किये जाने वाले औदारिक पुद्गलों का पारस्परिक तादात्म्य स्थापित करता है।

२. वैक्रिय शरीर-बन्धननाम

यह नामकर्म पूर्वगृहीत वैक्रिय शरीर पुद्गलों का एवं वर्तमान में ग्रहण हुए वैक्रिय शरीर पुद्गलों का पारस्परिक सम्बन्ध दृढ़ करता है।

इसी प्रकार (३) आहारक, (४) तैजस् और (५) कर्मण शरीरबन्धन-नामकर्म भी अपने-अपने ग्रहण हुए तथा ग्रहण होने वाले शरीर पुद्गलों के पारस्परिक सम्बन्ध को दृढ़ करते हैं।

बन्धननामकर्म के १५ भेद इस प्रकार हैं—

१. औदारिक-औदारिक बन्धननाम, २. औदारिक-तैजस बन्धननाम, ३. औदारिक-कर्मण बन्धननाम, ४. वैक्रिय-वैक्रिय बन्धननाम, ५. वैक्रिय-तैजस बन्धननाम, ६. वैक्रिय-कर्मण बन्धननाम, ७. आहारक-आहारक बन्धननाम, ८. आहारक-तैजस बन्धननाम, ९. आहारक-कर्मण बन्धननाम, १०. औदारिक तैजस-कर्मण बन्धननाम, ११. वैक्रिय-तैजस-कर्मण बन्धननाम, १२. आहारक-तैजस-कर्मण बन्धननाम, १३. तैजस-तैजस बन्धननाम, १४. तैजस-कर्मण बन्धननाम, और १५. कर्मण-कर्मण बन्धननाम।^१ ये भेद विभिन्न शरीरों के पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से किये गये हैं। औदारिक, वैक्रिय एवं आहारक शरीरों के पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता अर्थात् औदारिक के साथ औदारिक शरीर के पुद्गलों का ही सम्बन्ध होता है, वैक्रिय और आहारक शरीर के पुद्गलों का नहीं। ये तीनों परस्पर विरुद्ध गुणधर्मी हैं। अतः इनका परस्पर बन्धन नहीं होता। यहो कारण है कि इनके परस्पर सम्बन्ध को सूचित करने वाले नामकर्म इस बन्धननामकर्म के १५ भेदों में नहीं हैं।

ये १५ भेद विभिन्न शरीरों के पारस्परिक सम्बन्ध के सूचक हैं, अर्थात् इनसे यह सूचना मिलती है कि किस शरीर के पुद्गलों का किस शरीर के पुद्गलों के साथ बन्ध सम्भव हो सकता है। बन्धन-नामकर्म के भेदोपभेद एवं इनके पारस्परिक सम्बन्ध को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि यदि बन्धननामकर्म न हो तो शरीराकार परिणत पुद्गलों में वैसी ही अस्थिरता आ जायेगी जैसे हवा में उड़ने वाले सत्तू के कणों की। अतः

१२२ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

बन्धननामकर्म सम्बन्ध होने योग्य शरीर पुद्गलों के परस्पर सम्बन्ध को स्थापित कर उनके स्वरूप को एक स्थिर स्वरूप प्रदान करते हैं ।

५. संघातन नामकर्म

यह कर्म भी औदारिक आदि शरीरों के आधार पर पाँच प्रकार का है—

१. औदारिक संघातन, २. वैक्रिय संघातन नामकर्म, ३. आहारक संघातन नामकर्म, ४. तैजस-संघातन नामकर्म, ५. कार्मण संघातन ।

ये कर्म भी बन्धननामकर्म के प्रथम पाँच भेदों के समान हैं। मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ बन्धननामकर्म पूर्व एवं बाद में ग्रहण होने वाले शरीर योग्य पुद्गलों को परस्पर बाँधता है, वहाँ औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस एवं कार्मण कर्म, अपने-अपने पूर्व एवं बाद में ग्रहण होने वाले शरीर योग्य पुद्गलों को संगठित करते हैं। वास्तव में देखा जाय तो यही प्रतीत होता है कि संघातन नामकर्म परस्पर सम्बन्धित होने वाले शरीर-पुद्गलों को एक दूसरे के समीप व्यवस्थित रूप से स्थापित करता है, अर्थात् संघातन नामकर्म शरीर योग्य पुद्गलों को समीप लाता है और बन्धननामकर्म उन्हें उन-उन शरीरों से सम्बद्ध करता है ।

७. संहनननामकर्म

यह कर्म शरीर की विविध हड्डियों में पारस्परिक जोड़ के स्वरूप का निर्धारक है। चूँकि औदारिक शरीर को छोड़कर अन्य शरीरों में हड्डियाँ नहीं पायी जाती हैं। अतः इस कर्म का उदय औदारिक शरीर में होता है ।

शरीर की हड्डियों के परस्पर जोड़ छः प्रकार के हैं—१. वज्रऋष-भनाराच, २. ऋषभनाराच, ३. नाराच, ४. अर्द्धनाराच, ५. कीलिका, ६. छेवट्ट ।^१

१. वज्रऋषभनाराच नामकर्म

यह कर्म वज्र, ऋषभ और नाराच तीन शब्दों के मेल से बना है। इनमें वज्र का अभिप्राय कीलों से है, ऋषभ का अर्थ पट्टी से है और नाराच का अर्थ मर्कटबन्ध से है, अर्थात् बन्दर के बच्चे जैसे बन्दर को पकड़े रहते हैं और उनके दौड़ने आदि पर भी उनको छोड़कर अलग नहीं होते, उसी भाव की प्रतिध्वनि नाराच शब्द करता है ।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जैसे—किसी बहुविध आकार पर पहले मर्कटबन्ध, फिर उन पर पट्टी एवं इनके ऊपर कील ठोककर एक दूसरे से इस प्रकार जोड़ दिया जाता है कि वे किसी भी बाह्य निमित्त से एक दूसरे से अलग न हो सकें, उसी प्रकार वज्रऋषभनाराच कर्म के उदय से शरीर की विभिन्न हड्डियाँ इतनी मजबूती से जुड़ती हैं कि वे एक दूसरे से अलग न होकर आपस में जुड़ी रहती हैं ।

२. ऋषभनाराचकर्म

यह कर्म भी मर्कटबन्ध की तरह सम्बन्धित पट्टी के अनुप्रयोग से शरीर की हड्डियों को जोड़ता है । पर मुख्य अन्तर यह है कि इनमें कील का प्रयोग नहीं होता । इससे यह स्पष्ट होता है कि वज्रऋषभनाराचकर्म एवं ऋषभनाराचकर्म की हड्डियों के जोड़ में कुछ भिन्नता है । जहाँ वज्रऋषभनाराचकर्म के द्वारा जोड़ी गयी शरीर की विविध हड्डियाँ सदैव एक दूसरे से जुड़ी रहती हैं वहाँ ऋषभनाराच कर्म की हड्डियों के जोड़ में कील का प्रयोग न होने से उतनी मजबूती नहीं रहती, अर्थात् इन दोनों कर्मों से हड्डियों के जोड़ में मुख्य अन्तर यह है कि पहले प्रकार के कर्म के उदय से जोड़ी जाने वाली शरीर की हड्डियाँ दूसरे प्रकार के कर्म से जोड़ी गयी हड्डियों की अपेक्षा अधिक मजबूत होती हैं ।

३. नाराच संहनननामकर्म

जिस कर्म के उदय से हड्डियों को रचना में दोनों तरफ मर्कटबन्ध हों, लेकिन वेठन (पट्टी) और कील न हो, उसे नाराच-संहनन नामकर्म कहते हैं ।^१

४. अर्धनाराच संहनननामकर्म

जिस कर्म के उदय से एक ओर मर्कटबन्ध और दूसरी ओर कील हो, उसे अर्धनाराच संहनन नामकर्म कहते हैं ।^२

५. कीलिका संहनन नामकर्म

जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में मर्कटबन्ध और वेठन (पट्टी) न हो, किन्तु कील से हड्डियाँ जुड़ी हों, उसे कीलिका संहनन नामकर्म कहते हैं ।^३

१. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग पृ० १२५ ।

२. वही, पृ० १२५ ।

३. वही, पृ० १२६ ।

६. छेवट्टु संहनन नामकर्म

इसमें न तो मर्कटबन्ध होता है और न पट्टी होती है और न हो कीली बल्कि स्वयं हड्डियाँ ही आपस में जुड़ी रहती है। संहनन नामकर्म के भेदों पर दृष्टि डालने से यही स्पष्ट होता है कि इनके उदय से शरीर को हड्डियों के जोड़ प्रभावित होते हैं।

८. संस्थाननामकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ

यह कर्म छः प्रकार का होता है—

१. समचतुरस्र-संस्थान नामकर्म, २. न्यग्रोध-परिमण्डल-संस्थान नामकर्म, ३. सादि-संस्थान नामकर्म, ४. कुब्ज-संस्थान नामकर्म, ५. वामन-संस्थान नामकर्म, ६. हुंड-संस्थान नामकर्म।^१

१. समचतुरस्र-संस्थान-नामकर्म

इसमें तीन शब्द दृष्टिगत होते हैं—सम, चतुः और अस्त्र। यहाँ सम का अभिप्राय समान, चतुः का अभिप्राय चार और अस्त्र का अभिप्राय कोण से है। जिस प्रकार पालथी मारकर बैठने से शरीर के चारों कोण समान बनते हैं अर्थात् आसन और कपाल का अन्तर, दोनों घुटनों का अन्तर, दाहिने कन्धे और बाँये जानु का अन्तर, बाँये कन्धे और दाहिने जानु का अन्तर समान होता है। शरीर के बनने वाले ऐसे आकार को समचतुरस्र संस्थान नामकर्म कहते हैं।

२. न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान-नामकर्म

इस कर्म के उदय से शरीर की आकृति वटवृक्ष के समान बनती है अर्थात् जिस प्रकार वटवृक्ष ऊपर काफी मोटे एवं अतिविस्तृत होते हैं, उसी प्रकार इस कर्म के उदय से बनने वाली शरीर की आकृति नाभि से ऊपर तो पूर्ण मोटी होती है पर नाभि से नीचे काफी होन एवं पतली होती है।

३. सादि-संस्थाननामकर्म

यह नामकर्म न्यग्रोध परिमण्डल नामकर्म के बिल्कुल विपरीत है। इस कर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव हीन एवं पतले होते हैं पर नाभि के नीचे के अवयव अत्यन्त मोटे होते हैं।

४. कुब्ज-संस्थान नामकर्म

यह वह नामकर्म है, जिसके प्रभाव से शरीर कुबड़ा हो जाता है।

१. समचतुरस्रं, निगोहसाइखुज्वाइ वामणं हुंडुं । कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, गाथा ४०

५. वामन-संस्थान नामकर्म

इस कर्म के उदय से शरीर बौना होता है ।

६. हुड-संस्थान नामकर्म

इस कर्म के उदय से शरीर के सभी अवयव बेडौल बनते हैं । दूसरे शब्दों में इस कर्म के उदय से शरीर की आकृतियाँ विकारशून्य होती हैं, अर्थात् आकृति न तो कुबड़ी होती है और न बौनी, बल्कि शरीर की सामान्य आकृति दृष्टिगत होती है ।

९. वर्णनामकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ

वर्णनामकर्म के ५ भेद इस प्रकार हैं—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) लोहित, (४) हारिद्र, और (५) सित ।”^१

१. कृष्ण वर्णनामकर्म

इस कर्म के उदय से शरीर कोयल जैसा काला होता है ।

२. नील वर्णनामकर्म

इस कर्म के प्रभाव से जीव का शरीर तोते के पंख जैसा हरा होता है ।

३. लोहित वर्णनामकर्म

इस कर्म के उदय से जीव का शरीर सिन्दूर जैसा लाल होता है ।

४. हारिद्र वर्णनामकर्म

इस कर्म के कारण शरीर हल्दी के रंग जैसा पीला होता है ।

५. सित वर्णनामकर्म

इस कर्म के उदय से शरीर शंख जैसा सफेद होता है ।^२

इस प्रकार वर्णनामकर्म के उदय से शरीर के विविध वर्ण प्रभावित होते हैं, अर्थात् उक्त कर्मों के उदयानुसार उसे विविध प्रकार के वर्णों की प्राप्ति होती है ।

१०. गन्धनामकर्म

यह कर्म दो प्रकार का होता है—(१) सुरभि-सुगन्ध, (२) दुरभि-दुर्गन्ध ।

सुरभि-सुगन्धनामकर्म वह कर्म है, जिसमें जीव का शरीर कपूर-कस्तूरी आदि पदार्थों के समान सुगन्धित होता है ।

इसके ठीक विपरीत दुरभि-दुर्गन्धनामकर्म होता है, जिसमें शरीर लहसुन या सड़े गले पदार्थों के समान दुर्गन्धित होता है ।

११. रसनामकर्म

इसके ५ भेद हैं—१. तिक्तरस, २. कटुरस, ३. कषायरस, ४. अम्ल-रस, ५. मधुरस ।^१ इन रसनामकर्मों में डकार लेने पर नामानुकूल रस या स्वाद की संवेदना होती है । अतः रसानुभूति के आधार पर यह स्वाभाविक रूप से अनुमान लगाया जा सकता है कि जीव में किस प्रकार के रसनामकर्म का उदय हुआ है ।

१२. स्पर्शनामकर्म के प्रकार

स्पर्शनामकर्म के ८ भेद हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) गुरु, (२) लघु, (३) मृदु, (४) खर, (५) शीत, (६) उष्ण, (७) स्निग्ध, (८) रूक्ष ।^२

गुरुस्पर्शनामकर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे जैसा भारी होता है ।

लघुस्पर्शनामकर्म के कारण जीव का शरीर रुई जैसा हल्का होता है ।

मृदुस्पर्शनामकर्म में जीव का शरीर मक्खन जैसा कोमल होता है ।

खरस्पर्शनामकर्म के उदय से जीव का शरीर गाय के शरीर जैसा खुरदरा या कर्कश होता है । इसे कर्कशस्पर्शनामकर्म भी कहते हैं ।^३

शीतस्पर्शनामकर्म के उदय से जीव का शरीर बर्फ जैसा ठण्डा होता है ।

उष्णस्पर्शनामकर्म के उदय से शरीर आग जैसा गर्म होता है ।

स्निग्धस्पर्शनामकर्म के उदय से शरीर घी जैसा चिकना होता है ।

रूक्षस्पर्शनामकर्म के उदय से शरीर बालू जैसा रूखा होता है ।

१३. आनुपूर्वी नामकर्म

गतिनामकर्म की भाँति आनुपूर्वी नामकर्म भी देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी एवं नरकानुपूर्वी के भेद से चार प्रकार का होता है ।^४

१. कर्णग्रन्थ, प्रथम भाग तित्तकडुकपाय अंवि ला महुरा । गाथा ४१.

२. फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्ह सिणिद्धरूक्ख द्ठठा । वही ग्रन्थ, गाथा ४१.

३. वही ग्रन्थ, पृ० १३० ।

४. वही ग्रन्थ, पृ० १३४-३५ ।

१. देवानुपूर्वी नामकर्म

अन्य गतियों के शरीर को छोड़कर देवगति को प्राप्त करने हेतु जीव की जो गति होती है उसे देवानुपूर्वी नामकर्म कहते हैं।

ठीक इसी प्रकार मनुष्य, तिर्यंच एवं नरक को प्राप्त करने हेतु जीव की जो गति होती है, उसे क्रमशः मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी एवं नरकानुपूर्वी नामकर्म कहते हैं।

४. विहायोगति नामकर्म

यह कर्म दो प्रकार का है—(१) शुभविहायोगति, (२) अशुभविहायोगति। ये दोनों नामकर्म जीव के क्रमशः शुभत्व एवं अशुभत्व के सूचक हैं।

इस प्रकार नामकर्म की पिण्डप्रकृतियों में बन्धन नामकर्म के ५ भेद मानने पर नामकर्म के कुल ६५ भेद होते हैं। पिण्ड प्रकृतियों के ६५ एवं प्रत्येक प्रकृतियों के २८ भेदों को जोड़ने पर तो नामकर्म के ९३ भेद होते हैं परन्तु बन्धननामकर्म के ५ के स्थान पर १५ भेदों को लेने पर नामकर्म के कुल १०३ भेद होते हैं।

इसी प्रकार बन्धन नामकर्म के १५, संघातन नामकर्म के ५ तथा वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श के २० उत्तरभेदों में केवल वर्णचतुष्क को रखकर १६, इस प्रकार कुल ३६ भेदों को नामकर्म की १०३ उत्तरप्रकृतियों में से घटा देने पर इसके ३७ भेद हो जाते हैं। इन वर्णनों से यह स्पष्ट है कि किस प्रकार नामकर्म के ४२, ६७, ९३ या १०३ भेद होते हैं और उनमें नामकर्म की किन-किन उत्तरप्रकृतियों का समावेश होता है।

नामकर्म की प्रकृतियों, उनके अवांतर भेदों एवं उनके स्वरूप के विस्तृत विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इनमें जीव के स्वाभाविक एवं शरीरगत वैचित्र्य की सम्पूर्ण विशेषताएँ समाविष्ट हैं।

७. गोत्रकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ

गोत्रकर्म दो प्रकार के होते हैं^१—१. उच्च गोत्र, २. नीच गोत्र।

१. (क) गोए णं भंते । कम्मे कइविहे पणत्ते, गोयमा दुविहे पणत्ते तं जहा उच्चागोए, य नीयागोए य ॥

प्रज्ञापना, पद २३, सूत्र २९३

(ख) उत्तराव्ययन सूत्र, २३/१४

(ग) तत्त्वार्थ सूत्र, ८/१२

१२८ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

उच्चगोत्रकर्म के अभ्युदय से जीव उच्च कुल में जन्म लेता है।

इसके ठीक विपरीत नीचगोत्रकर्म के प्रभाव से जीव निम्न कुल में जन्म धारण करता है।

८. अन्तरायकर्म को उत्तरप्रकृतियाँ

अन्तरायकर्म के निम्नलिखित ५ भेद हैं—

१. दानान्तराय, २. लाभान्तराय, ३. भोगान्तराय, ४. उपभोगान्तराय, ५. वीर्यान्तराय।

दान की सामग्री, दान लेने वाले गुणवान पात्र, दान आदि की इच्छा आदि होने पर भी जिस कर्म के कारण जीव को दान देने का उत्साह न हो, उसे दानान्तराय कर्म कहते हैं।

दाता उदार हो, दान की वस्तु विद्यमान हो, लेने वाला भी कुशल हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से उसे इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो, उसे लाभान्तराय कर्म कहते हैं।^१

जिस कर्म के उदय से भोग्य वस्तुओं के विद्यमान होने पर भी इनका भोग न हो सके, उसे भोगान्तरायकर्म कहते हैं।

इसी प्रकार उपभोग की सामग्री के विद्यमान होने पर भी जिस कर्म के प्रभाव से जीव उसका उपभोग न कर सके, उसे उपभोगान्तराय कर्म कहते हैं। यहाँ भोग एवं उपभोग के अन्तर को भी समझ लेना आवश्यक होगा।

भोग में किसी पदार्थ का भोग एक ही बार होता है जैसे—भोजन। वैसे भोजन बार-बार किया जाता है, पर किये हुए भोजन का भोग बार-बार नहीं हो सकता।

उपभोग में किसी एक ही पदार्थ का भोग बार-बार किया जा सकता है। जैसे—मकान, वस्त्र, आभूषण आदि।

जिस कर्म के अभ्युदय से शक्तिशाली एवं नीरोग होने के बाद भी, किसी कार्य विशेष में व्यक्ति का पराक्रम न दिखा पाना या अपनी सामर्थ्य का सदुपयोग न कर पाना, वीर्यान्तरायकर्म है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्म की मूल एवं उनकी १५८ उत्तर-प्रकृतियाँ जीव के विविध-गुणधर्मों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

जैन दर्शन में कर्मबन्धन का स्वरूप

बन्धन कर्मसिद्धान्त का महत्वपूर्ण विषय है। सभी भारतीय दर्शनों में बन्धन के प्रकार, स्वरूप तथा उससे मुक्ति के सम्बन्ध में गम्भीर दृष्टि से विचार किया गया है, परन्तु इस सम्बन्ध में जैनों का अपना मौलिक चिन्तन है, जो उनके ग्रन्थों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

बन्धन क्या है ? इस प्रश्न की व्याख्या करते हुए तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति कहते हैं कि “कषायभाव के कारण जीव का कर्म पुद्गलों से आक्रान्त हो जाना बन्ध है।”^१ गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) का यह उल्लेख कि “कषाय भाव की अधिकता अथवा मन्दता के अनुसार कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ अधिक अथवा कम समय के लिए सम्बन्ध होता है”,^२ भी बन्ध प्रक्रिया पर प्रकाश डालता है। पण्डित मालवणिया का मन्तव्य है कि “जड़ एवं जीव का विशिष्ट संयोग ही बन्धन कहलाता है।”^३ डॉ० सागरमल जैन का कथन है कि पुद्गल के अनेक प्रकारों में कर्म-वर्गणा या कर्म-परमाणु भी एक प्रकार है। कर्म-वर्गणा या कर्म-परमाणु एक सूक्ष्म भौतिक तत्त्व (द्रव्य) है, इस भौतिक कर्म-द्रव्य (Karmic matter) से आत्मा का सम्बन्धित होना ही बन्धन है।”^४ एक अन्य स्थल पर वे लिखते हैं कि “बन्धन आत्मा का अनात्म से, जड़ का चेतन से, देह का देही से संयोग है।”^५

इन तथ्यों के आधार पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि बन्धन दो विरोधी गुण-धर्मों वाली सत्ताओं को परस्पर संयोजित करने की एक कड़ी है। बन्धन के निमित्त से ही हमारे मानसिक, वाचिक एवं कायिक व्यापारों की छाप आत्मा पर पड़ती है एवं कर्म की शुभता और अशुभता के अनुसार उसका स्वरूप भी परिवर्तित होता है अर्थात् बन्धन के कारण आत्मा, वास्तविक स्थिति का परित्याग कर विकारवान होती है।

१. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ।

—तत्त्वार्थसूत्र, ८/२, ३

२. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ४ ।

३. आत्ममीमांसा, पृ० ६२ ।

४. जैन बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम भाग, पृ० ३५५ एवं जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ५६ ।

५. वही, पृ० ३५५ ।

कर्म बन्ध के प्रकार

प्रकृति, स्थिति, रस (अनुभाग) तथा प्रदेश के भेद से बन्धन चार प्रकार का होता है।^१

१. प्रकृति-बन्ध

इस बन्ध से कर्म-प्रकृतियों के स्वभाव का मूल्यांकन होता है, साथ ही यह भी निर्धारित होता है कि आत्मा की ज्ञान, दर्शनादि शक्तियों में किस शक्ति का आवरण आवश्यक रूप से होगा। दूसरे शब्दों में प्रकृति बन्ध आत्मा के सम्पर्क में आने वाले कर्म-पुद्गलों के स्वरूप का स्पष्टीकरण करता है। कर्मग्रन्थ में मोदक के दृष्टान्त से प्रकृतिबन्ध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि “जैसे वातनाशक पदार्थों से बने लड्डुओं का स्वभाव वायु को नाश करने का, पित्तनाशक पदार्थों से बने हुए लड्डुओं का स्वभाव पित्त को शान्त करने का और कफनाशक पदार्थों से बने हुए लड्डुओं का स्वभाव कफ नष्ट करने का होता है; वैसे ही आत्मा के द्वारा ग्रहित कर्मपुद्गलों में से कुछ में आत्मा के ज्ञानगुण को ढाँकने की, कुछ में आत्मा के अनन्त सामर्थ्य को दबा देने की आदि शक्तियाँ पैदा होती हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मपुद्गलों में भिन्न-भिन्न प्रकार की आत्मिक शक्तियों के आवरण की क्षमता होती है, इसे ही प्रकृतिबन्ध कहते हैं।^२

२. स्थिति-बन्ध

यह आत्मा और कर्मपुद्गलों के सम्बद्ध रहने की कालावधि को निर्धारित करता है, अर्थात् इससे यह निश्चित होता है कि आत्मा की, ज्ञान, दर्शन आदि जिन शक्तियों का आवरण हुआ है, वह कितने काल या समय तक के लिए हुआ है। यह बन्धन की कालावधि का निर्धारक है।

३. अनुभाग-बन्ध

यह कर्मबन्ध की तीव्रता एवं मन्दता के अनुसार उनके फल या विपाक का निश्चय करता है। दूसरे शब्दों में अनुभाग-बन्ध कर्मफल की तीव्रता और मन्दता का निर्धारण करता है।

४. प्रदेश-बन्ध

कर्म परमाणु आत्मा के किस विशिष्ट भाग का आवरण करेंगे, यह

१. पगइठिइरसपएसा तं चउहा सोयगस्स दिट्ठता ।

—कर्मग्रन्थ प्रथम भाग, गाथा २

२. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० १० ।

प्रदेश-बन्ध निर्धारण करता है। यह कर्मफल की विस्तार-क्षमता का निर्धारक है।

बन्धन के इन प्रकारों की व्याख्या अति महत्वपूर्ण है। इनसे क्रमशः कर्म-परमाणुओं के सम्बद्ध होने से आत्मा के किसी विशिष्ट स्वभाव के आवरण की, अमुक समय तक उक्त आवरण के बने रहने की तथा उसके अनुसार कर्मविपाक की तीव्रता एवं मन्दता की आदि सूचना मिलती है।

कर्म-बन्ध के कारण

जहाँ कर्मबन्धन का स्वरूप जीव एवं जड़ कर्मपुद्गलों के पारस्परिक संयोग के विविध स्थितियों की सूचना देता है, वहीं कर्मबन्धन के कारण उन तथ्यों का स्पष्टीकरण करते हैं, जिनसे आत्मा और कर्म का सम्बन्ध स्थापित होता है।

जैन दर्शन में आस्रव को बन्धन का महत्वपूर्ण कारण स्वीकार किया गया है। आस्रव शब्द क्लेश या मल का सूचक है। इसके निमित्त से कर्मपुद्गल आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं और उससे सम्बन्ध स्थापित करते हैं। दूसरे शब्दों में आस्रव उन मूल कारणों को प्रतिबिम्बित करता है जिनके प्रभाव से कर्मपुद्गल आत्मा के सम्पर्क में आते हैं और अन्ततः आत्मा के बन्धन के प्रमुख कारण बन जाते हैं। सामान्य अर्थ में कर्म-वर्गणाओं का आत्मा के सम्पर्क में आना आस्रव है।^१ इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आस्रव कर्मबन्ध का एक निमित्त कारण है, क्योंकि जब तक कर्म-वर्गणा के पुद्गल आत्मा के सम्पर्क में नहीं आयेंगे, तब तक बन्धन का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। तत्त्वार्थसूत्र में जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों को आस्रव कहा गया है।^२ उसमें यह भी संकेत किया गया है कि “जीव की पुण्य-प्रवृत्तियों से शुभ कर्म का आस्रव (बन्ध) होता है तथा अशुभ प्रवृत्तियों से पाप कर्म का आस्रव (बन्ध) होता है।^३ जैनागमों में विभिन्न स्थलों पर इनके विभिन्न प्रकार के विवरण उपलब्ध होते हैं। यहाँ आस्रव के विविध भेदोपभेदों को विस्तृत चर्चा न करके मात्र यही कहना युक्ति संगत होगा कि आस्रव, कर्मबन्धन का एक निमित्त कारण है और इसमें कर्मबन्धन के सभी महत्वपूर्ण कारण अन्तर्निहित हैं।

१. जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ५७।

२. कायवाङ्मनः कर्म योगः। स आस्रवः।

—तत्त्वार्थसूत्र, ६/१-२

३. शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।

वही, ६/३

१३२ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

सामान्य रूप से बन्धन के पाँच हेतु हैं, जो निम्नलिखित हैं—

१. मिथ्यात्व, २. अविरति, ४. प्रमाद, ४. कषाय और ५. योग ।^१

१. मिथ्यात्व

इसका दूसरा नाम मिथ्यादर्शन है। इसके कारण पदार्थ का यथार्थ श्रद्धान न होकर मिथ्या श्रद्धा होता है, अर्थात् इसके सम्पर्क से जीव को एक ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है जिसमें वह किसी पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को असत्य मानकर उसके अयथार्थ स्वरूप को ही सत्य मान बैठता है। इसके पाँच भेद हैं—

१. एकान्त, २. विपरीत, ३. विनय, ४. संशय और ५. अज्ञान ।^२

१. विपरीत मिथ्यादर्शन

वस्तुपरक एकांगी ज्ञान को ही पूर्ण सत्य मान लेना एकान्त-मिथ्या-दर्शन है।

२. विपरीत मिथ्यादर्शन

किसी पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण न करके, ठीक उसके विपरीत रूप को ग्रहण करना विपरीत मिथ्यादर्शन है, जैसे—सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ मानना, केवली को अकेवली मानना आदि।

३. वैनयिक मिथ्यादर्शन

बिना किसी विशिष्ट मनन, चिन्तन के सभी प्रकार के मतों, धारणाओं, नियमोपनियमों को एक समान मान लेना वैनयिक मिथ्या-दर्शन है।

४. संशय मिथ्यादर्शन

ऐसे मिथ्या दर्शन वाले जीव की स्थिति दोलायमान रहती है, कभी तो वह सत्य को असत्य मान लेता है और कभी असत्य को सत्य मान बैठता है, दूसरे शब्दों में ऐसे जीव सत्य या असत्य के मापन में कोई निश्चित धारणा नहीं रखते। एक तरह से यह अनिर्णयावस्था है।

५. अज्ञान मिथ्यादर्शन

हिताहित की परीक्षा से रहित होना अज्ञान मिथ्यादर्शन है।

१. (क) पंच आसवद्वारा पण्यत्ता तं जहा—मिच्छत्तं अविरद्-पमाए, कसाया, जोगा। स्थानांग, ५/२/४१८

(ख) मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्धहेतवः। तत्त्वार्थसूत्र, ८/१

२. पंचविधं मिथ्यादर्शनम्—एकान्तमिथ्यादर्शनं विपरीतमिथ्यादर्शनं, संशय-मिथ्यादर्शनं, वैनयिकमिथ्यादर्शनं, अज्ञानिकमिथ्यादर्शनं चेति।

तत्त्वार्थसूत्र (सर्वार्थसिद्धि टीका), ८/१

२. अविरति

यह जीवन की असंयमित एवं अमर्यादित प्रणाली है, जिसमें जीव हिंसा, असत्य, स्तेनकर्म, मैथुन, संचय आदि दुर्वृत्तियों में संलग्न रहता है। अशुभ प्रवृत्तियों से विरत न होना ही अविरति है।

३. प्रमाद

प्रमाद आत्म जागृति के अभाव का सूचक है। यह विवेक शक्ति को कुण्ठित करता है। कषायों एवं वासनाओं के तीव्र आवेग के कारण आत्म-चेतना का प्रसुप्त होना ही प्रमाद है।

४. कषाय

कषाय से अभिप्राय मन के आन्तरिक मनोविकारों से है। ये मूलतः चार हैं—क्रोध, मान, माया एवं लोभ; जो अपनी तीव्रता और मन्दता के आधार पर १६ प्रकार के होते हैं। इनका विशेष विवेचन मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों की चर्चा के प्रसंग में किया गया है।

५. योग

जैन पारिभाषिक शब्दावली में जीव के मानसिक, वाचिक एवं कायिक व्यापार का नाम योग है।

बन्धन के उक्त पाँच कारणों में कषाय और योग ये दो महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद के मूल तो कषाय ही हैं। ऊपर जो कर्मबन्ध के ५ कारण निर्दिष्ट हैं, उनमें प्रारम्भ के तीन कारण कषाय के ही अवान्तर गुण हैं अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति एवं प्रमाद एक प्रकार के कषाय ही हैं, जो आत्मा के विविध गुणों का घात करते हैं। यदि इन तीनों को कषाय के स्वरूप से भिन्न माना जाय, तो फिर कषाय का कोई तात्त्विक अर्थ ही नहीं रह जाता। वैसे कर्मबन्ध की विस्तृत व्याख्या के लिए मिथ्यात्वादि पाँचों को कर्मबन्ध का कारण कहा गया है। परन्तु कषाय एवं योग ही कर्मबन्ध के मूल कारण हैं, जिनमें बन्धनकारक जीव के सम्पूर्ण मनोविकारों का समावेश है।

निष्कर्षतः बन्धन न तो शरीर में है, न इन्द्रियों में है और न ही बाहर किसी अन्य वस्तु में, बल्कि इनके निमित्त से मन में राग एवं द्वेष रूप जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन भावों के कारण ही बन्धन होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में राग एवं द्वेष को कर्म का बोध कहा गया है और इन दोनों का कारण मोह बताया गया है।^१ समयसार में आचार्य कुन्द-

१. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति ।

उत्तराध्ययन सूत्र, ३२/७

कुन्द लिखते हैं कि “आसक्त आत्मा ही कर्मों का बन्ध करता है और अनासक्त मुक्त हो जाता है। इसलिए कर्मों में आसक्ति मत रखो^१। इन उल्लेखों से यह फलित होता है कि राग एवं मोह ही कर्मबन्धन के प्रमुख कारण हैं। कर्मबन्धन में राग एवं द्वेष रूप भावों की प्रधानता को आचारांग सूत्र के एक उद्धरण से स्पष्ट करते हुए उपाध्याय अमरमुनि लिखते हैं कि “आँखें जब हैं तो वे रूप को ग्रहण करेंगी ही, अच्छा या बुरा जो भी दृश्य उनके सामने आयेगा उसको ग्रहण करेंगी ही। साधक बनने के लिए सूरदास बनना जरूरी नहीं है, किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि आँखों के सामने अच्छा या बुरा जो भी रूप आये उसे वे ग्रहण तो भले ही करें, किन्तु उसके सम्बन्ध में उनमें राग एवं द्वेष का भाव न आवे, किसी प्रकार का दुर्विकल्प न हो, तो आँखों से देखने में कोई हानि नहीं है। इसी प्रकार कान है, तो जो भी स्वर या शब्द उसकी सीमा के अन्दर होगा, उसे वह सुनेगा ही, निन्दा और स्तुति, जयजयकार और भर्तृना दोनों ही ध्वनियाँ कान में अवश्य आयेंगी किन्तु उनके प्रति राग-द्वेष का विकल्प नहीं उठना चाहिये। यदि वास्तव में जीव अपने को ऐसा बना लेता है तो संसार के कोई भी पदार्थ उसे बन्धन में नहीं डाल सकते हैं।^२

इन तथ्यों से यही फलित होता है कि कर्मों का बन्धन अपने रागात्मक एवं द्वेषात्मक भावों के फलस्वरूप ही होता है। जहाँ तक कर्मबन्धन के कारणों के विवेचन के ऐतिहासिक विकासक्रम का प्रश्न है, अंग-आगमों में उसका क्रमिक विकास देखा जा सकता है।

आचारांग सूत्र में तो हमें ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है जिसमें बन्धन के कारणों का विवेचन किया गया हो, किन्तु उसमें यत्र-तत्र कुछ ऐसे बिखरे हुए सन्दर्भ अवश्य मिलते हैं जिनके आधार पर बन्धन के कारणों को विवेचित किया जा सकता है। यथा एक स्थान पर कहा गया है कि “कम्मं परिणाय सब्बसो” अर्थात् कर्म को सम्यक् रूप से जाने।^३ यहाँ कर्म से तात्पर्य बन्धन के कारणों से ही है। अन्यत्र यह भी कहा गया है कि “जो बन्ध और मोक्ष का अन्वेषण करता है वहो

१. रत्तो बंधदि कम्मं मुञ्चदि जीवो वीरागसंपत्तो ।

एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥

समयसार, १५० ।

२. चिन्तन की मनोभूमि, उपाध्याय अमरमुनि, पृ० ६३ ।

३. इति कम्मं परिणाय सब्बसो । आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कंध, २/६/१०१

मेधावी है।^१ यहाँ बन्धन के अन्वेषण का तात्पर्य उसके कारणों को जानना ही है। आचारांग के तृतीय अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में साधक को यह कहा गया है कि “वह क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, गर्व, जन्म, मृत्यु, नरक, तिर्यच और दुःख का निवर्तन करे।^२ यहाँ पर कार्य-कारण भाव का स्पष्ट उल्लेख न होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष एवं मोह, जन्म, मरण, नरक, तिर्यञ्च आदि दुःख के कारण हैं। एक अन्य स्थल पर “सम्मत्तदंसी ण करेइ पावं” कह कर इस बात को स्पष्ट किया गया है कि मिथ्यादर्शन पाप अर्थात् बन्धन का कारण है।^३ इस प्रकार आचारांग में प्रकारान्तर से राग-द्वेष आदि कषायों एवं मिथ्यात्व को बन्धन का कारण मान लिया गया है। इसी प्रकार सूत्रकृतांगसूत्र में बन्धन के कारणों को जानकर उन्हें तोड़ने की बात कही गयी है।^४ इस उल्लेख से भी यह फलित होता है कि सूत्र-कृतांग के रचनाकाल तक बन्ध के कारणों की चर्चा प्रारम्भ हो गयी थी, क्योंकि अगर ऐसा नहीं होता तो फिर बन्धन-कारणों को जानकर तोड़ने की बात नहीं होती।

सूत्रकृतांगसूत्र के एक अन्य उल्लेख में स्पष्ट कहा गया है कि “सबके अन्तःकरण में व्याप्त लोभ, सभी प्रकार की माया, उत्कर्ष, रूप-अहंकार और क्रोध का सर्वथा त्याग करने पर ही जीव सर्वथा कर्मबन्ध से रहित होता है।^५ इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि क्रोध, मान, माया एवं लोभ को बन्धन का मूल कारण माना जाने लगा था। यद्यपि यहाँ इन चारों नामों में भिन्नता है फिर भी परवर्ती साहित्य में जिन्हें चार कषाय कहा गया है, उन्हें ही नामान्तर से यहाँ बन्धन का कारण कहा गया है। सूत्रकृतांग सूत्र में एक स्थान पर प्रमाद को कर्म तथा अप्रमाद को अकर्म^६

१. से मेधावी जे अणुघातणस्स खेतण्णे जे य बंधपमोक्खण्णेसी ।

आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, २/६/१०४ ।

२. वही, ३/४/३०

३. सम्मत्तदंसी ण करेइ पावं ।

वही, ३/२/११२ ।

४. बुज्झिज्ज तिट्ठिज्जा बंधणं परिजाणिया ।

सूत्रकृतांगसूत्र, १/१/१

५. सब्बप्पणं विउक्कस्सं सब्बं णूमं विहूणिया ।

अप्पत्तिअं अकम्मसे एयमट्ठं मिगे चुए ॥

वही, १/२/१२

६. पमायं कम्माहुंसु अप्पमायं त्हावरं ।

वही, १/८/३

कहकर भी यह सूचित किया गया है कि प्रमाद बन्धन का कारण है। इसमें उन १३ क्रियाओं की भी चर्चा है जिसको योग कहा गया है और योग को बन्धन का कारण माना गया।^१ इस प्रकार सूत्रकृतांगसूत्र में कर्मबन्ध के विविध कारणों की चर्चा उपलब्ध है। बन्धन के प्रकारों में प्रकृति, स्थिति, प्रदेश एवं अनुभाग का उल्लेख आचारांग एवं सूत्रकृतांग में तो नहीं है, परन्तु स्थानांगसूत्र में इनका उल्लेख मिलता है।^२ यद्यपि स्थानांग (ईसा चतुर्थ शती) का रचना काल इन आगमों की अपेक्षा काफी परवर्ती है।

समवायांगसूत्र में राग-द्वेष को बन्धन कहा गया है।^३ इसमें मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इन पाँच आस्रव द्वारों या बन्ध हेतुओं की भी चर्चा है।^४ इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश बन्ध की भी चर्चा है।^५

भगवतीसूत्र में भी बन्धन-कारणों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि “जीव, प्रमाद एवं योग के निमित्त से कर्मों को बाँधते हैं।”^६ इस प्रकार भगवतीसूत्र में भी कषाय एवं योग को ही कर्मबन्धन का मूल कारण माना गया है। योग की आत्मव के रूप में चर्चा इसी काल के ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में भी है। भगवतीसूत्र में कर्मप्रकृतियों के विवरण से बन्ध के चार प्रकारों पर भी स्पष्ट प्रकाश पड़ता है; क्योंकि इसमें प्रत्येक कर्म की प्रकृति या स्वभाव-निरूपण के साथ ही उनकी स्थिति का एक निश्चित कालक्रम भी निर्धारित किया गया है।^७ प्रदेश एवं अनुभाग का इसमें स्पष्ट नामोल्लेख

१. सूत्रकृतांगसूत्र २/२/१।

२. चउम्बिहे बंधे णणत्ते पगइबंधे, ठिइबंधे, अणुभावबंधे पएसबंधे।

स्थानांगसूत्र, ४/२/२६

३. दुविहे बंधणे पन्नत्ते। तं जहा—रागबंधणे चेव दोसबंधणे चेव।

समवायांग सूत्र, २/९

४. षंच आसवद्वारा पन्नत्ता, तं जहा—मिच्छत्तं, अविरई, पमाया, कसाया, योगा।

वही, ५/२६

५. चउम्बिहे बंधे पन्नत्ते तं जहा—पगइबंधे, ठिइबंधे, अणुभावबंधे, पएसबंधे।

वही, ४/२०

६. भगवतीसूत्र, १/३/१२७

७. वही, ६/३/१५

तो नहीं है पर उनके संकेत भी भगवतीसूत्र के कतिपय विवरणों में प्रतिबिम्बित होते हैं।

उपांग साहित्य में मुख्य रूप से प्रज्ञापनासूत्र में कर्मबन्ध के प्रमुख कारणों का विस्तृत उल्लेख है, पहले तो उसमें बन्धन के दो कारण—राग एवं द्वेष बताये गये हैं। तदनन्तर राग के माया एवं लोभ एवं द्वेष के क्रोध और मान ऐसे दो उपभेद किये गये हैं।^१

मूलसूत्रों में उत्तराध्ययनसूत्र में भी राग एवं द्वेष को ही कर्मबन्धन का मूल बीज कहा गया है।^२

शौरसेनी आगम साहित्य के ग्रन्थ षट्खण्डागम और कसायपाहुड तो कर्मसिद्धान्त का एक विकसित रूप प्रस्तुत करते हैं। इससे ऐसा लगता है कि ये अर्धमागधी आगमों की अपेक्षा परवर्ती काल की रचनाएँ हैं। इनमें बन्धन के सभी कारणों की चर्चा उपलब्ध है।

कर्मबन्धनके कारणों की विवेचना के ऐतिहासिक विकास क्रम को देखने पर यह स्पष्ट होता है कि बन्धन के कारण की चर्चा प्राचीन काल के आगमों में भी आ चुकी थी। यद्यपि इनमें इनके भेद-उपभेदों के विस्तृत विवरण नहीं हैं, फिर भी बाद में विकसित इन सब धारणाओं के बीज इन ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अर्धमागधी आगम साहित्य से लेकर शौरसेनी आगम साहित्य एवं प्राचीन कर्मग्रन्थों तक कर्मबन्धन के कारणों की चर्चा एक विकासमान क्रम में उपलब्ध होती है जो कर्मविषयक साहित्य में सुव्यवस्थित एवं सुदृढ़ हो चुकी है।

कर्मबन्ध के प्रमुख कारणों की चर्चा के साथ ही साथ जैन ग्रन्थों में प्रत्येक कर्म के बन्ध के कारणों एवं तज्जनित विपाक का भी निरूपण उपलब्ध होता है। प्रत्येक कर्मप्रकृति के बन्धन के कारणों की चर्चा डॉ० सागरमल जैन के ग्रन्थ जैनकर्मसिद्धान्त में निम्न रूपों में मिलती है—

१. ज्ञानावरणीयकर्म के बन्धन के कारण

यह कर्म छः प्रकार से बँधता है—

१. दोहि ठणेहि तं जहा रागेण य दोसेण य, रागे दुविहे पणत्ते तं जहा माया य, लोभेय, दोसे दुविहे पणत्ते तंजहा कोहे य, माणे य एवं खलु जीवे कम्मं बंधई।

पन्नवणा सूत्र, २३/६

२. रागो य दोसो विय कम्मवीयं ।—उत्तराध्ययनसूत्र, ३२/७

१. ज्ञान और ज्ञानी की प्रत्यनीकता (विरोध) करने से ।
२. ज्ञान और ज्ञानदाता का अपलाप करने (लोप करने/छुपाने) से ।
३. ज्ञान प्राप्त करने वाले को अन्तराय डालने (बाधक बनने) से ।
४. ज्ञान और ज्ञानी से द्वेष करके ।
५. ज्ञान और पुरुषों के कथनों को विनयपूर्वक स्वीकार न करने से ।
६. ज्ञानी से विसंवाद करने से ।^१

इस कर्म का फल दस प्रकार का है—१. श्रोत्र इन्द्रिय का आवरण, २. श्रुत ज्ञान का आवरण, ३. चक्षुइन्द्रिय का आवरण, ४. चक्षुइन्द्रिय से होने वाले ज्ञान का आवरण, ५. गन्ध ग्रहण करने की शक्ति का अभाव, ६. गन्ध सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, ७. स्वाद ग्रहण करने की शक्ति का अभाव, ८. रसना ज्ञान का आवरण, ९. स्पर्श-क्षमता का अभाव तथा १०. स्पर्श सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि ।^२

२. दर्शनावरणीय कर्म के बन्ध के कारण

ज्ञानावरणीय कर्म के समान ही छः प्रकार के अशुभ आचरण से दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध होता है—

१. दर्शन और दर्शनी की प्रत्यनीकता (विरोध) करने से ।
२. दर्शन एवं दर्शनी का अपलाप करने (लोप करने/छुपाने) से ।
३. दर्शन प्राप्त करने वाले को अन्तराय डालने (बाधक बनने) से ।
४. दर्शन और दर्शनी से द्वेष करने से ।
५. दर्शन एवं दर्शनी की अशातना करने से, एवं
६. सम्यक् दृष्टि जीव से द्वेष करने से ।^३

इस कर्म के ९ प्रकार के फल हैं—

१. चक्षुदर्शनावरण—नेत्र शक्ति का अवरुद्ध हो जाना ।
२. अचक्षुदर्शनावरण—नेत्र के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों की सामान्य अनुभव शक्ति का कुण्ठित हो जाना ।
३. अवधिदर्शनावरण—सीमित अतीन्द्रिय दर्शन को उपलब्धि में बाधा उपस्थित होना ।

१. (क) कर्मग्रन्थ, १/५४

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र, ६/११

२. तत्त्वार्थ सूत्र, ८/७

३. (क) कर्मग्रन्थ, १/५४

(ख) तत्त्वार्थसूत्र, ६/११

४. केवलदर्शनावरण—पूर्ण दर्शन की प्राप्ति न होना ।
५. निद्रा—सामान्य निद्रा ।
६. निद्रा-निद्रा—गहरी निद्रा ।
७. प्रचला—बैठे-बैठे आने वाली निद्रा ।
८. प्रचला-प्रचला—चलते-फिरते आने वाली निद्रा ।
९. स्त्यानगृद्धि—दिन में सोचे हुए कार्य को निद्रावस्था में कर डालने की शक्ति उत्पन्न होना ।^१

३. वेदनीयकर्म के बन्धन के कारण

वेदनीय कर्म के भेदों में सातावेदनीयकर्म का बन्धन दस कारणों से होता है । इसके बन्धन से जीव को सुख की संवेदना होती है ।

१. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों पर अनुकम्पा करने से, २. वनस्पति, वृक्ष, लता आदि पर अनुकम्पा करने से, ३. द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों पर अनुकम्पा करने से, ४. पंचेन्द्रिय पशुओं एवं मनुष्यों पर अनुकम्पा करने से, ५. किसी को भी किसी प्रकार का कष्ट न देने से, ६. प्रत्येक प्राणी को चिन्ता एवं भय से मुक्त करने से, ७. उन्हें पीड़ित नहीं करने से, ८. किसी भी प्राणी को रुदन न कराने से, ९. किसी भी प्राणी को न मारने से एवं १०. किसी भी प्राणी को दुःखी नहीं करने से ।^२ कर्मग्रन्थ में गुरु-भक्ति, क्षमा, करुणा, व्रत, योग, कषायविजय, दान करने, धर्म में स्थिर रहने आदि को सातावेदनीय कर्म के बन्धन का कारण बताया गया है ।^३

सातावेदनीय कर्म का विपाक आठ प्रकार का होता है—१. मनोज्ञ शब्द, २. मनोहर रूप, ३. मनोहर गन्ध, ४. मनोहर रस, ५. मनोज्ञ-स्पर्श, ६. इच्छित सुख, ७. शुभ वचन, प्रशंसा आदि सुनने का अवसर प्राप्त होता है, ८. शारीरिक सुख आदि प्राप्त होता है ।^४

वेदनीयकर्म के दूसरे भेद असातावेदनीय कर्म के बन्धन से जीव को

१. तत्त्वार्थसूत्र, ८/८

२. नवपदार्थ ज्ञानसागर, पृ० २३७.

३. गुरुभक्तिसंघतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुआ ।

दढघम्माई अज्जइ सायं ॥

कर्मग्रन्थ, १/५५

४. (क) पन्तवणा, २३/१/१२

(ख) नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २३७.

दुःख की संवेदना होती है। इसके बन्ध के निम्न १२ कारण हैं—१. किसी भी प्राणी को दुःख देने से, २. चिन्तित करने से, ३. शोकाकुल करने से, ४. रुलाने से, ५. मारने से, ६. परिताप उत्पन्न करने से, इन छः क्रियाओं की मन्दता एवं तीव्रता के आधार पर उनके १२ प्रकार हो जाते हैं।^१ तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार—१. दुःख, २. शोक, ३. ताप, ४. आक्रन्दन, ५. वध, और परिवेदन ये छः असातावेदनीयकर्म के बन्धन के कारण हैं, जो स्व एवं पर की अपेक्षा से १२ प्रकार के हो जाते हैं।^२ कर्मग्रन्थ में सातावेदनीय कर्म के बन्ध के कारणों के ठीक विपरीत आचरण करने को असातावेदनीय कर्म के बन्धन का कारण बताया गया है।^३

इस कर्म का फल आठ प्रकार का है, जो इस प्रकार है—

१. अमनोज्ञ शब्द—कटु शब्द सुनने पड़ते हैं।
२. अमनोज्ञ रूप—सौन्दर्यविहीन रूप देखने को मिलते हैं।
३. अमनोज्ञ गन्ध—रुचि विरुद्ध गन्धानुभूति होती है।
४. अमनोज्ञ रस—इच्छाविरुद्ध भोजनादि की उपलब्धि होती है।
५. अमनोज्ञ स्पर्श—अमनोज्ञ एवं दुःखद संवेदना उत्पन्न करने वाले स्पर्श की प्राप्ति होती है।

६. अमनोज्ञ मानसिक अनुभूतियाँ होती हैं, ७. निन्दा एवं अपमान-जनक वचन सुनने पड़ते हैं। ८. शरीर में अनेकानेक रोगों के प्रादुर्भाव से शरीर को कष्टानुभूति होती है।

४. मोहनीयकर्म के बन्धन के कारण

यह कर्म छः कारणों से बँधता है—१. तीव्र क्रोध करने से, २. तीव्र मान करने से, तीव्र माया करने से, ४. तीव्र लोभ करने से, ५. तीव्र दर्शनमोहनीय, और ६. तीव्र चारित्र मोहनीय से। इनमें प्रथम पाँच से चारित्रमोह का एवं अन्तिम से दर्शनमोह का बन्ध होता है। कर्मग्रन्थ में दर्शन मोह और चारित्रमोह के भिन्न-भिन्न कारण बताये गये हैं। उसमें उल्लेख है कि 'उन्मार्ग का उपदेश देने और सन्मार्ग का अपलाप करने, देवद्रव्य का हरण करने और जिन केवली, मुनि, चैत्य, संघ आदि के विरुद्ध आचरण करने से दर्शनमोहनीयकर्म का बन्ध होता है।'^४ चारित्र-

१. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २३७.

२. तत्त्वार्थसूत्र, ६/१२.

३. नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २३७.

४. उम्मगदेसणा मग्नासणा देवदव्वहरणेहि दंसणमोहं जिणमुणिचेइय संघाए प्रडिणीओ।
कर्मग्रन्थ, प्रथम ५६

मोहकर्म के बन्धन में क्रोधादि कषायों एवं हास्यादि नोकषायों तथा विषयों में अनुरक्तता को प्रमुख बताया गया है।^१ तत्त्वार्थसूत्र में सर्वज्ञ, श्रुत, संघ, धर्म और देव के अवर्णवाद (निन्दा) को दर्शनमोह का तथा कषायजनित आत्मपरिणाम को चारित्र्यमोह का कारण माना गया है।^२ समवायांग सूत्र में तीव्रतम मोहकर्म के बन्धन के तीस कारणों की चर्चा है,^३ जो इस प्रकार है—१. किसी त्रस प्राणी को पानी में डुबाकर मारने से, २. किसी त्रस प्राणी को तीव्र अशुभ अध्यवसाय से मस्तक पर गोला चमड़ा बाँधकर मारने से, ३. त्रस प्राणी को मुँह बाँधकर मारने से, ४. किसी त्रम प्राणी को अग्नि के धुँए से मारने से, ५. त्रस प्राणी का मस्तक छेदन करके मारने से, ६. त्रस प्राणी को छल करके मारने से, ७. मायाचार करके तथा असत्य बोलकर अपना अनाचार छिपाने से, ८. निज दुराचार को छिपाकर दूसरे पर कलंक लगाने से, ९. कलह के कारणों को जानते हुए मिश्र भाषा बोलने से, १०. पति-पत्नी में मतभेद पैदा करने से, ११. स्त्री में आसक्त रहकर भी अपने को कुँवारा कहने से, १२. कामुक होकर अपने को ब्रह्मचारी कहने से, १३. चापलूसी करके अपने मालिक को ठगने से, १४. किसी विशिष्ट व्यक्ति की अनुकम्पा से समृद्ध होने के बाद पुनः उसी व्यक्ति के कार्यों में द्वेष एवं ईर्ष्या के वशीभूत होकर विघ्न डालने से, १५. अपने उपकारी की हत्या करने से, १६. प्रसिद्ध पुरुष की हत्या करने से, १७. प्रमुख पुरुष की हत्या करने से, १८. संयमी पुरुष को पथभ्रष्ट करने से, १९. महान पुरुषों की निन्दा करने से, २०. न्यायमार्ग की अवहेलना व निन्दा करने से, २१. आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु की निन्दा करने से, २२. आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु का अविनय करने से, २३. अबहुश्रुत होकर अपने आपको बहुश्रुत कहने से, २४. तपस्वी न होकर अपने आपको तपस्वी कहने से, २५. अस्वस्थ आचार्य आदि की सेवाम न करने से, २६. कुशास्त्र आदि का प्ररूपण करने से, २७. अपनी प्रशंसा आदि के लिए मन्त्रोच्चारण करने से, २८. इहलोक एवं परलोक में भोगोपभोग प्राप्त करने की आकांक्षा रखने से, २९. देवताओं की निन्दा करने से या करवाने से, ३०. असर्वज्ञ होकर अपने आपको सर्वज्ञ कहने से। इस प्रकार समवायांग सूत्र में मोहकर्म के बन्धन

१. कर्मग्रन्थ, प्रथम ५७

२. तत्त्वार्थसूत्र, ३/१४-१५

३. समवायांग, ३०/१-३०, पृ० ८५-८७

१४२ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

के इन तीस कारणों का उल्लेख है। इस कर्म का अट्टाईस प्रकार से भोग किया जाता है। वे अट्टाईस प्रकार वही हैं, जो कर्मप्रकृतियों की चर्चा में गिनाये जा चुके हैं।

५. आयुष्यकर्म के बन्ध के कारण

आयुष्यकर्म नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव के भेद से ४ प्रकार का है। स्थानांग सूत्र में प्रत्येक आयुष्यकर्म के बन्धन के चार-चार कारण बताये गये हैं।^१

इस प्रकार आयुष्यकर्म के बन्धन के कुल १६ कारण हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. नरकायु चार प्रकार से बंधता है

(क) महारम्भ (भयानक हिंसक कर्म) करने से, (ख) महापरिग्रह करने से, (ग) पंचेन्द्रिय का घात करने से, और (घ) मद्य मांस का सेवन करने से।

१. तिर्यञ्चायु बंध के कारण

(क) माया करने से, (ख) गूढ़ माया करने से, (ग) असत्य बोलने से, (घ) न्यूनाधिक नाप-तौल करने से। कर्मग्रन्थ में प्रतिष्ठा कम होने के भय से पाप का प्रकट न करना भी तिर्यञ्च आयु के बन्ध का कारण माना गया है।^२ तत्त्वार्थ सूत्र में माया को भी पशुयोनि का कारण बताया गया है।^३

३. मनुष्यायु के बन्ध के कारण

(क) सरलता, (ख) विनोतता, (ग) दयाभाव (घ) मद-मत्सर आदि से रहित होने से।

४. देवायु के बन्ध के कारण

(क) सराग संयम पालने से, (ख) देशसंयम पालने से, (ग) बाल तपस्या करने से, (घ) अकाम निर्जरा करने से। तत्त्वार्थ सूत्र में भी ये ही कारण निर्दिष्ट हैं।^४ कर्मग्रन्थ के अनुसार अविरत सम्यक्दृष्टि मनुष्य या तिर्यञ्च, देशविरत श्रावक, सरागी साधु, बाल तपस्वी और इच्छा नहीं

१. स्थानांग सूत्र, १/४४/३७३

२. कर्मग्रन्थ, १/५८

३. तत्त्वार्थ सूत्र, ६/१७

४. तत्त्वार्थसूत्र, ६/२०

होते हुए भी परिस्थितिवश भूख-प्यास आदि जो सहन करते हुए अकाम निर्जरा करने वाले देवायु का बन्ध करते हैं ।^१

व्यायुष्यकर्म चार प्रकार से भोगा जाता है—१. नरक आयु, २. तिर्यञ्च आयु, ३. मनुष्य आयु, और ४. देव आयु ।^२

६. नामकर्म के बंध के कारण

नामकर्म आठ प्रकार से बँधता है । यह दो प्रकार का है—(१) शुभ नामकर्म और (२) अशुभनामकर्म ।

शुभनामकर्म चार प्रकार से बँधता है—

१. काया की सरलता, २. वचन की सरलता, ३. मन की सरलता, ४. विसंवाद रहितता से ।^३

इस कर्म का विपाक १४ प्रकार का माना गया है—

१. इष्ट शब्द, २. इष्ट रूप, ३. इष्ट गन्ध, ४. इष्ट रस, ५. इष्ट स्पर्श, ६. इष्ट गति, ७. इष्ट स्थिति, ८. इष्ट लावण्य, ९. यशः कीर्ति, १०. इष्ट उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम, ११. इष्ट स्वर, १२. कान्त स्वर, १३. प्रिय स्वर और १४. मनोज्ञ स्वर ।^४

अशुभनामकर्म के बन्ध के कारण—

अशुभनामकर्म चार प्रकार से बँधता है—१. काया की वक्रता (बाँका-पन) ३. मन की वक्रता, २. वचन की वक्रता, ४. विसंवाद योग सहितता से ।^५

शुभनामकर्म के विपाक के बिल्कुल विपरीत अशुभनामकर्म का विपाक होता है । इस कर्म का विपाक भी १४ प्रकार का बताया गया है, जो इस प्रकार हैं—१. अनिष्ट शब्द, २. अनिष्ट रूप, ३. अनिष्ट गन्ध, ४. अनिष्ट रस, ५. अनिष्ट स्पर्श, ६. अनिष्ट गति, ७. अनिष्ट स्थिति, ८. अनिष्ट लावण्य, ९. अनिष्ट यशःकीर्ति, १०. अनिष्ट उत्थान, कर्म, बल, वीर्य,

१. कर्मग्रन्थ, प्रथम ५९

२. आउयस्सणं कम्मस्स जीवेणं वद्धस्स जाव चउम्बिहे अणुभावे पण्णत्ते तं जहा नेरइयाउए, तिरिगाउए, मणुस्साउए, देवाउए । पन्नवणा, २३/९/१४

३. तत्त्वार्थसूत्र, ६/२२

४. (क) पन्नवणा कर्मबन्ध पद २३/१/१५

(स) नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २२९

५. तत्त्वार्थसूत्र, ६/२१

१४४ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

पुरुषकार, पराक्रम, ११. हीन स्वर, १२. दीन स्वर, १३. अप्रिय स्वर, १४. अमनोज्ञ स्वर।^१

७. गोत्रकर्म के बन्धन के कारण

उच्च गोत्र और नीच गोत्र कर्म के भेद से यह कर्म दो प्रकार का होता है। इनके स्वरूप की चर्चा पहले की जा चुकी है। इन दोनों कर्मों का बन्ध आठ-आठ अर्थात् कुल १६ कारणों से होता है।

उच्च गोत्रकर्म के बन्धन के कारण—

यह कर्म आठ प्रकार से बँधता है—१. जाति का मद न करने से, २. कुल का मद न करने से, ३. बल का मद न करने से, ४. रूप का मद न करने से, ५. तपस्या का मद न करने से, ६. श्रुत (ज्ञान) का मद न करने से, ७. लाभ का मद न करने से तथा ८. ऐश्वर्य का मद न करने से।

नीच गोत्रकर्म के बन्धन के कारण—

उक्त गुणों के विरुद्ध, जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य का गर्व करने से नीच गोत्रकर्म का बन्ध होता है।^२ तत्त्वार्थसूत्र में पर-निन्दा, आत्मप्रशंसा, दूसरों के गुणों का आच्छादन, असद्गुणों का प्रकाशन आदि को नीच गोत्रकर्म के बन्धन का कारण बताया गया है।^३ इसके विपरीत पर-प्रशंसा, आत्म-निन्दा, दूसरों के सद्गुणों के प्रकाशन और असद्गुणों के गोपन, नम्रवृत्ति एवं निरभिमानता को उच्च गोत्रकर्म के बन्ध का कारण कहा गया है।^४

गोत्रकर्म का विपाक—

अहंकाररहित व्यक्ति प्रतिष्ठित कुल में जन्म ग्रहण कर निम्नोक्त आठ क्षमताओं से युक्त होता है—१. निष्कलंक मातृपक्ष (जाति), २. प्रतिष्ठित पितृपक्ष (कुल) ३. सबल शरीर, ४. सौन्दर्ययुक्त शरीर, ५. उच्च साधना एवं तपःशक्ति, ६. तीव्र बुद्धि एवं विपुल ज्ञान शक्ति, ७. लाभ और विविध उपलब्धियाँ, ८. अधिकार, स्वामित्व एवं

१. (क) पन्नवणा, कर्मबन्ध पद २३/१/१५

(ख) नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २३

२. पन्नवणा सूत्र, २३/१/१६

३. (क) तत्त्वार्थसूत्र, ६/२४

(ख) कर्मग्रन्थ, १/६०

४. वही

ऐश्वर्य की प्राप्ति । लेकिन अहंकारी व्यक्ति उपयुक्त समग्र क्षमताओं से अथवा इनमें से किन्हीं विशेष क्षमताओं से वंचित रहता है ।^१

अन्तरायकर्म के बन्धन के कारण—

अन्तरायकर्म पाँच प्रकार से बँधता है और पाँच प्रकार से उसका भोग किया जाता है । यह दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में अन्तराय डालने से बँधता है और विपाक रूप में इससे पाँचों अन्तरायों की प्राप्ति होती है अर्थात् दानान्तराय कर्म का बन्ध होने पर विपाक रूप में दान की इच्छा होने पर भी दान नहीं हो पाता, लाभान्तराय से लाभ की प्राप्ति नहीं हो पाती । भोगान्तराय कर्म के बन्ध होने पर भोग में बाधा उपस्थित होती है । उपभोगान्तराय कर्म के बन्ध होने पर उपभोग में तथा वीर्यान्तराय कर्म के बन्ध होने पर जीव के पुष्पार्थ के प्रयोग में बाधा उपस्थित होती है ।^२

कर्म की विभिन्न अवस्थायें

जैन दर्शन में कर्म की विविध अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है । ये अवस्थायें कर्म के बन्धन, उद्वर्तन, सत्ता, उदय, क्षय आदि से सम्बन्धित हैं । इनका हम मोटे तौर पर १० भेदों में वर्गीकरण कर सकते हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—१. बन्धन, २. सत्ता, ३. उदय, ४. उदीरणा, ५. उद्वर्तना, ६. अपवर्तना, ७. संक्रमण, ८. उपशमन, ९. निवृत्ति, १०. निकाचन ।^३

इन अवस्थाओं के उल्लेख से यह भी ज्ञात होता है कि कर्मफल का विपाक उनके बन्धन के आधार पर होता है, पर उसमें परिवर्तन भी सम्भव है ।

१. बन्ध

कषाय एवं भोग के फलस्वरूप कर्म-परमाणुओं का आत्म-प्रदेशों से

१. (क) नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ० २४०

(ख) जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० सागरमल जैन, पृ० ७६

२. तत्त्वार्थ सूत्र ८/१४

३. बंधण संक्रमणव्वट्टणा य अववट्टणा उदीरणया ।

उवसमणा निहत्ती, निकायणा च त्ति करणाइ ॥

कर्मप्रकृति (बन्धनकरणम्), गाथा १

जो सम्बन्ध होता है उसे बन्ध कहते हैं।^१ इसके सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा इसी अध्याय में पूर्व में हो चुकी है।

२. सत्ता

कर्म की वह अवस्था, जिसमें कर्म-पुद्गल बन्धन के बाद से निर्जरा के पूर्व तक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं, सत्ता कहते हैं। दूसरे शब्दों में कर्मविपाक की काल-मर्यादा के परिपक्व न होने के कारण जितने समय के लिए आत्मा और कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध बना रहता है उसे सत्ता-काल कहते हैं। इस अवस्था में कर्म अपना फल न प्रदान करते हुए आत्मा से सम्बद्ध बने रहते हैं।^२ सत्ताकाल के समाप्त होने के बाद ही कर्म अपना फल देते हैं।

३. उद्वर्तना अथवा उत्कर्षण

जिन कर्मों का बन्ध हो चुका है, उनकी स्थिति तथा अनुभाग को बढ़ाना ही उद्वर्तना या उत्कर्षण है। कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग का निश्चय तो बन्ध के ही समय जीव में विद्यमान कषाय भाव को तीव्रता के अनुसार हो जाता है। किन्तु नवीन कर्म के बन्ध के समय पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति तथा अनुभाग को बढ़ाया भी जा सकता है। कर्मप्रकृति में निर्व्याघाती और व्याघाती के भेद से उद्वर्तना के दो वर्ग किये गये हैं और वहाँ उनकी विस्तृत चर्चा भी की गयी है।^३

४. अपवर्तन अथवा अपकर्षण

नवीन कर्म का बन्ध करते समय पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में प्रयत्नविशेष से कमी कर देना अपवर्तन है। कर्मग्रन्थ में कहा गया है—“बद्धकर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसाय विशेष से कमी कर देने का नाम अपवर्तन है।^४ कर्म की यह अवस्था उद्वर्तना अवस्था के बिल्कुल विपरीत है। जहाँ उद्वर्तना अवस्था में कर्म की स्थिति

१. (क) कर्मग्रन्थ (प्रथम), व्याख्याकार मरुवरकेसरी, प्रस्तावना, पृ० ६२, ६३, ६४।

(ख) आत्ममीमांसा, पृ० १२८-१६१।

२. कर्मग्रन्थ, (प्रथम), व्याख्याकार मरुवर केसरी, प्रस्तावना, पृ० ६२

३. कर्मप्रकृति (उद्वर्तनापवर्तनाकरणम्), गाथा १-१०।

४. कर्मग्रन्थ, प्रथम, प्रस्तावना, पृ० ६३।

और अनुभाग में वृद्धि होती है, वहाँ अपवर्तना अवस्था में कर्म की स्थिति तथा अनुभाग में कमी होती है। कर्मप्रकृति में उद्धर्तना के समान अपवर्तना के भी निर्व्याघाती और व्याघाती दो भेद दृष्टिगत होते हैं, साथ ही उनका व्यवस्थित विवरण भी उपलब्ध होता है।^१ जैन कर्मसिद्धान्त में उद्धर्तन एवं अपवर्तन की अवस्थाओं से यह प्रतिध्वनित होता है कि प्रयत्न-विशेष से पूर्व-बद्ध कर्म की काल, स्थिति एवं फल की तीव्रता-मन्दता में परिवर्तन किया जा सकता है।

५. संक्रमण

कर्मप्रकृति के पुद्गलों का परिणमन अन्य सजातीय प्रकृति में हो जाना संक्रमण कहलाता है। दूसरे शब्दों में एक प्रकार के कर्मपरमाणुओं की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के कर्मपरमाणुओं की स्थिति आदि में परिवर्तन अथवा परिणमन होना संक्रमण कहलाता है।^२

डॉ० सागर मल जैन के शब्दों में “संक्रमण वह प्रक्रिया है जिसमें आत्मा पूर्वबद्ध कर्मों की अवान्तर प्रकृतियों, समयावधि, तीव्रता एवं परिमाण (मात्रा) को परिवर्तित करता है।”^३ संक्रमण के सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय यह है कि सामान्यतः कर्म की सजातीय उत्तर प्रकृतियों में ही परस्पर संक्रमण होता है, मूल प्रकृतियों में नहीं। सजातीय प्रकृतियों के संक्रमण के भी कुछ अपवाद हैं, जैसे कि आयुर्कर्म की अवान्तर उत्तर-प्रकृतियों—नरकायु आदि चारों में परस्पर संक्रमण नहीं होता। इसी प्रकार मोहनीयकर्म की दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय—इन दो अवान्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता है।

६. उदय

विपाक का समय प्राप्त होने पर ही कर्म के विपाक (फल) को भोगना उदय कहलाता है।^४ सामान्यतया कर्म की फल प्रदान करने की अवस्था को उदय कहते हैं। दूसरे शब्दों में कर्म की उदयावस्था ही वह अवस्था

१. कर्मप्रकृति (उद्धर्तनापवर्तनाप्रकरणम्), गाथा १-१०।

२. (क) कर्मग्रंथ, वही, पृ० ६३।

(ख) आत्ममीमांसा, पृ० १३०।

३. जैन बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम भाग, पृ० ३१९ एवं जैनकर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २५

४. उदयो विवाग-वेयण।

कर्मग्रंथ, २/१३

है जिसमें पूर्वबद्ध कर्म अपना फल प्रदान करते हैं। उदय दो प्रकार का है—(१) प्रदेशोदय, और (२) विपाकोदय।

प्रदेशोदय में कर्म जीव को बिना फल की अनुभूति कराये ही नष्ट हो जाते हैं। प्रदेशोदय में भी कर्म फल देते हैं पर उनके फल की अनुभूति जीव को उसी प्रकार नहीं होती है जिस प्रकार आपरेशन करते समय अचेतन अवस्था के कारण रोगी को पीड़ा की अनुभूति नहीं होती। कर्म की यह अचेतन विपाकानुभूति है।

इसके विपरीत विपाकोदय में कर्म-परमाणु अपनी व्यक्त या चेतन फलानुभूति कराकर ही आत्मा से अलग होते हैं।

७. उदीरणा

विपाक का समय न होने पर भी कर्मफल को भोगना उदीरणा है।^१ इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह वह अवस्था है जिनमें कर्मों के फलों का उपभोग उसके विपाक के पूर्व निर्धारित अवधि से पहले ही उसी प्रकार कर लिया जाता है, जिस प्रकार आम को स्वाभाविक रूप से पकने के पूर्व ही भूसे आदि में रखकर पका लिया जाता है। संक्षेप में उदीरणा नियत समय पूर्व कर्मफल-भोग प्राप्त करना है।

८. उपशमन

कर्मफल के विपाक को कुछ समय के लिये स्थगित कर देना उपशमन है। सत्ता और उपशमन में मुख्य अन्तर यह है कि सत्ता में कर्मविपाक स्वाभाविक रूप से स्थगित रहता है जबकि उपशमन में कर्मविपाक को स्थगित किया जाता है। इसकी तुलना राख से ढकी उस अग्नि से की जा सकती है जो राख से ढके रहने पर तो प्रज्ज्वलित नहीं होती परन्तु राख के हटते ही जलने लगती है। ठीक यही स्थिति उपशमन की है। इस अवस्था के समाप्त होने पर कर्म पुनः उदय में आकर फल प्रदान करने लगते हैं। जिस प्रकार पानी में निर्मली का प्रयोग करने पर कुछ काल के लिए पानी की गन्दगी नीचे बैठ जाती है, किन्तु समय पाकर फिर पानी को मलिन कर देती है, उसी प्रकार उपशमन में कर्म कुछ समय के लिए दमित हो जाते हैं किन्तु समय पाकर वे पुनः आत्मा को मलिन कर देते हैं।

९ निधत्ति

इस अवस्था में कर्मों की उदीरणा और संक्रमण नहीं होता, परन्तु उद्वर्तना और अपवर्तना की सम्भावना रहती है।

१०. निकाचना

यह वह अवस्था है, जिसमें कर्मों को उसी रूप में भोगना अनिवार्य होता है, जिस रूप में उन कर्मोंका बन्ध हुआ रहता है। इसमें न तो कर्मों की उदीरणा ही सम्भव है और न उद्वर्तना-अपवर्तना ही। इसी अवस्था का एक नाम नियति भी है।

जहाँ तक कर्म की इन विविध अवस्थाओं की अवधारणा का कालक्रम में विकास का प्रश्न है, प्राचीनतम जैनागम आचारांग सूत्र में तो इनका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। मात्र यह उल्लेख है कि साधक कर्म-शरीर को धुने।^१ इसका अर्थ निर्जरा या उदीरणा से लगाया जा सकता है। सूत्रकृतांगसूत्र में भी कर्म की इन अवस्थाओं का विवरण दृष्टिगत नहीं होता। इसमें कुछ विवरण ऐसे हैं जिनसे कर्म की मात्र बन्धावस्था पर किंचित प्रकाश पड़ता है।^२ वैसे इसमें भी बन्ध की चर्चा कर्म की अवस्थाओं के रूप में नहीं की गयी है।

स्थानांग सूत्र में मुख्य रूप से बन्ध, उदीरणा, उपशमन, संक्रमण, निधत्ति एवं निकाचना इन छः अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है और इनमें से प्रत्येक के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश चार-चार भेद किये गये हैं।^३

१. आयारो, ५/३/५९

२. चउव्विहे बंधे पणत्ते, तं जहा पगइबंधे, ठिइबंधे, अनुभागबंधे, पएसबंधे, उदीरणोवक्कमे चउव्विहे पणत्ते, तं जहा-पगइउदीरणोवक्कमे, ठिईउदीरणो-वक्कमे, अणुभावउदीरणोवक्कमे, पदेसउदीरणोवक्कमे उवसमणो-वक्कमे चउव्विहे पणत्ते तं जहा-पगइउवसमणोवक्कमे, ठिइउवसमणो-वक्कमे, अणुभावोवसमणोवक्कमे, पदेसुवसामोवक्कमे, चउव्विहे संकमे पणत्ते तं जहा-पगइसंकमे, ठिई अणुभाव पएस संकमे। चउव्विहे निधत्ते पणत्ते, तं जहा-पगइ-णिघत्ते, ठिइ-निघत्ते, अणुभावनिधत्ते, पएस-निघत्ते। चउव्विहे निकाइए पणत्ते तं जहा पगई-णिकाइए, ठिई-णिकाइए, अणुभाव-णिकाइए, पएस णिकाइए। स्थानांग सूत्र, सम्पा० कन्हैयालाल कमल,

४/२/२९६

३. बुज्झिज्ज तितटिउज्जा वंधनं परिजाणिया। सूत्रकृतांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध,
१/१/१

समवायांग सूत्र में भी कर्म की अवस्थाओं का कोई सुव्यवस्थित विवरण नहीं है ।

भगवतीसूत्र में कर्म की अवस्थाओं पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है । इसमें मुख्य रूप से बन्ध, उदय, वेदन, अपवर्तन, संक्रमण, निधत्ति, निकाचना आदि अवस्थाओं का उल्लेख तो है ही,^१ साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है किन-किन कर्मों का बन्ध, उदय, उदीरणा, निधत्ति, निकाचना आदि सम्भव है ।^२ इसप्रकार यह स्पष्ट होता है कि भगवतीसूत्र में लगभग कर्म की अधिकांश अवस्थाओं का उल्लेख है ।

भगवतीसूत्र के पश्चात् के लगभग पूरे अंग साहित्य में कर्म-सम्बन्धी ऐसा कोई विवरण दृष्टिगत नहीं होता, जो कर्म की विविध अवस्थाओं की अवधारणा के विकास को सूचित करता हो ।

अंग साहित्य में कर्म की अवस्थाओं के ऐतिहासिक सर्वेक्षण से यह स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में तो कर्म की अवस्थाओं का कोई विकसित सिद्धान्त नहीं था, परन्तु इन अवधारणाओं में कालक्रम में क्रमिक विकास हुआ ।

उपांगों में ज्ञानापना सूत्र में भी कुछ ऐसे विवरण मिलते हैं, जिनसे कर्म की बन्ध,^३ उदयादि^४ अवस्थाओं पर प्रकाश पड़ता है । इसमें भी कर्म की सम्पूर्ण अवस्थाओं का उल्लेख नहीं है ।

शेष आगम साहित्य में मूलसूत्र, छेद, प्रकीर्णक आदि में इन अवस्थाओं के सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण सामग्री नहीं मिलती है ।

कर्मविषयक साहित्य में तो कर्म की अवस्थाओं पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है । श्वेताम्बर परम्परा के कर्मप्रकृति नामक ग्रन्थ में कर्म की अवस्थाओं का बहुत ही विस्तृत एवं सुव्यवस्थित विवरण है ।^५ इस ग्रन्थ में कर्म की अवस्थाओं के अतिरिक्त कोई अन्य विवरण है ही नहीं । दिगम्बर परम्परा में कषाय प्राभूत के १५ अर्थाधिकारों में से कुछ में कर्म की बन्ध,

१. भगवतीसूत्र, ४१/१/१०

२. (क) भगवतीसूत्र, १/१/१
(ख) वही, सूत्र, १४

३. पन्नवणा, २०/१-२४

४. वही, २५/२५

५. बंधण संक्रमणुव्वट्टणा य अववट्टणा उदीरणया ।

उवसामणा, निहत्ती, निकायणा च त्ति करणाइं ॥

कर्मप्रकृति बन्धनकरणम् गाथा २

उदय, उदोरणा, संक्रमण, उपशमनादि अवस्थाओं पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।^१ परवर्ती कर्म-साहित्य में तो इन सभी का विस्तृत विवरण है।

कर्मविषयक अवस्थाओं के ऐतिहासिक विकास-क्रम को देखने से यही स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक दो अंगों को छोड़कर उसके बाद के ग्रन्थों के रचनाकाल तक कर्म की कतिपय अवस्थाओं की अवधारणायें बन चुकी थीं। मुख्य रूप से भगवतीसूत्र में कर्म की लगभग सभी अवस्थाओं की अवधारणाएँ बन चुकी थीं।

भगवतीसूत्र के विभिन्न शतकों का रचना काल विद्वानों ने भिन्न-भिन्न माना है। फिर भी ईसा की चतुर्थ या पाँचवीं शती तक वह अपने वर्तमान रूपमें आ चुका था। लगभग यही काल षट्खण्डागम और कसाय-पाहुड का भी है। अतः कहा जा सकता है कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक कर्म की इन विविध अवस्थाओं की अवधारणा बन चुकी थी।

कर्म और उसका विपाक

कर्म और कर्मफल के सम्बन्ध का चिन्तन मानव मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जैन दर्शन में कर्म विपाक के स्वरूप का भी गम्भीर विवेचन हुआ है।

सामान्यतया कर्म विपाक से अभिप्राय समय के परिपक्व होने पर एक नियति रूप में कर्मों के फल प्रदान करने से है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी प्रकार के कर्म एक निश्चित समय पर फल प्रदान अवश्य ही करें। जैन दर्शन के अनुसार कुछ कर्म ऐसे भी हैं जिनका विपाक नियत नहीं होता, अर्थात् उनका फल भोग जिस रूप में बँधा है उसी रूप में अनिवार्य नहीं होता। उनके स्वरूप, मात्रा, समयावधि आदि में परिवर्तन किया जा सकता है।

इन दृष्टियों से कर्मविपाक को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) नियतिविपाकी कर्म, (२) अनियतविपाकी कर्म।

नियतिविपाकी कर्म वे कर्म हैं जिनका फल अनिवार्य रूप से भोगना पड़ता है।

इससे ठीक विपरीत अनियतविपाकी कर्म में कर्मों का फल किये हुए कर्मों के अनुसार भोगना अनिवार्य नहीं होता, बल्कि उनमें व्यक्ति अपने

१. कसायपाहुड सुत्त, चूणि सूत्र समन्वित, पण्डित हीरालाल शास्त्री, गाथा १३-१४, पृ० १३।

पुरुषार्थ से परिवर्तन करके इनके फलोपभोगसे वंचित रह सकता है। कर्म की उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उदीरणा आदि अवस्थायें अनियत विपाकी हैं, क्योंकि इन स्थितियों में कर्मका फलभोग उसी रूप में नहीं होता। आचारांग सूत्र में कहा गया है—“मुनि ज्ञान को प्राप्त कर कर्म-शरीर को प्रकम्पित करे।” यहाँ प्रकम्पित शब्द कर्मविपाक की अनियतता को सूचित करता है क्योंकि अगर कर्म का विपाक अनियत नहीं होता तो फिर ज्ञानादि से कर्मबन्धन के टूटने का प्रश्न ही नहीं होता और जिस रूप में कर्मों का बन्ध होता उसी रूप में उसका भोग भी अनिवार्य होता। पर आचारांग सूत्र का उक्त कथन कर्मविपाक की अनियतता को पुष्ट करता है। उत्तराध्ययन सूत्र के कुछ उल्लेखों से भी कर्मविपाक की अनियतता ही फलित होती है। इसमें स्पष्ट कथन है कि “आत्मा ज्ञान से जीवादि भावों को जानता है, दर्शन से उनका श्रद्धान करता है, चारित्र से कर्म-आश्रव का निरोध करता है और तप से विशुद्ध होता है।”^२ इस उल्लेख में ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप कर्मविपाक को अनियत करने के महत्वपूर्ण घटक हैं। इसमें यहाँ तक कहा गया है कि संयम एवं तप के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करके सब दुःखों से मुक्त हुआ जा सकता है।^३ इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि “संयमी के करोड़ों भवों के संचित कर्म, पापकर्म के आने के मार्ग को रोक देने पर तप से नष्ट हो जाते हैं।”^४ इन विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि कर्म विपाक की नियतता को ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संयम आदि बाह्य निमित्तों के अनुपालन से अनियत बनाया जा सकता है अर्थात् प्रयत्न विशेष से कर्मफल भोग की नियतता से बचा जा सकता है।

१. मुणी मोणे समादाए धुणे कम्मसरीरंगं । आयारो, ५।३।५९

२. नाणेण जाणइ भावे दंसणेण य सद्देह ।

चरित्तं निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥ उत्तराध्ययन सूत्र, २८।३५

३. खवेत्ता पुव्वकम्माई संजमेण तवेण य ।

सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमन्ति महेसिणो ॥

उत्तराध्ययन सूत्र, ३८/३६

४. एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे ।

भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जई ॥

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित हो सकता है कि कर्म-विपाक की नियतता और अनियतता की कौन-सी कसौटी है, अर्थात् वे कौन से आधार हैं, जिनके कारण कुछ कर्म अनिवार्य रूप से एक निश्चित समय पर फल प्रदान करते हैं तथा कुछ कर्म अनिवार्य रूप से फल प्रदान नहीं करते तथा उनका विपाक परिवर्तन हो जाता है। कर्म विपाक की नियतता एवं अनियतता के सम्बन्ध में एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए डॉ० सागरमल जैन का मन्तव्य है—“कर्मों के पीछे रही हुई कषायों की तीव्रता एवं मन्दता के आधार पर क्रमशः नियतिविपाकी एवं अनियत-विपाकी कर्मों का बन्ध होता है जिन कर्मों के पीछे तीव्र कषाय (वासनाएँ) होती हैं। उनका बन्ध भी अति प्रगाढ़ होता है और उसका विपाक भी नियत होता है। इसके विपरीत जिन कर्मों के सम्पादन के पीछे कषाय अल्प होती है उनका बन्ध शिथिल होता है और इसलिए उनका विपाक भी अनियत होता है।”^१ इस उल्लेख से यही फलित होता है कि जीव की भावदशा ही कर्म विपाक की नियतता एवं अनियतता की निर्धारक है। यदि व्यक्ति तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ, अहंकार आदि दुर्भावनाओं से उत्प्रेरित होकर किसी कार्य का सम्पादन करता है तो उसका फल उसे अनिवार्य रूप से मिलता है, किन्तु यदि इन तीव्र कषाय-भावों से रहित होकर कर्म करता है तो उसका फल अनिवार्य रूप से नहीं मिलता। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि तीव्र कषायों के वशीभूत होकर किये गये कर्मों के फल नियतिविपाकी होते हैं जबकि अल्प कषाय और शुभ राग-भावों से किये गये कर्मों के फल अनियतविपाकी होते हैं।

अतः इससे स्पष्ट होता है कि कर्मविपाक की नियतता एवं अनियतता कषायों की तीव्रता और मन्दता पर निर्भर रहती है। प्रशस्त राग भाव से किये हुए कर्म ही अनियत विपाकी होते हैं।

जहाँ तक कर्मविपाक की नियतता एवं अनियतता की अवधारणा के ऐतिहासिक विकास-क्रम की बात है, यह मान्यता प्राचीन है कि तपस्या या साधना के द्वारा कर्म के फल विपाक से बचा जा सकता है।^२

तपस्या द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों की क्षीण करने की बात आचारांग^३ एवं

१. जैन बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम भाग, पृ० ३२२।

२. आयारो, ५/३/५९

३. वही, ५/३/५९.

उत्तराध्ययन^१ में है। आचारांग सूत्र में कर्मविपाक की नियतता एवं अनियतता दोनों ही मान्यताओं को स्वीकार किया गया है। उसमें पहले तो यह कहा गया है कि कर्म अपना फल अवश्य देते हैं पुनः इस बात का संकेत किया गया है कि पुरुष ज्ञान से कर्मों के बन्ध, आस्रव या संचय से निवृत्ति हो जाता है।^२ इस प्रकार इस उल्लेख से कर्मविपाक की नियतता एवं अनियतता दोनों पर ही प्रकाश पड़ता है। कर्म की अवस्थाओं में उदीरणा, उद्वर्तना, संक्रमण, अपवर्तना आदि अवस्थाओं की स्वीकृति के साथ भी इस चर्चा को बल मिला, क्योंकि जहाँ उदीरणा, उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण आदि कर्म के अनियत विपाक को सूचित करते हैं वहाँ निकाचना कर्म के नियत विपाक को सूचित करती है। इनकी विस्तृत चर्चा पूर्व में कर चुके हैं अतः इस प्रसंग में पुनः उनकी चर्चा पिष्टपेषण होगी। प्राचीन जैन अंगों में प्रारम्भ में ही अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो कर्मविपाक की नियतता एवं अनियतता दोनों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।

आचारांग सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि जो पुरुष प्रगाढ़ क्रूर कर्म में प्रवृत्त होता है वह प्रगाढ़ वेदना वाले स्थान में उत्पन्न होता है, जो प्रगाढ़ क्रूर कर्म प्रवृत्त नहीं होता वह प्रगाढ़ वेदना वाले स्थान में उत्पन्न नहीं होता।^३ इसी प्रकार स्थानांगसूत्र में कर्मविपाक की नियतता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इस लोक में किये गये अच्छे कर्मों के सुखदायी फल इस लोक में भी मिल सकते हैं अगर इस लोक में कर्मों के सुखदायी फल नहीं मिलते हैं तो दूसरे लोक में वे सुखदायी फल मिलते हैं।^४ इससे यह फलित होता है कि क्रूर कर्म के फल नियत विपाक होते हैं परन्तु

१. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, २८/३६

(ख) वही, ३०/६

२. कम्मणा सफलं दट्ठं ततो णिज्जाति वेदवी।

आचारांग सूत्र, प्रथमश्रुतस्कन्ध, ४/४/१४५

३. चिट्ठं कूरेहि कम्मेहि चिट्ठं परिविचिट्ठत्ति।

अचिट्ठं कूरेहि कम्मेहि जो चिट्ठं परिविचिट्ठत्ति॥

वही, ४/२/१६५

४. इहलोगे सुचिण्णा कम्मा इहलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवति।

इहलोगे सुचिचण्णा कम्मा परलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवति॥

स्थानांग सूत्र, सम्पादक मुनि कन्हैया लाल, ४/२/२८२

अक्रूर कर्मों के फल अनियत विपाकी होते हैं। क्योंकि दोनों प्रकार के कर्मों के फल को नियत विपाकी मान लेने पर मानवीय पुरुषार्थ का कोई महत्त्व नहीं रह जायेगा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कर्म विपाक की नियतता एवं अनियतता की अवधारणा बहुत प्रारम्भ में ही बन गयी थी।

जैन दर्शन में मोक्ष का स्वरूप

मोक्ष आत्मा की वह विशुद्धावस्था है जिसमें उसका किसी भी विजातीय तत्त्व के साथ संयोग नहीं रहता और सम्पूर्ण विकारों का अभाव होकर आत्मा स्व-स्वरूप में स्थिर हो जाती है। जिस प्रकार आस्रव एवं बन्ध आत्मा से कर्म पुद्गलों के सम्बन्ध को स्थापित करते हैं, ठीक इसके विपरीत संवर एवं निर्जरा, मोक्ष के दो कारण हैं। कषाय एवं योग के निमित्त से प्रतिक्षण कर्म पुद्गलों का जो आत्मा में आगमन है, उसे रोक देना ही संवर है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है संवर आत्मा में कर्म-पुद्गलों के आगमन को रोकता है और निर्जरा पूर्वबद्ध कर्मों को धीरे-धीरे आत्मा से अलग करती है। इस प्रकार संवर द्वारा आत्मा में कर्म-पुद्गलों के आगमन के रुकने एवं निर्जरा से पूर्वबद्ध कर्म-पुद्गलों के क्रमशः क्षय होकर आत्मा से अलग होने से एक ऐसी अवस्था प्राप्त होती है, जब आत्मा कर्ममुक्त हो जाती है, इस अवस्था को मोक्ष कहा जाता है। तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा गया है कि संवर के द्वारा कर्मों के आगमन का निरोध और निर्जरा के द्वारा समस्त पुरातन कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा की जो निष्कर्म शुद्धावस्था होती है, वह मोक्ष है।^१

अभिधानराजेन्द्रकोष में उल्लेख है कि कर्म-मलों के अभाव में कर्म-बन्धन भी नहीं रहता और बन्धन का अभाव ही मुक्ति है।^२ मोक्ष, आत्मा की शुद्ध स्वरूपावस्था है।^३ पण्डित मालवणिया का कथन है कि अनात्मा में आत्माभिमान का दूर होना ही मोक्ष है।^४

मोक्ष सम्बन्धी विवरणों पर दृष्टि डालने पर यहो फलित होता है कि मोक्ष आत्मा की उस विशुद्ध स्थितिका नाम है, जहाँ आत्मा सर्वथा

१. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्मभयो मोक्षः ।

तत्त्वार्थसूत्र, ८/२-३:

२. अभिधान राजेन्द्रकोष, खण्ड ६, पृ० ४३१ ।

३. वही, खण्ड ४, पृ० ४३१

४. आत्ममीमांसा, पृ० ६६-६७

अमल एवं धवल हो जाती है। मोक्ष या मुक्ति में जीवन का विसर्जन न होकर उसके प्रति मानव बुद्धि में जो एक प्रकार का मिथ्यादृष्टिकोण है, उसी का विसर्जन होता है और मिथ्यात्व के स्थान पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र का पूर्णतया विकास होता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो अप्राप्य एवं दुर्लभ हो। वास्तव में यदि कर्मबन्धन के मूल कारणों यथा क्रोध, मान, माया, लोभ, छल, कपट, अहंकार आदि मानसिक विकारों पर विजय प्राप्त कर ली जाय तो मोक्ष स्वतः ही प्राप्त किया जा सकता है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि अरक्षित आत्मा आवेगों में फँसकर कर्मों का बन्ध करती है और सुरक्षित आत्मा विकारजन्य या कर्मजन्य समस्त बन्धनों को तोड़ कर मुक्त हो जाती है।^१

अन्त में निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मोक्ष या मुक्ति जीवन का अभिन्न अंग है। कर्मबन्धन एवं मोक्ष जीवन के दो पहलू हैं, जहाँ मानसिक विकारों के वशीभूत होकर बन्धनावस्था में आत्मा अपने सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र को खो बैठती है वहीं मोक्षावस्था में वह समस्त मानसिक विकारों का दमन कर एक शुद्ध-विशुद्ध एवं शाश्वत स्थिति प्राप्त करती है।

जहाँ तक मोक्ष के ऐतिहासिक विकास की बात है, प्रारम्भ से लेकर बाद के लगभग सभी जैन ग्रन्थों में मोक्ष का उक्त स्वरूप ही परिलक्षित होता है। मात्र इतना ही अन्तर है कि प्रारम्भिक ग्रन्थों में मोक्ष की प्राप्ति हेतु कहीं सम्यक्ज्ञान को विशेष महत्व दिया गया है, तो कहीं सम्यक्दर्शन को एवं कहीं सम्यक्चारित्र को। उदाहरणस्वरूप हम आचारांग के उस सूत्र को देख सकते हैं जहाँ कहा गया है कि “मुनि ज्ञान को प्राप्त कर कर्म शरीर को प्रकम्पित करे।”^२ यहाँ “कर्म शरीर” को प्रकम्पित करने से अभिप्राय कर्मबन्धनों को तोड़ने से है, अर्थात् आचारांग सूत्र में ज्ञान को ही कर्मबन्धन तोड़ने का एक महत्वपूर्ण साधन माना गया है। परन्तु यह कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है, क्योंकि मोक्ष प्राप्ति के (सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र) तीनों साधन एक दूसरे

१. अप्पा हु खलु सययं रक्खियव्वो सन्विदिएहिं सुसमाइएहिं ।

अरक्खिओ जाइपहं उवेइ सुरक्खिओ सव्वदुक्खाण मुच्चई ॥

दशवैकालिक चूलाका, २/१६ ।

२. मुणी मोणे समादाए धुणे कम्म सरीरगं । आयारो, ५/३/५९.

से सम्बद्ध हैं। एक के अभाव में दूसरा हो ही नहीं सकता। अतः एक के उल्लेख से तीनों पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाश पड़ता है परन्तु बाद के ग्रन्थों में तीनों को संगठित रूप देकर मोक्ष प्राप्ति हेतु आवश्यक बताया गया है।

कर्मसिद्धान्त और गुणस्थान एवं मार्गणास्थान

जैन कर्मसिद्धान्त में गुणस्थान एवं मार्गणास्थान का विशेष योगदान है। क्योंकि गुणस्थानों से कर्मबन्धन से छूटने तथा जीव के आध्यात्मिक विकास की सूचना मिलती है एवं मार्गणास्थान के विवरण से इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि विभिन्न प्रकार के कर्मों के करने पर जीव कौन-सी अवस्था या गति प्राप्त करता है। कर्मबन्ध की अल्पता और आध्यात्मिक शक्ति के विकास के आधार पर गुणस्थानों के १४ भेद किये गये हैं। ये गुणस्थान एक क्रम में व्यवस्थित हैं। इनके आधार पर समस्त जीवों के कर्मबन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि का मापन सुगमता से किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में गुणस्थानों के सम्यक्ज्ञान से यह जाना जा सकता है कि अमुक प्रकार की आन्तरिक अशुद्धि या शुद्धि वाला जीव अमुक कर्मप्रकृतियों का बन्ध, उदय तथा उदीरणा कर सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि गुणस्थान कर्मप्रकृतियों के स्वरूप पर तो प्रकाश डालते ही हैं, साथ ही कर्म करने वाले जीव की आन्तरिक मनःस्थिति पर भी प्रकाश डालते हैं, जो कर्मबन्धन अथवा कर्म से छूटने का महत्त्वपूर्ण आधार है अर्थात् जहाँ राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि जीव के आन्तरिक व्यापार कर्मबन्धन को दृढ़ करते हैं, वहीं उन भावों का अभाव होने पर कर्मबन्धन शिथिल होने लगता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गुणस्थान, मोक्ष रूप महल को प्राप्त करने के लिए सीढ़ियों के समान है। गुणस्थान के १४ भेद हैं। इन १४ गुणस्थानों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा तथा दूसरे की अपेक्षा तीसरा इस प्रकार पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा परवर्ती गुणस्थान में आध्यात्मिक विकास की मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है और कर्म का बन्धन शिथिल होता जाता है। विकास की ओर बढ़ती हुई इन्हीं क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहा जाता है। प्रथम गुणस्थान में आत्मा की आध्यात्मिक शक्ति अल्प होती है। आगे के गुणस्थानों में शक्ति बढ़ती जाती है और अन्तिम अर्थात् चौदहवें गुणस्थान में आत्मा विकारी स्वरूप को छोड़कर एवं पूर्ववद्ध सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर अपने स्वस्वरूप को प्राप्त

कर लेता है, अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त सुख से युक्त हो जाता है।

ये १४ गुणस्थान निम्नलिखित हैं—

१. मिथ्यादृष्टि, २. सास्वादन सम्यग्दृष्टि, ३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि,
४. अविरत सम्यग्दृष्टि, ५. देशविरति, ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत,
८. निवृत्ति करण (अपूर्वकरण), ९. अनिवृत्तिकरणबादरसम्पराय,
१०. सूक्ष्मसम्पराय, ११. उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ, १२. क्षीणकषाय-
वीतरागछद्मस्थ, १३. सयोगकेवली, १४. अयोगकेवली।^१

१. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

यह आत्मा की निकृष्टतम अवस्था है। इसमें मोह के प्रगाढ़ आवरण से जीव विपरीत श्रद्धा के कारण राग-द्वेष के वशीभूत हो जाता है। इस गुणस्थान वाले जीव पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का श्रद्धान नहीं करते, जैसे—धतूरे के बीज को खाने वाला मनुष्य सफेद चीज को भी पीली देखता और मानता है। सी प्रकार मिथ्यात्वी जीव भी जिसमें देव के लक्षण नहीं हैं उसको देव मानता है तथा जिसमें गुरु के लक्षण नहीं हैं, उस पर गुरु बुद्धि रखता है।^२ संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पहला गुणस्थानवर्ती जीव मोह के प्रबल आवरण से घिरा होता है एवं उसके फलस्वरूप उसकी दृष्टि मिथ्या हो जाती है अर्थात् वह असत्य को सत्य और सत्य को असत्य मानकर चलता है।

इस गुणस्थान में बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से ११७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। तीन प्रकृतियों—तीर्थङ्करनामकर्म, आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग का बन्ध नहीं होता, इसका कारण यह है कि तीर्थङ्करनाम कर्म का बन्ध सम्यक्त्व से होता है और आहारक-द्विक का बन्ध अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान में होता है।^३ इस गुणस्थान में इन तीनों का अभाव होने से इन तीन प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है।

इसी प्रकार उदय योग्य १२२ कर्मप्रकृतियों में से प्रथम गुणस्थान में ११७ कर्मप्रकृतियों का ही उदय हो सकता है। मिश्रमोहनीय सम्यक्त्व-मोहनीय, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, तीर्थङ्करनामकर्म इन पाँच

१. कर्मग्रन्थ, २/२

२. कर्मग्रन्थ द्वितीय, हिन्दी अनुवादक सुखलाल जी (बन्वाधिकार), पृ० ५।

३. वही, २/३

कर्मप्रकृतियों का उदय प्रथम गुणस्थान में नहीं होता,^१ इसी प्रकार उदीरणा योग्य १२२ कर्मप्रकृतियों में उपयुक्त ११७ कर्मप्रकृतियों की उदीरणा इस गुणस्थान में होती है।^२

सत्ता योग्य १४८ कर्मप्रकृतियों में से सभी की सत्ता इस गुणस्थान में हो सकती है।^३

२. सास्वादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान

इस गुणस्थान का काल अत्यन्त अल्प है। प्राप्त सम्यक्-दर्शन को वमित कर जब जीव मिथ्यात्व की ओर लौटता है तब उसे पूर्वअनुभूति का कुछ आस्वाद शेष रहता है, उस समय की उसकी जो अवस्था होती है, उसे सास्वादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। यह वह अवस्था है जिसमें सम्यक्त्व को प्राप्त आत्मा तुरन्त मोहोदय के कारण पुनः सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाती है। चूँकि इस गुणस्थान में आत्मा को सम्यक्त्व का कुछ अल्पकालिक आस्वाद रहता है, यही कारण है कि इस गुणस्थान को सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में बन्ध योग्य १२० कर्मप्रकृतियों में से १०१ कर्मप्रकृतियों का ही बन्ध सम्भव होता है। निम्न १९ प्रकृतियों का बन्ध इस गुणस्थान में नहीं होता—

तीर्थङ्करनामकर्म, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावरनामकर्म, सूक्ष्मनामकर्म, अपर्याप्तनाम और साधारणनामकर्म, हुंडसंस्थान, आतपनामकर्म, सेवार्तसंहनन, नपुंसकवेद और मिथ्यात्वमोहनोय।^४

इस गुणस्थान में उदय योग्य १२२ कर्मप्रकृतियों में से १११ कर्म-प्रकृतियों का ही उदय सम्भव है।^५ प्रथम गुणस्थान में जिन पाँच कर्म-प्रकृतियों का उदय नहीं होता है, उनके अतिरिक्त निम्न ६ कर्मप्रकृतियों का उदय भी इस गुणस्थान में नहीं होता है—सूक्ष्मनामकर्म, अपर्याप्तनाम-

१. कर्मग्रंथ, २/१३

२. वही, २/१३

३. वही, २/२५

४. वही, २/४

५. वही, २/१४

कर्म, साधारणनामकर्म, आतपनामकर्म, मिथ्यात्वमोहनीय और नरकानु-पूर्वी ।

दूसरे गुणस्थान में उदीरणा की दृष्टि से उदय योग्य १११ कर्म-प्रकृतियों को ही उदीरणा सम्भव है ।^१

तीर्थङ्करनामकर्म को छोड़कर १४७ कर्मप्रकृतियों की सत्ता इस गुणस्थान में हो सकती है ।^२

३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

इस गुणस्थान में जीव की दृष्टि न तो एकान्त रूप से मिथ्या ही रहती है और न सम्यक् ही, बल्कि इस गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व के बीच झूलता रहता है । वह किसी एक दृष्टिकोण को ग्रहण नहीं करता है ।

इस गुणस्थान में १२० बन्ध योग्य प्रकृतियों में से ७४ कर्मप्रकृतियों का ही बन्ध सम्भव है ।^३ द्वितीय गुणस्थान में वर्णित १९ कर्मप्रकृतियों के अतिरिक्त निम्न २७ कर्मप्रकृतियों का भी बन्ध इस गुणस्थान में नहीं होता है । उपर्युक्त १९ कर्मप्रकृतियों के अतिरिक्त २७ कर्मप्रकृतियाँ निम्न हैं—

तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी, तिर्यञ्चायु, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्यानद्धि, दुर्भगनामकर्म, दुःस्वरनामकर्म और अनादेयनामकर्म, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, सादिसंस्थान, कुञ्जसंस्थान, वामनसंस्थान, ऋषभनाराच-संहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन और कीलिकासंहनन, नीचगोत्र, उद्योत-नामकर्म, अशुभविहायोगतिनामकर्म, स्त्रीवेद, मनुष्यायु और देवायु ।

उदय और उदीरण की दृष्टि से १०० कर्मप्रकृतियों की उदय^४, उदी-रणा^५ इस गुणस्थान में सम्भव है । दूसरे गुणस्थान में उदय योग्य १११ कर्मप्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्थावरनामकर्म, ऐकेन्द्रियजातिनामकर्म, द्वीन्द्रियाजातिनामकर्म, त्रीन्द्रियजातिनामकर्म, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म, तिर्यञ्चानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी इन १२ प्रकृतियों का उदय तीसरे गुणस्थान में नहीं होता, किन्तु मिश्रमोह-

१. कर्मग्रंथ, २/२३

२. वही, २/२५

३. वही, २/४, पृ० ३७

४. वही, २/१५

५. वही, २/२३

नीयकर्म का उदय होता है। इस प्रकार इस गुणस्थान में १०० कर्म-प्रकृतियों का उदय और उतने की ही उदीरणा सम्भव है।

सत्ता की दृष्टि से तीर्थकरनामकर्म को छोड़कर १४७ कर्मप्रकृतियों की सत्ता इस गुणस्थान में सम्भव है।^१

४. अविरतिसम्यग्दृष्टि

यह वह अवस्था है जिसमें विद्यमान जीव मोह की शिथिलता के कारण सम्यग्दृष्टि तो रखता है पर उसमें सम्यक्चारित्र का अभाव रहता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अविरतिसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में जीव किसी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का सम्यग्ज्ञान तो रखता है, पर सम्यग्ज्ञान रखते हुए भी उसकी प्राप्ति हेतु सम्यक् आचरण नहीं कर पाता। उसमें विचार-विशुद्धि की विद्यमानता होते हुए भी आचार-शुद्धि का अभाव रहता है।

इस गुणस्थान में तृतीय गुणस्थान में वर्णित ७४ कर्मप्रकृतियों के अतिरिक्त, तीर्थकरनामकर्म, मनुष्यायु और देवायु—इन तीन कर्म प्रकृतियों का भी बन्ध हो सकता है। अतः इस गुणस्थान में ७७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध सम्भव है।^२

उदय की दृष्टि से तृतीय गुणस्थान में उदय योग्य १०० कर्मप्रकृतियों में से मिश्रमोहनीयकर्म का उदय इस गुणस्थान में नहीं होता। इस प्रकार इस गुणस्थान में पूर्वोक्त गुणस्थान की शेष ९९ कर्मप्रकृतियों का उदय सम्भव हो सकता है। किन्तु इसके साथ ही सम्यक्त्वमोहनीयकर्म तथा नरकानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी का उदय भी इस चतुर्थ गुणस्थान में सम्भव है। इस प्रकार इस गुणस्थान में १०४ कर्मप्रकृतियों का उदय और उतने की ही उदीरणा सम्भव मानी गयी है।^३

सत्ता की दृष्टि से चतुर्थ गुणस्थान में १४८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता पायी जाती है। यह सत्ता योग्यता की अपेक्षा से ही समझना चाहिये; क्योंकि एक समय में एक जीव में दो आयु से अधिक की सत्ता नहीं हो सकती। यद्यपि जिन जीवों ने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है उनमें अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया एवं लोभ, मिथ्यात्वमोह, सम्यक्त्वमोह

१. कर्मग्रन्थ, २/२५

२. वही, २/६

३. वही, पृ० ५४, ७१

और मिश्रमोह इन सात कर्मप्रकृतियों की सत्ता भी नहीं रहती। अतः इनकी अपेक्षा से इस गुणस्थान में १४१ कर्मप्रकृतियों की सत्ता मानी जानी चाहिये। इसके अतिरिक्त जो जीव क्षायिक सम्यक्त्वी होकर क्षपक अर्थात् उसी भव भाव में मोक्ष जाने वाले हैं उनकी अपेक्षा से अनन्तानु-बन्धी कषायचतुष्क, दर्शनमोह-त्रिक तथा देव, नारक और तिर्यञ्च आयु इन दस प्रकृतियों का अभाव होता है और उनमें १३८ कर्मप्रकृतियों की ही सत्ता असम्भव है।

५. देशविरति गुणस्थान

देशविरति सम्यग्दृष्टि नामक पाँचवें गुणस्थान में जीव की आत्मिक शक्ति कुछ और विकसित होती है। प्रत्युत वह पूर्णरूप से सम्यक्चारित्र की आराधना तो नहीं कर पाता, पर आंशिक रूप से सम्यक्चारित्र का पालन करता है। इस प्रकार इसमें जीव के चारित्र्यगुण का किञ्चित् विकास होता है।

इस गुणस्थान में बन्धन की दृष्टि से ६७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध सम्भव है। इसमें चतुर्थ गुणस्थान की बन्ध योग्य ७७ कर्मप्रकृतियों में से निम्न दस कर्मप्रकृतियों का भी बन्ध नहीं होता—

वज्र-ऋषभनाराचसंहनन, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु, अप्रत्याख्यानी-कषायचतुष्क, औदारिक शरीर और औदारिक अंगोपांग— इन दस प्रकृतियों का भी बन्ध पाँचवें गुणस्थान में नहीं होता। इस गुणस्थान में कुल बन्धयोग्य ६७ प्रकृतियाँ ही शेष रहती हैं।^१

अविरतिसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान की उदय एवं उदीरणा योग्य १०४ कर्मप्रकृतियों में से निम्न १७ कर्मप्रकृतियों का उदय और उदीरणा इसमें सम्भव नहीं है।

अप्रत्याख्यानी-कषायचतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, देव-आयु, नरक-आयु, वैक्रियशरीर और वैक्रिय अङ्गोपांग, दुर्भगनामकर्म, अनादेयनामकर्म और अयशकीर्ति-नामकर्म। इन सत्रह कर्मप्रकृतियों को चौथे गुणस्थान की उदय एवं उदीरणा योग्य प्रकृतियों से घटा देने पर ८७ कर्मप्रकृतियों का ही उदय एवं उदीरणा पाँचवें गुणस्थान में होती है।^२

१. कर्मग्रन्थ, २/८

२. वही, पृ० ५४

सत्ता की दृष्टि से इस गुणस्थान में भी ~~कर्मोन्मय~~ रूप से १४८, क्षायिक सम्यक्त्व की दृष्टि से १४१ और क्षपक श्रेणी की दृष्टि से १३८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता सम्भव है।

६. प्रमत्तसंयत गुणस्थान

इस गुणस्थान में पाँचवें गुणस्थान की अपेक्षा जीव कुछ और आगे बढ़ता है। जहाँ पाँचवें गुणस्थान में वह आंशिक रूप से सम्यक्चारित्र का पालन करता है, वहीं छठे गुणस्थान में वह पूर्णतया सम्यक्चारित्र का पालन करता है। इसमें संज्वलन को छोड़कर मोहकर्म की सभी शेष कर्म-प्रकृतियाँ क्षीण हो जाती हैं।

इस गुणस्थान में देशविरति नामक पाँचवें गुणस्थान की बन्ध योग्य ६७ कर्मप्रकृतियों में से प्रत्याख्याना कषायचतुष्क का बन्ध नहीं होता। इस प्रकार इस गुणस्थान में केवल ६३ कर्मप्रकृतियों का बन्ध सम्भव है।^१

उदय और उदीरणा की दृष्टि से पूर्व गुणस्थान की उदय एवं उदीरणा योग्य ८७ कर्मप्रकृतियों में से निम्न आठ कर्मप्रकृतियों का उदय और उदीरणा इस गुणस्थान में सम्भव नहीं है—

तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चायु, नीचगोत्र, उद्योतनामकर्म, प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क।

इस प्रकार ७९ कर्मप्रकृतियों की उदय^२ एवं उदीरणा^३ छठे गुणस्थान में हो सकती है। किन्तु इसके साथ इस गुणस्थान में आहारकशरीर नामकर्म तथा आहारक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म इन दो कर्मप्रकृतियों का जिनका पाँचवें गुणस्थान में उदय सम्भव नहीं है उदय हो सकता है। अतः इसमें उदय एवं उदीरणा योग्य कर्मप्रकृतियों की संख्या ८१ है।

सत्ता की दृष्टि से इसमें पूर्वोक्त गुणस्थान के समान ही अपेक्षा विशेष से क्रमशः १४८, १४१ और १३८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिये।

७. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान

इस गुणस्थान में जीव प्रमादजन्य विकारों से रहित होकर सम्यक् चारित्र का पालन करता है। यद्यपि इस अवस्था में भी संज्वलन कषाय उपस्थित रहती है। सातवें गुणस्थान में अरति, शोक, अस्थिरनामकर्म,

१. कर्मग्रन्थ, २/८

२. वही, पृ० ५९

३. वही, २/२३

अशुभनामकर्म, अयशःकीर्तिनामकर्म और असातावेदनीय इन छः कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का विच्छेद हो जाता है।^१ इसप्रकार इस गुणस्थान में पूर्व गुणस्थान की बन्ध योग्य ६३ कर्मप्रकृतियाँ ही शेष रहती हैं। किन्तु इसके साथ ही इस गुणस्थान में आहारकशरीर तथा आहारकअङ्गोपाङ्ग इन दो कर्मप्रकृतियों का बन्ध, जो कि छठें गुणस्थान तक सम्भव नहीं था, सम्भव हो जाता है। अतः इस गुणस्थान में बन्ध योग्य ५९ कर्मप्रकृतियाँ रहती हैं। उन जीवों की अपेक्षा से जो छठें गुणस्थान में ही देवायु का बन्ध कर लेते हैं, इस गुणस्थान में बन्धन योग्य कर्मप्रकृतियाँ केवल ५८ ही रहती हैं।

उदय की दृष्टि से छठें गुणस्थान की ८१ कर्मप्रकृतियों में से दर्शना-वरणीयकर्म की प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानद्धि तथा आहारक-शरीरनामकर्म और आहारक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म, इन पाँच कर्मप्रकृतियों का उदय इस गुणस्थान में नहीं होता है। अतः इसमें उदय योग्य कर्म-प्रकृतियों की संख्या ७६ है। सातवें गुणस्थान से पूर्व तक सभी गुणस्थानों में उदय एवं उदीरणा योग्य कर्मप्रकृतियों की संख्या समान होती है, किन्तु सातवें गुणस्थान से उदय योग्य कर्मप्रकृतियों की अपेक्षा उदीरणा योग्य कर्मप्रकृतियों की संख्या कम होती जाती है। सातवें गुणस्थान में ऐसा कोई अध्यवसाय नहीं होता है जिससे वेदनीय द्विक और मनुष्यायु की उदीरणा हो सके। इससे इस गुणस्थान में उदीरणा योग्य कर्मप्रकृतियों की संख्या ७३ ही रहती है।

सत्ता की दृष्टि से इस गुणस्थान में क्रमशः १४८, १४१ और १४५ कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है।

८. निवृत्ति या अपूर्वकरण गुणस्थान

इस गुणस्थान में आत्मा की अपूर्व आध्यात्मिक शुद्धि होती है। इस गुणस्थान में जीव की आत्मिक शक्ति इतनी विकसित हो जाती है कि वह कर्म वर्गणाओं का स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण और अपूर्वस्थितिबन्ध कर सकता है।^२

स्थितिघात में वह अपवर्तना के द्वारा उदय में आने योग्य कर्मों को अपने नियत समय में उदय में आने नहीं देता है।

१. कर्मग्रन्थ, २, पृ० ४०

२. वही, पृ० १७

अपवर्तना के द्वारा रसघात में बँधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के तीव्र फल देने की शक्ति को मन्द करने की विलक्षण शक्ति जीव में उत्पन्न हो जाती है ।

जिन कर्म-दलिकों का स्थितिघात किया है, उनके उदय को प्रथम अन्तर्मूर्त में स्थापित कर देना गुणश्रेणी कहलाता है ।^१

इसीप्रकार वह गुण संक्रमण में पहले बाँधी हुई अशुभप्रकृतियों को वर्तमान बन्ध वाली शुभप्रकृतियों के रूप में परिणत करता है ।

अपूर्वस्थिति बन्ध में अल्पस्थिति के कर्मों का बन्ध होता है ।

आठवें गुणस्थान में सातवें गुणस्थान की बन्धयोग्य ५९ कर्मप्रकृतियों में से देवायु के बन्ध की भी सम्भावना समाप्त हो जाती है क्योंकि इस गुणस्थान में जीव के परिणाम या मनोभाव इतने विशुद्ध होते हैं कि आयु-कर्म का बन्ध नहीं होता । अतः इसमें बन्धयोग्य कर्मप्रकृतियों की संख्या ५८ है । इस गुणस्थान के दूसरे भाग में निद्रा और प्रचला इन दो कर्म-प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद हो जाने से बन्धयोग्य कर्मप्रकृतियाँ ५६ ही रहती हैं ।^२ आठवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक केवल २६ कर्मप्रकृतियों के बन्ध की सम्भावना होती है, क्योंकि आठवें गुणस्थान के अन्तिम समय में नामकर्म की निम्न तीस कर्मप्रकृतियों का बन्धविच्छेद हो जाता है—

देवगति, देवानुपूर्वी, पञ्चेन्द्रियजाति, शुभविहायोगति, त्रसनामकर्म, बादरनाम कर्म, पर्याप्तनामकर्म, प्रत्येकनामकर्म, स्थिरनामकर्म, शुभनाम-कर्म, सुभगनामकर्म, सुस्वरनामकर्म, आदेयनामकर्म, वैक्रियशरीरनामकर्म, आहारकशरीरनामकर्म, तैजसशरीरनामकर्म, कामणशरीरनामकर्म, वैक्रिय-अङ्गोपाङ्गनामकर्म, आहारक-अङ्गोपाङ्ग, समचतुरस्रसंस्थान, निर्माणनाम-कर्म, तीर्थङ्करनामकर्म, वर्णनामकर्म, गन्धनामकर्म, रसनामकर्म, स्पर्शनाम-कर्म, अगुरुलघुनामकर्म, उपघातनामकर्म, पराघातनामकर्म, उच्छ्वास-नामकर्म ।^३ इस प्रकार इस गुणस्थान में नामकर्म की उक्त ३० कर्म-प्रकृतियों का बन्धविच्छेद हो जाने से बन्धयोग्य कर्मप्रकृतियाँ इस गुण-स्थान में २६ ही रहती हैं ।

सातवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सम्यक्त्वमोहनीय तथा अन्त के

{ १. कर्मग्रन्थ, २, पृ० १८

२. वही, पृ० ४४

३. वही, पृ० ४५

तीन संहनन-अर्द्धनाराच, कीलिका और छेवट्ठ इन चार कर्मप्रकृतियों का उदयविच्छेद हो जाने से आठवें गुणस्थान में उदययोग्य कर्मप्रकृतियाँ ७२ होती हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त गुणस्थान की उदीरणा योग्य ७२ कर्म-प्रकृतियों में से उपयुक्त ४ कर्मप्रकृतियों के कम हो जाने से उदीरणा योग्य कर्मप्रकृतियों की संख्या इस गुणस्थान में ६९ हो रहती है। पहले से लेकर छठे गुणस्थान तक तो उदय एवं उदीरणा योग्य कर्मप्रकृतियों की संख्या समान होती है परन्तु सातवें गुणस्थान से लेकर तेरह पर्यन्त सात गुण-स्थानों में उदीरणा योग्य कर्मप्रकृतियाँ उदय योग्य कर्मप्रकृतियों से तीन-तीन कम होती जाती हैं;^१ क्योंकि सातवें से लेकर आगे के गुणस्थानों में ऐसे कोई अध्यवसाय नहीं होते जिनसे कि वेदनोय द्विक एवं आयु की उदीरणा हो सके।

इस गुणस्थान में १४८, १३९ और १३८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता सम्भव मानी गयी है।

९. अनिवृत्तिबाधरसम्पराय गुणस्थान

इस गुणस्थान में केवल सूक्ष्म लोभ को छोड़कर शेष सभी कषायों का क्षय या उपशमन हो जाता है। जीव के कामवासनात्मक भाव, जिन्हें जैन परिभाषा में “वेद” कहते हैं, समूलरूपेण नष्ट हो जाते हैं। आध्यात्मिक विकास की इस अवस्था में जीव में मुख्य रूप से सूक्ष्म लोभ, हास्य, रति-अरति, भय, शोक और घृणा के भाव विद्यमान रहते हैं। यद्यपि इस अवस्था में भी उक्त भावों की समुपस्थिति से कषायों के पुनः उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है पर उच्चस्तरीय आध्यात्मिक विकास हो जाने से यह सम्भावना अत्यल्प ही होती है।^२

इस गुणस्थान के प्रारम्भ में बन्ध योग्य कर्म प्रकृतियाँ २२ होती हैं। इसमें आठवें गुणस्थान की बन्ध योग्य २६ कर्म प्रकृतियों में हास्य, रति, जुगुप्सा और भय इन नौ-कषाय मोहनीय कर्म की चार प्रकृतियों का बन्धविच्छेद हो जाता है। किन्तु इस गुणस्थान के बन्ध योग्य कर्म प्रकृतियों की संख्या मात्र १८ रह जाती है। इस गुणस्थान में पूर्वोक्त गुणस्थान की अपेक्षा जिन आठ कर्म प्रकृतियों का बन्ध सम्भव नहीं होता है वे निम्न हैं—

१. कर्मग्रन्थ, २, पृ० ७२

२. जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १, पृ० ४६६

हास्य, रति, जुगुप्सा और भय, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, संज्वलन-मान, संज्वलन माया । इस प्रकार इस गुणस्थान के अन्तिम समय में बन्ध-योग्य कर्म प्रकृतियाँ केवल १८ ही रहती हैं ।

आठवें गुणस्थान की उदययोग्य कर्म प्रकृतियों में हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद—इन छः कर्मप्रकृतियों का उदय नौवें गुणस्थान में नहीं होता । इस प्रकार आठवें गुणस्थान की उदययोग्य ७२ कर्मप्रकृतियों में उक्त छः कर्मप्रकृतियों को घटा देने पर इसमें उदय-योग्य ६६ कर्मप्रकृतियाँ ही शेष रहती हैं ।

पूर्वोक्त कथनानुसार उदययोग्य कर्मप्रकृतियों में तीन कम कर देने से उदीरणायोग्य कर्मप्रकृतियों की संख्या ६३ होती है ।

सत्ता की दृष्टि से इस गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों की संख्या १४२, १३९ और १३८ मानी गयी है ।

१०. सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान

इस गुणस्थान में सूक्ष्मसम्पराय अर्थात् अल्पतम सूक्ष्म लोभ मात्र ही जीव में विद्यमान रहता है अन्य सभी कषायों का उपशम अथवा क्षय हो जाता है ।

इस गुणस्थान में सूक्ष्मलोभ के समाप्त हो जाने के कारण बन्धयोग्य कर्मप्रकृतियाँ केवल १७ ही रहती हैं ।

उदय की दृष्टि से पूर्व गुणस्थान की उदययोग्य ६६ कर्मप्रकृतियों में से स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया इन छः कर्मप्रकृतियों का उदय इस गुणस्थान में नहीं होता । अतः इसमें उदययोग्य कर्मप्रकृतियों की संख्या ६० तथा उदीरणायोग्य कर्म-प्रकृतियों की संख्या ५७ रहती है ।^१

सत्ता की दृष्टि से क्रमशः १४८, १३९ और क्षायिक श्रेणी वाले को १०२ कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है ।

११. उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान

जैसा कि नाम से ही ध्वनित होता है कि इस गुणस्थान में जीव के कषाय उपशान्त हो जाते हैं किन्तु उन उपशान्त कषायों की सत्ता बनी रहती है और अवसर पाकर वे पुनः प्रकट हो जाते हैं तथा जीव अपने-अपने आध्यात्मिक विकास से पतित हो जाता है । इस गुणस्थान से पतन अपरिहार्य है; क्योंकि दमित कषाय पुनः प्रकट होंगे ही ।

१६८ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

ग्यारहवें गुणस्थान में केवल सातावेदनीय कर्म को छोड़कर अन्य किसी भी कर्मप्रकृति का बन्ध सम्भव नहीं होता, अतः इस गुणस्थान से लेकर आगे के सभी गुणस्थानों में भी बन्धयोग्य कर्मप्रकृति अर्थात् सातावेदनीय कर्मप्रकृति ही शेष रहती है ।

दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का क्षय हो जाने से ग्यारहवें गुणस्थान में उदययोग्य कर्मप्रकृतियों की संख्या ५९ तथा उदीरणा योग्य कर्मप्रकृतियों की संख्या ५६ रहती है ।^१

सत्ता की दृष्टि से इस गुणस्थान में क्षायिक श्रेणी के जीव नहीं आते हैं अतः केवल उपशम श्रेणी के जीवों में सत्ता योग्य कर्मप्रकृतियों की संख्या १४८ अथवा १३९ ही रहती है ।

१२. क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान

इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म का पूर्णतया क्षय हो जाता है । केवल ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय ही विद्यमान रहते हैं । वे मोहनीय-कर्म के समाप्त हो जाने के कारण निःसत्त्व होकर अन्तर्मुहूर्त में क्षीण हो जाते हैं और जीव केवलज्ञान प्राप्त कर अग्रिम गुणस्थान में पहुँच जाता है ।

बारहवें गुणस्थान में भी केवल सातावेदनीय कर्म का बन्ध सम्भव होता है ।

उदय की दृष्टि से इस गुणस्थान के अन्तिम समय में उदययोग्य कर्म-प्रकृतियों की संख्या ५५ रह जाती है । क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान की उदययोग्य ५९ कर्मप्रकृतियों में से ऋषभनाराच और नाराच दो संहननों को घटाने से शेष ५७ कर्मप्रकृतियों का उदय इस गुणस्थान में होता है । इन २७ कर्मप्रकृतियों में से भी निद्रा तथा प्रचला का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में नहीं होता ।^२ अतः इन दो कर्मप्रकृतियों के और कम हो जाने पर इस गुणस्थान में उदययोग्य ५५ कर्मप्रकृतियाँ ही शेष रहती हैं ।

पूर्वनिर्देशानुसार तीन कर्मप्रकृतियों के कम हो जाने पर उदीरणा योग्य कर्मप्रकृतियों की संख्या ५२ रहती है । इस गुणस्थान में मात्र क्षायिक श्रेणी के जीव आते हैं । अतः इनमें १०१ कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है । द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला इन दो कर्मप्रकृतियों का क्षय हो जाता

१. कर्मग्रन्थ, २, पृ० ७३

२. वही, पृ० ६६

है। जिससे बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में ९२ कर्मप्रकृतियाँ ही सत्ता में रहती हैं।^१

१३. सयोगिकेवल गुणस्थान

मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने से ज्ञानावरणादि अन्य तीन घाती कर्म नष्ट हो जाते हैं। फलस्वरूप आत्मा में विशुद्ध ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित होती है। आत्मा की इसी अवस्था का नाम सयोगिकेवलगुणस्थान है। केवल का अर्थ है—सर्वथा विशुद्ध ज्ञान से युक्त। सयोगी का अर्थ है योग अर्थात् मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों से युक्त होना। अतः यह स्पष्ट होता है कि सयोगिकेवलगुणस्थान जीव की जीवन्मुक्त अवस्था का नाम है।

इस गुणस्थान में केवल सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। अतः बन्धयोग्य कर्मप्रकृति केवल एक ही है।

इस गुणस्थान में उदययोग्य कर्मप्रकृतियों की संख्या ४२ तथा उदीरणा योग्य कर्मप्रकृतियों की संख्या ३९ मानी गयी है।

सत्ता की दृष्टि से इस गुणस्थान में मुख्य रूप से ८५ कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है।

१४. अयोगीकेवली गुणस्थान

यह आत्मा की अत्यन्त योग-निरोध की अवस्था है। इस गुणस्थान में जीव के मानसिक, वाचिक और शारीरिक सभी प्रकार के व्यापार निरुद्ध हो जाते हैं।

इस गुणस्थान में भी केवल सातावेदनीयकर्म का ही बन्ध सम्भव होता है।

उदय की दृष्टि से इसमें १२ कर्मप्रकृतियों का उदय माना गया है। वे प्रकृतियाँ निम्न हैं—

सुभगनामकर्म, आदेयनामकर्म, यशःकीर्तिनामकर्म, वेदनीय की दो प्रकृतियों में से कोई एक, त्रसत्रिक-त्रसनामकर्म, बादरनामकर्म और पर्याप्त-नामकर्म, पंचेन्द्रियजातिनामकर्म, मनुष्यायु, मनुष्यगति, तीर्थङ्करनामकर्म और उच्चगोत्र।^२

इस गुणस्थान में किसी भी कर्मप्रकृति की उदीरणा नहीं होती।

१. कर्मग्रन्थ २, पृ० ८३

२. वही, पृ० ६७-६८

सत्ता की दृष्टि से इस गुणस्थान में प्रारम्भ में उन १२ कर्मप्रकृतियों की ही सत्ता रहती है जिसका उदय सम्भव माना गया है, पर इस गुणस्थान के अन्तिम समय में इन सब कर्मप्रकृतियों का अभाव हो जाता है और आत्मा निष्कर्म होकर सर्वथा मुक्त हो जाती है।

कर्मसिद्धान्त और मार्गणास्थान

जहाँ तक कर्मसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में मार्गणास्थान के मूल्यांकन का प्रश्न है, यह मुख्य रूप से कर्मफल से सम्बन्धित है। मार्गणास्थान जीव के पूर्व कर्मों की विभिन्नता के आधार पर प्राप्त होने वाली गति, योनि, शरीर, इंद्रियों की संख्या आदि को सूचित करता है।

जीव के कर्मजन्य औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक आदि भावों को दृष्टि में रखकर मार्गणाओं के १४ भेद किये गये हैं जो इस प्रकार हैं—

१. गति, २. इन्द्रिय, ३. काय, ४. योग, ५. वेद, ६. कषाय, ७. ज्ञान, ८. संयम, ९. दर्शन, १०. लेख्या, भव्यत्व, १२. सम्यक्त्व, १३. संज्ञो, १४. आहारकत्व।^१ इनमें प्रत्येक के अन्य अवान्तर भेद भी हैं, जिनको लेकर ६२ मार्गणाएँ मानी गयी हैं, उदाहरण के रूप में—

१. गतिमार्गणा

गति मार्गणा में गतिनामकर्म के उदय से जीव मनुष्य, तिर्यञ्च, देव या नारक में से किसी एक गति को प्राप्त करता है।

२. इन्द्रिय

त्वचा, नेत्र आदि जिन बाह्य निमित्तों से सर्दी-गर्मी, काले-पोले, आदि विषयों का ज्ञान होता है और जो अंगोपांग तथा निर्माण-नामकर्म के उदय से प्राप्त होते हैं, वे इन्द्रिय मार्गणा हैं।

३. काय

जिसकी रचना और वृद्धि यथायोग्य औदारिक, वैक्रिय आदि पुद्गल-स्कन्धों से होती है और जो शरीरनामकर्म के उदय से बनते हैं, उसे काय कहते हैं।

४. वेद

वाचिक, मानसिक एवं कायिक व्यापार रूप योग से जीव के आत्मिक प्रदेशों में विविध प्रकार के हलचल या परिस्पन्दन होते हैं।

१. गइइंदिए य काये जोए वेए कसायनाणेसु।

संजमदंसणलेसा भवसम्मे संनिआहारे॥

५. वेद

मोहनीयकर्म के उदय होने पर वेद-मार्गणा के प्रभाव से जीव को सम्भोग-जन्य सुख की संवेदना होती है।

६. कषाय

इस मार्गणा के प्रभाव से जीव में किसी अन्य जीव के प्रति आसक्त या अनासक्त होने की प्रवृत्ति विकसित होती है। दूसरे शब्दों में इससे जीव में विविध प्रकार के मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं। यह मार्गणा कषाय-मोहनीय कर्म के उदय से होती है।

७. ज्ञान

इसके निमित्त से जीव में किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानने हेतु एक विशिष्ट प्रकार की चेतनाशक्ति जागरित होती है।

८. संयम

इस मार्गणा में जीव कर्मबन्ध-जनक प्रवृत्तियों से पूर्णतया अलग हो जाता है।

९. दर्शन

विषय को सामान्य रूप से जानने वाला चेतना का उपयोग दर्शन है।^१

१०. लेश्या

आत्मा के साथ कर्म का मेल कराने वाले परिणाम लेश्या हैं।

११. भव्यत्व

इस मार्गणा के प्रभाव से जीव मोक्ष-लाभ करता है।

१२. सम्यक्त्व

आत्मा के उस परिणाम को सम्यक्त्व कहते हैं, जो मोक्ष का अवरोध है, जिसके व्यक्त होते ही आत्मा तत्त्व का श्रद्धान करती है।

१३. संज्ञित्व

दीर्घकालिकी संज्ञा की प्राप्ति को संज्ञित्व कहते हैं।^२

१४. आहारकत्व

किसी न किसी प्रकार के आहार को ग्रहण करना आहारकत्व है।^३

मार्गणास्थान इस बात की सूचना देते हैं कि व्यक्ति में जो विभिन्नता है, वह कर्मों के कारण है। क्योंकि कर्म के अनुरूप ही शरीर, इन्द्रिय, गति, लेश्या आदि की प्राप्ति होती है।

मार्गणाओं और गुणस्थानों में मुख्य अन्तर यह है कि मार्गणाओं से

१. कर्मग्रन्थ, २, पण्डित सुखलाल जी कृत टीका, पृ० ४९।

२. वही, पृ० ५०।

३. वही, पृ० ५०।

जीव के विकास क्रम की सूचना नहीं मिलती, बल्कि कर्मों के अनुसार प्राप्त होनेवाली विविध अवस्थाओं की सूचना मिलती है, जब कि गुण-स्थानों से जीव के क्रमिक आध्यात्मिक विकास की सूचना मिलती है।

उन दोनों में दूसरा प्रमुख अन्तर यह है कि कर्मजन्य औदयिक, क्षायिक एवं क्षायोपशमिक आदि भावों के अनुसार एक ही समय में जीव में सभी चौदह मार्गणाएँ हो सकती हैं, परन्तु एक जीव में एक समय में एक ही गुणस्थान हो सकता है।

पूर्व-पूर्व गुणस्थानों को छोड़कर उत्तरोत्तर गुणस्थानों को प्राप्त करना जीव के क्रमिक विकास की सूचना देता है, परन्तु पूर्व-पूर्व मार्गणा को छोड़कर उत्तरोत्तर मार्गणा न तो प्राप्त ही की जा सकती है और न उनसे जीव के आध्यात्मिक विकास की सूचना ही मिलती है। मार्गणा-स्थान एवं गुणस्थान की तुलनात्मक समीक्षा करने पर यही फलित होता है। इससे कर्मसिद्धान्त के दो महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। गुणस्थान यह बतलाता है कि कर्मबन्धन के क्रमशः क्षीण होने या क्रमिक आध्यात्मिक विकास होने से मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है एवं मार्गणा स्थान से कर्मों के प्रतिपल के रूप में प्राप्त होने वाली विविध गति आदि की सूचना मिलती है।

जहाँ तक गुणस्थानों एवं मार्गणास्थानोंकी अवधारणाओं के ऐतिहासिक विकास की बात है, आगम साहित्य में मार्गणा सिद्धान्त का सुव्यवस्थित विवरण नहीं है, यद्यपि गति, इन्द्रिय, काय आदि के उल्लेख यत्र-तत्र दृष्टिगत होते हैं। जब कि समवायांग सूत्र में जीवस्थान के रूप में १४ गुणस्थानों के उल्लेख मिलते हैं।^१ जहाँ तक दिगम्बर आगम साहित्य का प्रश्न है, षट्खण्डागम में मार्गणा एवं गुणस्थान दोनों ही सिद्धान्तों का सुव्यवस्थित विवेचन है।

यदि हम कर्मविषयक साहित्य को देखें तो हमें दोनों ही परम्पराओं के कर्मविषयक साहित्य में गुणस्थान एवं मार्गणास्थान दोनों का सुव्यवस्थित विवरण मिलता है।

उपर्युक्त आधार पर यही कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में गुणस्थान एवं मार्गणास्थान की बीज रूप अवधारणाएँ उपस्थित थीं। पुनः कर्म-विषयक साहित्य के रचना काल में इनका पूर्ण विकास हुआ। साथ ही कर्मप्रकृतियों की बन्ध, उदय, उदीरणा आदि से भी इनका समन्वय स्थापित किया गया।

जैन कर्मसिद्धान्त की प्रमुख समस्यायें

किसी भी सिद्धान्त की स्थापना के साथ उसके सम्बन्ध में कुछ प्रश्न अवश्य ही उपस्थित हो जाते हैं। जैनों के अनुसार इन प्रश्नों के समाधान हेतु एकांगी दृष्टि न रखते हुए अनेकान्त दृष्टि से विचार करना चाहिये। जब हम जैन कर्मसिद्धान्त पर विचार करते हैं तो ऐसा लगता है कि उसके साथ भी कुछ ऐसी समस्यायें जुड़ी हुई हैं, जो उस पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं और उनकी कुछ कमियों को इंगित करती हैं। जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित अनेक समस्याओं पर गहराई से विचार किया गया है और उस सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले प्रश्नों का समुचित उत्तर दिया गया है।

परन्तु इसके पूर्व कि जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में कर्मविषयक इन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया जाय, आवश्यक है कि इन समस्याओं को ही सम्यक् रूपेण समझा जाय।

जैन कर्मसिद्धान्त विषयक इन समस्याओं को निम्न रूप में वर्गीकृत कर सकते हैं—

१. पुरुषार्थवाद एवं नियतिवाद की समस्या

कर्मसिद्धान्त पुरुषार्थवादी विचारधारा का समर्थक है या नियतिवादी विचारधारा का, यह एक गम्भीर समस्या है। व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से जो कुछ भी करता है वह पुरुषार्थ है, जबकि नियति शब्द भाग्य का पर्यायवाची है। नियतिवाद की सामान्य अवधारणा यह है कि व्यक्ति जो कुछ करता है वह पहले से नियत है और व्यक्ति उसका किसी तरह से अतिक्रमण नहीं कर सकता। अतः देखना यह है कि क्या कर्मसिद्धान्त एकान्त रूप से पुरुषार्थवादी विचारधारा का समर्थक है या नियतिवादी विचारधारा का ?

सामान्यतया कर्मका सिद्धान्त कार्य-कारण का सिद्धान्त है। भाव-कर्म द्रव्य-कर्म को उत्पन्न करता है और द्रव्य-कर्म भाव-कर्म को। पण्डित सुखलाल जी कहते हैं कि भाव कर्म के होने में द्रव्य-कर्म निमित्त है और द्रव्य-कर्म में भावकर्म निमित्त है, दोनों का आपस में बीजांकुर की तरह

कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है।^१ यहाँ द्रव्यकर्म एवं भावकर्म के कारण-कार्य सम्बन्ध को स्पष्ट करने का मुख्य उद्देश्य यह है कि ये दोनों कर्मसिद्धान्त के आधारभूत अंग हैं। यदि हम उक्त मान्यता के अनुसार कर्मसिद्धान्त को कार्य-कारण नियम का एक रूप मानकर चलते हैं तो कर्मबन्धन और मुक्ति में पुरुषार्थ की कोई भूमिका दृष्टिगोचर नहीं होती। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या कर्मों के सम्पादन में एवं उनसे मुक्ति प्राप्त करने में व्यक्ति के आत्मस्वातन्त्र्य का कोई स्थान नहीं है ?

जहाँ तक कर्मों के सम्पादन में व्यक्ति के आत्मस्वातन्त्र्य या पुरुषार्थ का प्रश्न है, जैन आगम ग्रन्थों में पुरुषार्थवादी विचारधारा के अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। जिससे यह सूचना मिलती है कि व्यक्ति कार्य-कारण नियम में आबद्ध न होकर अपने पुरुषार्थ से कर्मबन्धन की शृंखला को तोड़ सकता है। आचारांगसूत्र में उसे ही वीर और प्रशंसनीय कहा गया है, जो कर्मों से बद्ध आत्मा को मुक्त कर देता है।^२ इसमें महावीर स्पष्ट रूप से कहते हैं कि 'मैंने सुना है और अनुभव किया है कि कर्मों के बन्धन से मुक्त होना तुम्हारे ही हाथ में है।'^३ इसी प्रकार पुरुषार्थवाद के समर्थन में उपासकदशाङ्गसूत्र में महावीर स्वामी और सद्दालपुत्र की चर्चा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सर्वप्रथम तो भगवान् महावीर सद्दालपुत्र से मिट्टी के बर्तनों के बनाने की विधि पूछते हैं एवं उनके बनाने की विधि का उत्तर पाकर पुनः यह प्रश्न करते हैं कि हे सद्दालपुत्र ! यह बर्तन उत्थान यावत् पुरुषकार पराक्रम से बने हैं अथवा उसके बिना ही बने हैं।^४ सद्दालपुत्र पहले तो निःसंकोच कहता है कि यह सब बर्तन उत्थान यावत् पुरुषकार-पराक्रम के बिना ही बने हैं, उत्थान आदि का कोई अर्थ नहीं है, समस्त परिवर्तन नियत है।^५ तदनन्तर पुनः भगवान् आजीविकोपासक सद्दालपुत्र से पूछते हैं कि हे सद्दालपुत्र ! यदि कोई पुरुष हवा लगे हुए अथवा पके हुए तेरे बर्तनों को चुरा ले, कहीं बाहर ले जाकर रख दे और तुम्हारी अग्निमित्रा भार्या के साथ काम-भोग सेवन

१. कर्मग्रन्थ १, (हिन्दी) अनु० पं० सुखलाल जी, प्रस्तावना, पृ० २४

२. आचारांगसूत्र, १२/१/५

३. वही, ३/२/१५०

४. उपासकदशाङ्गसूत्र, सं० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, सूत्र १९५।

५. वही, सूत्र १९६।

करे तो तुम उसे क्या दण्ड दोगे ? मैं उस पुरुष को गालियाँ दूँगा, पीटूँगा, बाँध दूँगा, पैरों तले कुचल दूँगा, उसके प्राण ले लूँगा । इस पर महावीर कहते हैं कि हे सद्दालपुत्र ! तुम्हारी मान्यता के अनुसार न तो कोई पुरुष बर्तनों को चुराता है और न अग्निमित्रा भार्या के साथ दुराचार करता है, न ही तुम उस पुरुष को दण्ड देते हो और न मारते हो; क्योंकि उत्थान यावत् पुरुषकार तो है नहीं, जो कुछ होता है अपने आप होता है फिर तुम ऐसा करने वाले को दण्ड देने की बात क्यों सोचते हो अथवा ऐसी स्थिति में तुम्हारा यह सिद्धान्त मिथ्या है कि उत्थान या पुरुषकार कुछ नहीं है और सब भाव नियत है ।^१ इन उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि जैनदर्शन में पुरुषार्थवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है । व्यक्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्मबन्धनों को तोड़कर मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

इसके विपरीत नियतिवादियोंका मन्तव्य है कि जो घटना जिस रूप में घटित होनी होती है, उसी रूप में घटित होती है उससे अन्यथा नहीं हो सकती और इस प्रकार पुरुषार्थवाद का कोई महत्त्व नहीं है । किन्तु जैन कर्म सिद्धान्त में नियति का उक्त अर्थ परिलक्षित नहीं होता । उसके अनुसार नियति से अभिप्राय कर्मों का नियत क्रम में संचित होकर समय के परिपक्व होने पर फल देने से है । उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि पूर्व जन्म में मेरे द्वारा किये गये सत्य और शुद्ध कर्मों के फल आज मैं भोग रहा हूँ । क्या तुम भी वैसे हो भोग रहे हो ?^२ इससे यह स्पष्ट होता है कि जो होना है वही होता है उससे अन्यथा नहीं हो सकता । इस उल्लेख से यह भी फलित होता है कि कोई कर्म पहले तो एक नियत क्रम में संचित होता है एवं तदनन्तर काल परिपाक होने पर नियत क्रम में फल देकर हो समाप्त होता है । डॉ० सागरमल जैन लिखते हैं कि “पूर्व अर्जित कर्म ही व्यक्ति की नियति बन जाते हैं । इस अर्थ में कर्मसिद्धान्त में नियति का तत्त्व भी प्रविष्ट है ।^३ डॉ० सागरमल जैन के इस कथन से भी यही फलित होता है कि कर्म के अदृष्ट परिणाम संचित होकर नियति के

१. उपासकदशांगसूत्र १९७ ।

२. सच्चसोयप्पगडा कम्मा मए पुरा कडा ।

ते अज्ज परिभुंजामो किं नु चित्ते वि ते तहा ॥

उत्तरा० सूत्र, १३/९

३. जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम भाग, पृ० ३०३ ।

रूप में विद्यमान रहते हैं और जीव के राग-द्वेष रूप भावों के अनुसार काल-परिपक्व होने पर फल प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कर्मसिद्धान्त में कर्म फल की नियतता के अर्थ में नियति का स्थान है। आचार्य हरिभद्र नियतिवाद का स्वरूप बताते हुए लिखते हैं— 'जिस वस्तु को जिस समय जिस कारण से जिस रूप में होना है, वह वस्तु उस समय उस कारण से उस रूप में निश्चित रूप से उत्पन्न होती है, ऐसी परिस्थिति में नियति के सिद्धान्त का कौन खण्डन कर सकता है ? पर इन सबके बावजूद भी कर्म सिद्धान्त को एकान्त रूप से नियतिवादी नहीं कहा जा सकता है।^१ इस सन्दर्भ में डॉ० सागरमल जैन का कथन है कि "जैन कर्म सिद्धान्त यह अवश्य मानता है कि व्यक्ति का प्रत्येक संकल्प, प्रत्येक क्रिया अकारण नहीं होती है उसके पीछे कारण रूप में पूर्ववर्ती कर्म रहते हैं। हमारी सारी क्रियायें, समग्र विचार और मनोभाव पूर्व कर्म के परिणाम होते हैं, उनसे निर्धारित होते हैं लेकिन इतने मात्र से कर्मसिद्धान्त को निर्धारणवाद मान लेना संगत नहीं होगा।^२ जैन ग्रन्थों में वर्णित कर्मों की दस अवस्थायें कर्मसिद्धान्त के एकांगी रूप से नियतिवादी न होने की स्पष्ट प्रमाण हैं। कर्म की संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन आदि अधिकांश अवस्थायें यही सूचित करती हैं कि व्यक्ति का समग्र व्यवहार कार्य-कारण नियम में आबद्ध नहीं है, वह स्वतन्त्र रूप से भी कोई कर्म कर सकता है। यदि कर्मसिद्धान्त मात्र नियतिवादी होता तो उसमें उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, संक्रमण आदि कर्मविपाक को प्रभावित करने वाली अवस्थाओं को स्वीकार नहीं किया जाता। नियतिवाद में व्यक्ति के पुरुषार्थ से घटनाओं में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता और वे अपने नियत क्रम में घटित होती हैं, परन्तु कर्मसिद्धान्त में स्वीकृत कर्म की उक्त अवस्थायें यह सूचित करती हैं कि कर्मफल नियत क्रम में घटित नहीं होता अपितु प्रयत्न विशेष से उनमें परिवर्तन भी हो सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कर्मसिद्धान्त एकान्त रूप से नियतिवादी नहीं है।

कर्म की अवस्थाओं के अतिरिक्त कर्मविषयक अन्यान्य सन्दर्भ—कर्म-बन्धन, बन्धन के कारण तथा उसके निवारण सम्बन्धी उपाय आदि भी कर्मसिद्धान्त को एकांत रूप से नियतिवादी सिद्ध नहीं करते हैं। उत्तरा-

१. शास्त्रवार्तासमुच्चय, १७४।

२. जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १, पृ० २८१

ध्ययन सूत्र में कर्म की एकान्तिक नियतता को असत्य बतलाते हुए कहा गया है कि “कर्मों के पैदा होने वाले कारणों को जानो, उनका छेद करो और फिर क्षमा आदि के द्वारा अक्षय यश का संचय करो, ऐसा करने वाला मनुष्य इस पार्थिव शरीर को छोड़कर ऊर्ध्वदिशा—उच्च एवं श्रेष्ठ गति को पाता है।”^१ वास्तव में यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो ऐसा ज्ञात होता है कि कर्मसिद्धान्त एकान्त रूप में नियतिवाद नहीं है; क्योंकि यदि कर्मसिद्धान्त एकमात्र नियतिवादी परम्परा का प्रतिनिधित्व करता तो फिर उसमें बन्धन के कारण एवं उनके निवारण संबंधी उपायों का कोई महत्त्व ही नहीं होता; क्योंकि जो नियत होता है उसके परिवर्तन हेतु किसी बाह्य पराक्रम की आवश्यकता ही नहीं होती, इसी आधार पर कर्मसिद्धान्त बन्धन को नियत मान लेता पर कर्मसिद्धान्त में कर्म की इस प्रकार की नियतता लक्षित नहीं होती, वह बन्धन को नियति न मानकर उसके निवारण हेतु व्यक्ति के स्वतन्त्र कर्तृत्व की उद्घोषणा करता है।

यह सत्य है कि कर्म के अदृष्ट परिणाम नियत क्रम में संचित रहते हैं एवं बन्ध के अनुसार फल प्रदान करते हैं पर इतने मात्र से कर्मसिद्धान्त की नियतता सिद्ध नहीं होती है। कर्मसिद्धान्त में नियति के साथ ही साथ व्यक्ति के स्वतन्त्र कर्तृत्व का भी महत्त्व है। इसको स्पष्ट करते हुए राधाकृष्णन् कहते हैं कि “स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं है और न कर्म का अर्थ नियति है। कर्म के अतीत के साथ सम्बन्ध का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य स्वतन्त्र रूप से कोई कर्म नहीं कर सकता बल्कि उसमें स्वतन्त्र कर्म तो अन्तर्निहित ही है। जो नियम हमें अतीत के साथ जोड़ता है, वह इस बात का भी प्रतिपादन करता है कि हम कर्म के नियम को अपने पुरुषार्थ से पराभूत कर सकते हैं यह हो सकता है कि हमारे संचित कर्म हमारे मार्ग में बाधाएँ डालें, किन्तु वे मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति के आगे उसी मात्रा में झुक जायेंगे जिस मात्रा में उसमें गम्भीरता और दृढ़ता होगी।”^२

१. विगिच कम्मणो हेउं जसं संचिणु खन्ति ए।

पाढवं सरीरं हिच्चा उड्ढं पक्कमई दिसं ॥ उत्तराध्ययन सू०, ३/१३

२. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, (राधाकृष्णन्), पृ० २८८-२९०।

जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग १, पृ० २८२ से उद्धृत।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि कर्मसिद्धान्त कर्म की नियतता का अपलाप नहीं करता अर्थात् कर्मों की नियतता को स्वीकार करता है साथ ही उस नियतता से व्यक्ति के पुरुषार्थ एवं पराक्रम में परिवर्तन होने की बात को भी स्वीकार करता है। वैसे जैन दर्शन में नियति का जो अर्थ विवक्षित है उसका अपने में विशिष्ट अर्थ परिलक्षित होता है। अन्य नियतिवादी विचारधाराएँ जहाँ व्यक्ति के पुरुषार्थ एवं पराक्रम का खण्डन करके उसे भाग्य पर विश्वस्त रखने की प्रेरणा देती हैं, वहाँ जैन दर्शन का नियति तत्त्व फल विपाक को किसी सीमा तक नियतता को स्वीकार करते हुए भी व्यक्ति के पुरुषार्थ के महत्त्व को स्वीकार करता है।

जैन कर्मसिद्धान्त में पुरुषार्थ का अत्यधिक महत्त्व है। व्यक्ति पुरुषार्थ से अपने कर्मपुद्गलों के आस्रव को रोक सकता है तथा आध्यात्मिक पथ पर निर्विघ्न चल सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि 'कर्मों' के हेतुओं को दूर करके और क्षमा से यश, संयम का संचय करके वह साधक पार्थिव शरीर को छोड़कर ऊर्ध्वदिशा (स्वर्ग अथवा मोक्ष) को ओर जाता है।^१ इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति के स्वर्ग या मोक्ष प्राप्ति का कारण उसका पुरुषार्थ है। इसी ग्रन्थ के एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि "तप रूपी बाणों से कर्म रूपी कवच को भेद कर अन्तर्मुक्त का विजेता मुनि संसार से मुक्त होता है।"^२ इससे यह प्रतिध्वनित होता है कि स्वतन्त्र कर्तृत्व द्वारा कर्मबन्धन के मूल कारणों का निवारण करके मुक्त हुआ जा सकता है। जो कर्मबन्धन को तोड़ने का प्रयत्न करता है, मोक्ष वही प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से पुरुषार्थ को महत्ता स्वयं सिद्ध है, पुरुषार्थ ही मोक्ष का हेतु बन सकता है। इस सन्दर्भ में द्रव्य कर्म एवं भाव कर्म के कार्य-कारण भाव में पुरुषार्थ का क्या स्थान है? इस समस्या पर भी विचार कर लेना उचित ही होगा।

सामान्यतया द्रव्यकर्म, कर्म का वह पक्ष है जिसमें आत्मा कर्म-पुद्गलों

१. विगिंच कम्मणो हेउं जसं संचिणु खन्ति ए ।

पाढवं शरीरं हिच्चा उड्ढं पक्कम्मई दिसं ॥

उत्तराध्ययन सूत्र, ३/१३

२. तवनारायजुत्तेण, भेत्तूणं कम्मकंचुयं ।

मुणी विगयसंगामो भवाओ परिमुच्चए ॥ वही, सूत्र ९/२२

से पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होता है। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या आत्मा के पुरुषार्थ के बिना कर्मपुद्गल अपने आप उससे बद्ध हो सकते हैं? पर वास्तव में देखा जाय तो बिना पुरुषार्थ के बन्धन असम्भव है। मात्र शारीरिक दृष्टि से किसी कार्य का सम्पादन ही पुरुषार्थ नहीं है अपितु किसी विषय विशेष पर मानसिक चिन्तन भी एक प्रकार का पुरुषार्थ ही है। कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ जो सम्पर्क स्थापित होता है उसमें आत्मा के निज संकल्पों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। सूत्र-कृतांग सूत्र का यह कथन कि “पहले बन्धन को जानो, तदनन्तर उन्हें तोड़ने का प्रयत्न करो”^१, व्यक्ति के स्वतन्त्र पुरुषार्थ को अभिव्यंजित करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन कर्मसिद्धान्त में कर्म की अवस्थायें, बन्धन, बन्धन के कारण, मोक्ष आदि ऐसे अनेकशः प्रसंग हैं जिनमें पुरुषार्थ की महत्ता की सूचना है। समयसार में पुरुषार्थ के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि “जैसे धन का अर्थी पुरुष राजा को जानकर उसकी श्रद्धा करता है तदनन्तर प्रयत्न द्वारा उसके अनुकूल आचरण करता है, ऐसे ही मोक्ष की कामना रखने वाले पुरुष को जीव-रूपी राजा को जानना चाहिये तदनन्तर उसकी श्रद्धा करनी चाहिये और तत्पश्चात् उसी के अनुकूल आचरण करना चाहिये।”^२ इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि “जिस प्रकार चिरकाल से बन्धन में पड़ा हुआ कोई पुरुष उस बन्धन के स्वरूप तथा फल को जानता है परन्तु उस बन्धन को छेदने का प्रयत्न न करने पर बहुत समय तक भी उस बन्धन से छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार कर्म बन्धनों के प्रदेश, अनुभाग तथा स्थिति रूप भेदों को जान लेने मात्र से मुक्ति नहीं होती बल्कि राग-द्वेष आदि बन्धक कारकों को जानकर उन्हें छोड़ने से मुक्ति

१. बुज्झिज्ज तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया।

सूत्रकृतांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, १/१/१

२. जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।

तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थोओ पयत्तेण॥

एवं हि जीवराया णादब्बो तह य सद्दहेदब्बो।

अणुचरिदब्बो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण॥

समयसार गाथा, १७-१८

होती है।^१ समयसार के इन विवरणों से भी परोक्ष रूप से कर्मबन्धन से छूटने में पुरुषार्थ की महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रतीत होती है। ये विवरण यह स्पष्ट करते हैं कि बन्धन के मूल स्वरूप या उसके आकार-प्रकार के सम्यग्ज्ञान मात्र से कर्म बन्धनों से छुटकारा नहीं मिल सकता बल्कि तदनिमित्त प्रयत्न एवं पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पुरुषार्थ के महत्त्व को अभिव्यंजित करते हुए उपाध्याय अमर मुनि भी लिखते हैं कि “मनुष्य अपने भाग्य की एवं नियति चक्र की कठपुतली मात्र नहीं है बल्कि वह अपनी विवेक शक्ति से तथा अपने पुरुषार्थ एवं प्रयत्न से अपने भाग्य को और अपने नियतिचक्र को जैसा चाहे वैसा बदलने की क्षमता, योग्यता और शक्ति रखता है।”^२ इस प्रकार जैन कर्मवाद व्यक्ति को पुरुषार्थ से विमुख नहीं करता बल्कि पुरुषार्थ के लिए व्यक्ति को प्रेरणा देता है।

जहाँ तक कर्म सिद्धान्त को पुरुषार्थवाद या नियतिवाद में से किसी एक से सम्बन्धित मानने का प्रश्न है, वह किसी एक विचारधारा से संबद्ध नहीं है अपितु उसमें दोनों के तत्त्व समाविष्ट हैं। इनमें से किसी एक के आधार पर कर्म सिद्धान्त की स्थापना ही सम्भव नहीं हो सकती। यदि हम निरपेक्ष रूप से पुरुषार्थ को ही सब कुछ मानते हैं तो कर्मविपाक की नियत व्यवस्था के अभाव में कर्म और उसके फल के बीच कोई सुनिश्चित क्रम नहीं बन पाता। इसी प्रकार एकमात्र नियति को सत्य मानकर चलते हैं तो व्यक्ति के आत्म-स्वातन्त्र्य या उसके पुरुषार्थ को कुठाराघात लगता है। पुरुषार्थ या आत्म-स्वातन्त्र्य के अभाव में न तो कर्मों के शुभत्व या अशुभत्व के प्रति व्यक्ति का उत्तरदायित्व बनेगा और न इसके अभाव में मुक्ति ही सम्भव होगी। इससे यही लगता है कि कर्म-सिद्धान्त न तो एकान्त रूप से नियतिवादी विचारधारा से सम्बद्ध है और न पुरुषार्थवादी विचारधारा से। बल्कि कर्म सिद्धान्त में नियति एवं

-
१. जह णाम कोवि पुरिसो बंधणयहि चिरकालपडिबद्धो ।
 तिब्बं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स ॥
 जइ णवि कुणइच्छेदं ण मुच्चए तेण बंधणवस्सो सं ।
 कालेण उ बहुएणवि ण सो णरो पावइ विमोक्खं ॥
 इय कम्मबंधणाणं पएसठिइपयडिमेवमणुभागं ।
 जाणंतोवि ण मुच्चइ मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो ॥

समयसार, गाथा, २८८-२९०

२. समाज और संस्कृति, पृ० १८५ ।

पुरुषार्थ दोनों का ही विशिष्ट योगदान है। डॉ० सागरमल जैन का कथन है कि “जैन कर्मसिद्धान्त को एकान्त रूप में नियतिवाद या निर्धारणवाद नहीं कहा जा सकता है। जैन कर्मसिद्धान्त यह अवश्य मानता है कि व्यक्ति का प्रत्येक संकल्प, उसकी प्रत्येक क्रिया अकारण नहीं होती उसके पीछे कारण रूप में पूर्ववर्ती कर्म रहते हैं। हमारे मनोभाव और तज्जनित कर्म पूर्वकर्म के परिणाम होते हैं लेकिन इतने मात्र से कर्मसिद्धान्त को नियतिवाद मान लेना संगत नहीं होगा; क्योंकि कर्मसिद्धान्त व्यक्ति की समग्र स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करता। जैनदर्शन में अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, केवली समुद्घात के प्रत्यय कर्मनियम के ऊपर व्यक्ति की स्वतन्त्रता के समर्थक हैं।^१

डॉ० राधाकृष्णन् नियति एवं पुरुषार्थ के प्रति एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि “स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं है और न कर्म का अर्थ नियति। मानव जब अपनी इच्छा से चुनाव करता है तो वह बिना किसी प्रयोजन या कारण के नहीं करता यदि हमारे कर्मों का अतीत के साथ कोई सम्बन्ध न हो तो हम पर अपने आप में सुधार करने की न तो कोई नैतिक जिम्मेदारी होगी और न गुंजाइश।^२

इन उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि कर्मसिद्धान्त पुरुषार्थ और नियति का समन्वित रूप है।

क्या कर्मफल ईश्वराधीन है या स्वतः उसमें फल प्रदान करने की शक्ति है

कोई कर्मफल नियामक है या कर्म स्वयं अपना फल देते हैं, इस सन्दर्भ में मुख्य रूप से दो प्रकार की विचारधाराएँ दृष्टिगत होती हैं। न्याय दर्शन का मन्तव्य है कि “अच्छे-बुरे कर्मों का फल ईश्वर की प्रेरणा से मिलता है अर्थात् ईश्वर कर्मफल का नियामक है।”^३ महाभारत में भी कहा गया है कि “अपने दुःख भोग के क्षेत्र को खोजने में स्वयं विचारे असमर्थ ये अज्ञ जन्तु ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर ही सुख-दुःख भोगने हेतु स्वर्ग

१. देखें, जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम भाग, पृ० २८१-८२।

२. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ३५०।

३. ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मफलस्य दर्शनात्।

तथा नरक में जाते हैं।^१ गीता में भी श्री कृष्ण कहते हैं कि “मैं जिसका निश्चय कर देता हूँ वह फल सबको प्राप्त होता है।”^२ इसके विपरीत जैनदर्शन कर्मफल नियन्ता के रूप में ईश्वर को अस्वीकार करता है।

इन दो परस्पर विरोधी विचारों में कर्मफल नियन्ता के सन्दर्भ में ईश्वर या कर्म स्वयं में से किसे स्वीकार किया जाय ? यह एक विवादास्पद प्रश्न बन जाता है। कर्मफल नियन्ता के रूप में जैनदर्शन ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। जैनदर्शन के अनुसार कर्म अपना फल स्वतः देते हैं उसके लिए किसी अन्य न्यायाधीश एवं प्रेरक की आवश्यकता नहीं है।^३ षड्दर्शन समुच्चय के अनुसार “जीव चैतन्य स्वरूप है, कर्मों के अनुसार अनेक पशु आदि की पर्यायें धारण करता है। अपने अच्छे व बुरे विचारों से शुभ एवं अशुभ कर्मों को बाँधता है तथा उनके सुख-दुःख रूप फलों को भोगता है।”^४ उक्त सन्दर्भ से यह ज्ञात होता है कि कर्मफल ईश्वर की प्रेरणा से प्राप्त नहीं होता अपितु कर्म स्वतः ही अपना फल देते हैं। इस तथ्य को और पुष्ट करते हुए समयसार में कहा गया है कि “सभी जीव अपने कर्म के उदय से सुखी और दुःखी होते हैं तुम उनके कर्म-फल के प्रदाता नहीं हो तब तुम्हारे द्वारा वे दुःखी और सुखी कैसे किये गये ? सभी जीव स्वकीय कर्मों के द्वारा दुःखी और सुखी होते हैं अन्य कोई तुम्हें कर्मफल देता नहीं तब दूसरों के द्वारा तुम दुःखी कैसे किये

१. अज्ञो जन्तुरनीशो यमात्मनः सुखदुःखयोः ।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा इव भ्रमेव वा ॥

महाभारत, वनपर्व, ३०/३१

२. लभते च ततः समैव विहितान हि तान ।

गीता, ७/२२

३. कर्मविपाक, सुखलाल जी कृत प्रस्तावना, पृ० १५

४. तत्र ज्ञानादि धर्मभ्यो भिन्नाभिन्नो विवृत्तिमान ।

शुभाशुभ कर्म कर्ता भोक्ता कर्मफलस्य च ॥

चैतन्य लक्षणो जीवो यश्चैतद्विपरीत वा न ।

अजीवः स समाख्यात् पुण्यं सत्कर्मपुद्गलाः ॥

षड्दर्शनसमुच्चय, ४८, ४९, पृ० २१३

गये ?^१ इन विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि संसार के प्रत्येक प्राणी को जो जीवन-मरण सुख अथवा दुःख प्राप्त होता है, वह उसके कर्मोदय के अनुसार ही होता है। ईश्वर नामक कोई अदृश्य सत्ता व्यक्ति के सुख-दुःख रूप फल को निर्धारित नहीं करती।

डॉ० सागरमल जैन का कथन है कि कर्मों को अपना फल प्रदान करने के लिए अन्य चेतन सत्ता की अथवा ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। कर्मों के कर्त्ता चेतन आत्मा के द्वारा स्वयं कषायों एवं कर्मों की तीव्रता के आधार पर कर्मविपाक का प्रकार, कालावधि की मात्रा और तीव्रता का निश्चय हो जाता है।^२ अतः यह स्पष्ट होता है कि कर्मफल में जीव की अपनी निजी भूमिका ही प्रमुख रूप से उत्तरदायी है। जैनदर्शन न केवल कर्मफल-नियन्ता ईश्वर का विरोध करता है बल्कि इसके सम्बन्ध में पुष्ट एवं प्रामाणिक तर्क भी प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर सामान्य व्यक्ति को यह बोध हो जाय कि कर्मफल ईश्वराधीन नहीं है। इस सम्बन्ध में निम्न तर्क प्रस्तुत किये गये हैं :^३

१. यदि व्यक्ति ईश्वर प्रेरित कर्मफल को प्राप्त होता है तो संसार में घटित होने वाले सम्पूर्ण अशुभ कर्मों का दोषी कोई व्यक्ति विशेष नहीं हो सकता इसका दोषी भी ईश्वर होना चाहिये क्योंकि उक्त समस्त व्यापार उसकी प्रेरणा से होता है।

२. जैन आचार्यों का दूसरा तर्क यह है कि कोई शासक यह जानकर कि किसी विशेष स्थान पर कोई अन्याय या अत्याचार होने वाला है, उसे रोकने का प्रबन्ध करता है जिससे कोई दुष्कृत्य न होने पाये। जब साधारण बुद्धि रखने वाला शासक भी असत् कर्म होने के पूर्व उसे रोकने की व्यवस्था करता है तो ईश्वर तो मनुष्य की तुलना में सर्वज्ञ है वह संसारी जीवों को पाप कर्म करने से पहले

१. कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवन्ति जदि सब्बे ।

कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा क्हं कया ते ॥

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवन्ति जदि सब्बे ।

कम्मं च ण दिति तुहं कदोसि क्हं दुक्खिदो तेहि ॥

समयसार, गाथा २५४, २५५-

२. देखें जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-१, पृ० ४४४।

३. सुरेशमुनि, कर्मवाद : एक अध्ययन, पृ० ६९-७३।

ही उन्हें क्यों नहीं रोक देता ? पहले तो उन्हें खुलकर पाप कर्म करने की छूट देना और बाद में उस पापकर्म का दुःखद फल देना उसकी कौन-सी दयालुता एवं न्यायशीलता है ?

३. चूँकि ईश्वर हमें यह बताता नहीं है कि वह अमुक कर्मों के कारण अमुक प्रकार की सजा दे रहा है जबकि एक साधारण न्यायाधीश भी दण्ड देते समय यह बताता है कि तुम्हें अमुक कर्म के लिए यह दण्ड दिया जा रहा है। इसलिए ईश्वर कर्मफल का नियामक सिद्ध नहीं होता।

कर्म के स्वतः फल देने के सिद्धान्त के विरोध में न्याय दर्शन यह प्रश्न उपस्थित करता है कि कर्म तो जड़ है। जड़ कर्मों में सुख या दुःख रूप फल देने का ज्ञान एवं शक्ति कैसे हो सकती है ? जैनदर्शन में इस प्रश्न का समाधान भी युक्तिपूर्वक किया गया है।

जैनदर्शन भी कर्म की जड़ता को स्वीकार करता है किन्तु यह बताता है कि जड़ता के कारण उसे फल प्रदान करने में अक्षम मानना न्यायसंगत नहीं है। जड़ कर्म अपना फल कैसे प्रदान करते हैं इसे स्पष्ट करते हुए कर्म ग्रन्थ में कहा गया है कि “जीव” के संयोग से कर्म में एक ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वह नियत समय पर अच्छे-बुरे विपाकों को प्रकट करता ही है, जैसे—मद्य या दूध पीने के बाद यह आवश्यक नहीं होता कि उसका फल देने के लिए कोई दूसरा नियामक शक्तिमान हो, उसी तरह जीव के प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक परिस्पन्दन के साथ जो कर्मपरमाणु जीवात्मा में आकृष्ट होते हैं और राग-द्वेष का निमित्त पाकर उससे बँध जाते हैं। उन कर्मपरमाणुओं में भी मद्य एवं दूध की तरह अच्छा या बुरा फल प्रदान करने की शक्ति विद्यमान रहती है।^१ इससे यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार मद्य या दूध चेतन के सम्पर्क में जाने पर अपना प्रभाव दिखाते हैं, वैसे ही कर्मपरमाणु भी आत्मा के सम्पर्क से फल देने में स्वतः सक्षम हो जाते हैं। जड़ कर्म-परमाणुओं में शुभ अथवा अशुभ रूप में फल प्रदान करने की शक्ति उसी प्रकार अव्यक्त रूप में रहती है जिस प्रकार मद्य में नशा देने की शक्ति रहती है। मद्य एवं दूध के समान ही जड़ कर्मों की फल प्रदान करने की

१. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, हिन्दी अनुवादक पण्डित सुखलाल जी, प्रस्तावना, पृ० २९।

२. पञ्चम कर्मग्रन्थ, पृ० १५।

शक्ति भी आत्मचेतना के सान्निध्य एवं सम्पर्क से ही प्रकाशित होती है। इसको और स्पष्ट करते हुए षड्दर्शनसमुच्चय में कहा गया है कि “जीव कर्मों के संसर्ग से नीचे नरक में, ऊपर स्वर्ग में, तथा तिरछे मध्य लोक में गमन करते हैं यह उनकी कर्मजन्य गति है।^१ उत्तराध्ययन सूत्र में भी प्रमादयुक्त जीव को अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण संसार में परिभ्रमण करते हुए प्रस्तुत किया गया है तथा व्यक्ति को प्रमाद न करने का उपदेश दिया गया है।^२ समयसार में एक दृष्टान्त द्वारा इस तथ्य को बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है, इसमें उल्लेख है कि “इस लोक में जिस प्रकार कोई पुरुष आजोविका के निमित्त राजा की सेवा करता है तथा राजा भी उसके लिए सुख उपजाने वाले भोग्य पदार्थ या उपभोग की वस्तुएँ देता है, उसी प्रकार यह जीवनाम पुरुष सुख के निमित्त कर्म-रूपी राजा की सेवा करता है इसलिए वह कर्म भी उसके लिए सुख उपजाने वाले नानाप्रकारके भोग देता है। यदि वह पुरुष आजोविका के निमित्त राजा की सेवा नहीं करता है तो वह राजा उसके लिए सुख उपजाने वाले नानाप्रकार के भोग नहीं देता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव फलार्थ कर्म नहीं करता है इसलिए कर्म भी उसे फल नहीं देता है।^३

उपर्युक्त तथ्यों से यह तो सिद्ध हो जाता है कि कर्म अपना फल प्रदान करते हैं, किन्तु कर्म जड़ होकर भी अपना फल कैसे देते हैं—यह बात पूर्णतया स्पष्ट नहीं होती है। जड़ कर्म अपना फल किस प्रकार देते

१. अवस्तित्यक् तथोर्ध्व च, जीवानां कर्मणा गतिः ।

षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० २८२, उद्धृत, श्लोक संख्या ७

२. एवं भव-संसारे संसरइ सुहासुहेहि कर्मेहि ।

जीवो पमाय-बहुलो समयं गोयसु ! मा पमायए ॥

उत्तराध्ययन सूत्र, १०/१५

३. पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं ।

तो सोवि देदि राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥

एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं ।

तो सोवि देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥

जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं ।

तो सो ण देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥

एमेव सम्मदिट्ठो विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं ।

तो सो ण देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥

समयसार, गाथा २२४-२२७

हैं इसकी विस्तृत चर्चा जैन दार्शनिक ग्रन्थों में उपलब्ध है। इस सम्बन्ध में हम पहले कुछ चर्चा कर चुके हैं। इस तथ्य को श्रीमद् राजचन्द्र ने बहुत ही सुन्दर उदाहरण से स्पष्ट किया है, वे लिखते हैं ^१—

झेर सुधासमजे नहीं, जीव खाय फल थाय ।

एम शुभाशुभ कर्म नो, भोक्तापणुं जनाय ॥

अर्थात् जैसे विष खाने वाला उसके प्रभाव से बच नहीं सकता, वैसे ही शुभाशुभ कर्मों का कर्ता भी उनके प्रभाव से नहीं बच सकता। जिस प्रकार विष जड़ होकर भी अपना प्रभाव दिखाता है वैसे ही जड़ कर्म भी अपना प्रभाव दिखाते हैं।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि कर्म जड़ होते हुए भी स्वतः फल प्रदान करने में समर्थ है। यद्यपि यह बात भी सत्य है कि कर्म बिना चेतन सत्ता के सहयोग के स्वतः फल प्रदान करने में असमर्थ है, क्योंकि कर्म का बन्ध और विपाक आत्मा के द्वारा ही सम्भव है। कर्मफल का नियामक ईश्वर है या कर्म स्वयं अपना फल देते हैं, इन दोनों विचार-धाराओं में समन्वय करते हुए हरिभद्र कहते हैं कि “जीव तात्त्विक दृष्टि से परमात्मा ही है और वही स्वयं अपने अच्छे-बुरे कर्मों का कर्ता और फल प्रदाता भी है। इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से कर्म नियन्ता के रूप में ईश्वरवाद भी निर्दोष एवं व्यवस्थित सिद्ध हो जाता है।”^२

कर्म एवं उसके संविभाग की समस्या

कर्मफल संविभाग का तात्पर्य है कि एक व्यक्ति द्वारा किये गये कर्म का फल दूसरे व्यक्ति को मिल सकता है। कर्मफल संविभाग के सन्दर्भ में भारतीय चिन्तन में तीन मत हैं। हिन्दू-परम्परा शुभ एवं अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों का फलसंविभाग स्वीकार करती है। महाभारत शान्तिपर्व के अनुसार “चाहे किसी आदमी को उसके पाप कर्मों का फल उस समय मिलता हुआ न दिखाई पड़े तथापि वह उसे ही नहीं अपितु उसके पुत्रों, पौत्रों एवं प्रपौत्रों तक को भोगना पड़ता है।”^३ इसी प्रकार

१. आत्मसिद्धिशास्त्र, ८३ उद्धृत-जैन, बौद्ध एवं गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम भाग, पृ० ४४२ ।

२. शास्त्रवार्तासमुच्चय, २०७ ।

३. पापकर्म कृतं किञ्चिदपि तस्मिन् दृश्यते ।

नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नस्तृषु ॥

महाभारत, शान्तिपर्व, १२९/२१; उद्धृत श्रीमदभगवद्गीतारहस्य, पृ० २७९ ।

मनुस्मृति तथा महाभारत के आदिपर्व में भी कहा गया है कि कर्मफलों को न केवल हमें किन्तु कभी-कभी हमारी नामरूपात्मक देह से उत्पन्न हुए हमारे लड़कों तथा नातियों तक को भोगना पड़ता है।^१ इन उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू विचारणा कर्मफल संविभाग को स्वीकार करती है। बौद्ध दर्शन में भी कर्मफल संविभाग को स्वीकार किया गया है परन्तु हिन्दू परम्परा में जहाँ पुण्य एवं पाप दोनों ही प्रकार के कर्मों के फल संविभाग को स्वीकार किया गया है वहाँ बौद्ध दर्शन केवल कुशल (पुण्य) कर्मों के फल संविभाग को ही स्वीकार करता है। बौद्धों का यह मन्तव्य है कि हम अपने पुण्य में दूसरे को सम्मिलित कर सकते हैं, पर पाप में नहीं।^२

जहाँ तक जैन परम्परा का प्रश्न है—वह कर्मफल संविभाग के सिद्धान्त को अस्वीकार करती है। जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार कर्मों का कर्ता ही उसके फल का उपभोक्ता भी है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि “संसारी जीव अपने और अन्य बन्धु-बान्धवों के लिए कर्म करता है किन्तु उस कर्म के फलोदय के समय कोई भी बन्धु-बान्धव मित्रता नहीं दिखाता है अर्थात् हिस्सेदार नहीं होता है।”^३ इसी ग्रंथ में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि “व्यक्ति के दुःख को न जाति के लोग बाँटा सकते हैं और न मित्र, पुत्र तथा बन्धु ही। वह स्वयं अकेला ही उन प्राप्त दुःखों को भोगता है, क्योंकि कर्म कर्ता के पीछे ही चलता है।”^४

१. (क) यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेतुत्रेषु नप्तृषु ।

न त्वेव तु कृतो धर्मा कतुं भवति निष्फल ॥ मनुस्मृति, ४/१७३

(ख) पुत्रेषु वा नृमृषु वा न चेदात्मनि पश्यति ।

फलत्वेव द्युवं पापं गुरुभुक्तमिवोदरे ॥ महाभारत, आदिपर्व, ८०/३

२. बौद्धधर्म दर्शन, पृ० २७७ ।

३. संसारमावन्न परस्स अट्ठा

साहारणं जं च करेइ कम्मं ।

कम्मस्स ते तस्स उ वेय-काले

न बन्धवा बंधवयं उवेन्ति ॥—उत्तराध्ययनसूत्र, ४/४

४. न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ

न भित्तवग्गा न सुया न बंधवा ।

एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥—वही, १३/२३

इन उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि कृत कर्मों का फल उसके कर्ता को ही भोगना पड़ता है। यदि कर्म करने वाला यह सोचता है कि उसके कर्मों का फलोपभोग कोई और करेगा, तो यह उसकी भूल है। उत्तराध्ययन सूत्र में तो यहाँ तक कहा गया है कि “व्यक्ति के किये हुए कर्मों के फलोपभोग में उसके माता, पिता, पुत्रवधू, भाई, पत्नी तथा औरस पुत्र भी समर्थ नहीं हैं।”^१ भगवती सूत्र में महावीर स्पष्ट कहते हैं कि ‘जीव स्वकृत दुःख-सुख का भोग करता है, परकृत का नहीं।’^२ श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि “गुणों से बँधा हुआ प्राणी फल की कामना से कर्म करता है और वही उस फल का उपभोग करता है। वह विभिन्न योनियों में उत्पन्न होने वाला, तीन गुणों वाला, त्रिमार्गगामी आत्मा अपने कर्मफल रूप शरीरों में विचरता फिरता है।”^३ स्याद्वादमंजरी का यह उद्धरण कि जिस सन्तान अर्थात् चित्तधारा में कर्म की वासना का पुट दिया जाता है उसी को ही कपास की लालिमा के समान फल प्राप्त होता है^४, कर्मफल असंविभाग को पुष्ट करता है। जैनदर्शन में इसके औचित्य को विभिन्न दृष्टिकोणों से सिद्ध किया जा सकता है। हम प्रतिदिन के उदाहरणों में देखते हैं कि कर्म करने के पूर्व ही उसके फल की आकांक्षा व्यक्ति के अन्तस्थल में उद्भूत होने लगती है। फल ही व्यक्ति को कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। ऐसी स्थिति में कर्म करने वाला व्यक्ति

१. माया पिया ण्हुसा भाया

भज्जा पुत्ता य ओरसा ।

नालं ते मम ताणाय

लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥—उत्तराध्ययन सूत्र, ६/३

२. भगवती सूत्र, १/२/६४ ।

३. गुणावन्योतः तः फलं कर्मकर्ता

कृतस्य तस्यैव सचपभोक्ता ।

स विश्वरूपस्त्रिगुणास्त्रिवर्त्मा

प्राणाधिपः सचरित स्वकर्मभिः ॥

श्वेताश्वतर उपनिषद्, ५/७ ।

४. (क) यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना ।

फलम् तत्रैव संघत्ते कापसि रक्तता यथा ॥

स्याद्वादमंजरी, उद्भूत कारिका १८, पृ० १८३ ।

(ख) आत्ममीमांसा, पृ० ५५ ।

यदि उस कर्म का फलोपभोग न करे—यह न्यायोचित नहीं है। यह ऐसी विडम्बना है कि कर्म कोई करे और उसका फल कोई भोगे। यदि यही सत्य मान लिया जाय कि कर्म कोई करेगा तथा उसका फल कोई भोगेगा तो फिर कर्म करने के प्रति व्यक्ति उदासीन रहेगा, क्योंकि फल ही एक ऐसा मापदण्ड है जो कर्म करने के लिए व्यक्ति को प्रेरित करता है। जब कर्म करने पर उसका फल दूसरे को मिलेगा तो फिर शायद ही कोई व्यक्ति कर्म करने के लिए उत्सुक हो। कर्मफल संविभाग को स्वीकार करने पर कर्मों के शुभत्व एवं अशुभत्व के प्रति व्यक्ति का कोई नैतिक उत्तरदायित्व भी नहीं होगा।

उपर्युक्त वर्णन से कर्मफल संविभाग की अवधारणा युक्तिसंगत नहीं जान पड़ती। सम्भवतः इसलिये जैनदर्शन कर्मफल संविभाग को अस्वीकार करता है। आचार्य अमितगति लिखते हैं कि “यदि हम दूसरे के किये हुए कर्मों का फलोपभोग करते हैं, तो फिर अपने किये हुए कर्मों का तो कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता है, वह निरर्थक हो जाता है।”^१

कर्म अपना फल कब देते हैं

यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि किसी कर्म का फल कब मिलता है, तत्काल मिलता है या कालान्तर में मिलता है। सामान्यतया हम देखते हैं कि हिंसा, चोरी आदि जैसे कुकृत्य कर्म के कर्ता प्रायः सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं, जब कि सज्जन, सदाचारी एवं ईमानदार व्यक्ति दुःखमय जीवन व्यतीत करते हैं। प्रश्न यह है कि यदि कर्म वास्तव में फल देता है तो वह कर्म करने वाले व्यक्ति को कर्म करने के तत्काल बाद ही उसके कर्मों के अनुसार फल क्यों नहीं देता? कर्मफल में विलम्ब क्यों होता है? इन प्रश्नों के सन्दर्भ में जैन दार्शनिकों ने गम्भीर चिन्तन किया है।

जैनदर्शन में कर्मों के फल प्रदान करने की एक निश्चित काल मर्यादा मानी गयी है जिसे “अबाधाकाल” कहा गया है इस अबाधाकाल

१. स्वयं कृत कर्म यदात्मना पुरा

फलर्यं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।

परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं

स्वयं कृत कर्म निरर्थकं सदा ॥

—द्वात्रिंशिका, आचार्य अमितगति, उद्धृत—जैनदर्शन : स्वरूप एवं विश्लेषण, पृ० ४५८ ।

के व्यतीत होने पर ही कर्म अपना फल देते हैं, इसके पहले नहीं। इसको स्पष्ट करते हुए पण्डित दलसुख भाई मालवणिया लिखते हैं कि “जैसे चूल्हे पर रखते ही कोई भी चीज पक नहीं जाती, जैसी वस्तु हो उसी के अनुसार उसके पकने में समय लगता है, उसी प्रकार विविध कर्मों का फलकाल भी एक जैसा नहीं है।”^१ इस सन्दर्भ में सुरेश मुनि का मन्तव्य है कि “यदि बन्ध के समय आत्मा के परिणाम मन्द होंगे तो कर्मपरमाणुओं में फल-जनन-शक्ति भी मन्द होगी। यदि कर्म बन्ध के समय जीव के राग-द्वेषादि परिणाम तीव्र होंगे तो फल-जनन-शक्ति भी तीव्र होगी और फल देने की कालावधि भी लम्बी होगी अर्थात् कर्म विलम्ब से फल देंगे।”^२ स्पष्टतः कर्मों के एक निश्चित समय में फल प्रदान करने में जीव के राग-द्वेषादि भावों का विशिष्ट योगदान होता है। यदि व्यक्ति राग, द्वेष आदि भावों की तीव्रता में किसी कर्म का सम्पादन करता है तो ऐसे कर्मों के फल तत्काल न मिलकर लम्बे समय के बाद मिलते हैं, परन्तु यदि कर्म करते समय व्यक्ति में राग-द्वेष रूप भावों की प्रबलता नहीं है तो कर्मों का फल अल्प समय में मिलता है। इससे तो यही फलित होता है कि कर्मफल के शीघ्र या विलम्ब से मिलने का एकमात्र कारण उस कर्म के कर्ता जीव के राग-द्वेष रूप परिणाम हैं, अर्थात् तीव्र पाप कर्मों का फल विलम्ब से मिलता है, जब कि इर्यापथिक कर्म (अनासक्त भाव से सम्पन्न कर्म) का फल तत्काल मिल जाता है। जैनों की मान्यता है कि वीतराग के इर्यापथिक कर्म का प्रथम समय (क्षण) में बन्ध होता है और दूसरे समय (क्षण) में विपाक अर्थात् फलभोग हो जाता है। यद्यपि यह बात हमारी जिज्ञासा को पूर्ण शान्त तो नहीं करती है फिर भी जैनों ने इस समस्या का एक उत्तर देने का अवश्य प्रयत्न किया है—यह माना जा सकता है।

जो लोग यह कहते हैं कि बुरे कर्म करने वाले सुखी दृष्टिगत होते हैं, उनकी मिथ्यावधारणाओं का समाधान करते हुए शास्त्रवार्तासमुच्चय में कहा गया है कि “अशुभानुष्ठान से सुख प्राप्ति वस्तुतः जन्मान्तरीय कर्म का फल है।”^३ जैन मान्यता के अनुसार यदि अशुभकर्म करने के बाद भी

१. आत्ममीमांसा, पण्डित दलसुख मालवणिया, पृ० ११९।

२. कर्मवाद : एक अध्ययन, सुरेश मुनि, पृ० ६३।

३. अशुभादप्यनुष्ठानात् सौख्यप्राप्तिश्च या क्वचित्।

फलं विपाकविरसा सा तथाविधकर्मणः॥

शास्त्रवार्तासमुच्चय, स्तवक २, श्लोक २६, पृ० २४

व्यक्ति शुभफल प्राप्त करता है तो इसका कारण उसके पूर्वजन्म के कर्म हैं। पूर्व जन्मों के पुण्य कर्मों का विपाक अर्थात् फलोपभोग का अवसर होने पर वर्तमान समय में पाप कर्म करने के बाद भी व्यक्ति सुख प्राप्त करता है।

जैनों ने पाप और पुण्य कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर चार विकल्प स्वीकार किये हैं—

१. पुण्यानुबन्धोपुण्य—ऐसा पुण्य जिसका प्रतिफल भी शुभ होता है और जिससे भविष्य में भी पुण्य कर्म का बंध होता है।

२. पुण्यानुबन्धोपाप—ऐसा पुण्य जिसका प्रतिफल अशुभ होता है और जिसके परिणामस्वरूप पापकर्म का बंध होता है।

३. पापानुबन्धोपुण्य—ऐसा पाप कर्म जिसका प्रतिफल शुभ होता है और जिससे प्राणी भविष्य में पुण्य कर्म का बंध करता है।

४. पापानुबन्धोपाप—ऐसा पाप जिसका परिणाम अशुभ होता है और जिससे भविष्य में पाप कर्म का उपार्जन होता है।

शास्त्रवार्तासमुच्चय में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि “यह सही है कि क्षुद्र देवता के प्रोत्थर्थ प्राणिवध जैसे-बलि प्रदान आदि अशुभ कर्मों के करने से कभी-कभी पुत्र आदि का लाभ होने से सुख की प्राप्ति होती है, किन्तु वह सुख प्राप्ति भविष्य में अहित की जनक होती है, अतः वह पूर्वकृत पापानुबन्धो पुण्य का ही फल होता है न कि क्षुद्रदेवतोद्देश्यक प्राणिवध आदि से होने वाले पाप का फल।” शास्त्रवार्तासमुच्चय का उपरोक्त उल्लेख यह स्पष्ट करता है कि पाप करने के बाद पुण्य फल प्राप्त होने से कर्मों के फल-जनन-शक्ति में संशंकित होने की आवश्यकता नहीं है बल्कि यह मानने की जरूरत है कि कर्म कभी न कभी फल देते ही हैं।

जैन विद्वानों ने कर्म और कर्मफल में पाये जाने वाले अन्तराल की तुलना मदिरा पीने और उसका नशा आने में जो अन्तराल होता है, उससे की है, जैसे-किसी मदिरा का नशा जल्दी चढ़ जाता है और किसी का देर में, पर नशा चढ़ता जरूर है। किसी मदिरा का नशा थोड़ी देर तक रहता है और किसी का देर तक रहता है। जिस प्रकार मदिरा पीने एवं उसका नशा चढ़ने में कुछ अन्तराल अवश्य होता है, उसी प्रकार कर्म भी अपना फल तत्काल ही प्रदान नहीं करते, वरन् काल परिपाक होने पर ही

वे अपना फल दिखाते हैं। इस अन्तराल का निर्धारण स्थिति बन्ध करता है। इस धारणा का कि कुछ कर्म फल नहीं देते, जैनदर्शन स्पष्ट खण्डन करता है। इसके अनुसार प्रत्येक जीव को उसके शुभ या अशुभ कर्मों का फल अवश्य मिलता है, हाँ, फल प्राप्ति में विलम्ब हो सकता है, पर कर्म का फल न मिले—यह कदापि सम्भव नहीं है। उत्तराध्ययन^१ सूत्र में कहा गया है कि ‘जैसे सेंध लगाते हुए सन्धि-मुख में पकड़ा गया चोर अपने किये हुए कर्म से छेदा जाता है, वैसे ही जीव अपने कृत कर्मों के कारण लोक तथा परलोक में छेदा जाता है। किये हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं है।’ उत्तराध्ययनसूत्र के इस उल्लेख से यह भी स्पष्ट होता है कि प्रत्येक कर्म अपना फल देता है तथा प्रत्येक व्यक्ति को वह फल भोगना पड़ता है।

जैनदर्शन इस विचार का कि किसी कर्म का फल नहीं भी मिलता है, पूर्णतया निषेध नहीं करता है। सामान्यतया तो वह यह मानता है कि सभी कर्मों का फल विपाक होता है—केवल आध्यात्मिक विकास की उच्चता की स्थिति में कुछ अवस्थाएँ अवश्य ऐसी होती हैं, जहाँ वह कर्म का फल भोग किये बिना उसे समाप्त कर सकता है जिसे पारिभाषिक शब्दावली में प्रदेशोदय, संक्रमण, अपवर्तना और केवली समुद्धात की अवस्थाएँ कहा जाता है।

आत्मा और कर्म से सम्बन्धित समस्यायें

कर्म और आत्मा से सम्बन्धित प्रश्न भी प्रस्तुत सन्दर्भ में विचारणीय है। चूँकि आत्मा कर्मों का कर्ता तथा उसके फलों का भोक्ता है,^२ अतः कर्म एवं आत्मा के सम्बन्धों की समीक्षा भी आवश्यक है।

कर्म और आत्मा के सन्दर्भ में मुख्य रूप से निम्न प्रकार के प्रश्न उपस्थित होते हैं—

(क) कर्म पहले या आत्मा।

(ख) कर्म बलवान या आत्मा।

१. तेणे जहा सन्धि-मुहे गहीए

सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।

एवं पया पेच्च इहं च लोए

कडाण कम्माण न भोक्ख अत्थि ॥

उत्तराध्ययन सूत्र, ४/३

२. अप्पा कत्ता विकत्ता य

दुहाण य सुहाण य ॥

उत्तराध्ययन सूत्र, २०/३७

(ग) यदि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है तो उनसे छुटकारा कैसे हो सकता है ?

(घ) यदि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि नहीं है तो आत्मा बन्धन में कैसे आया ?

इन समस्याओं पर हम क्रमशः दृष्टिपात करेंगे और जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में इनका समाधान भी प्रस्तुत करेंगे ।

इस अवधारणा को स्वीकार करने पर कि कर्म पहले है, उसके बाद आत्मा है, स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि कर्मों का कर्ता आत्मा जब पहले था ही नहीं तो फिर कर्मों को किया किसने ? और कर्म अस्तित्व में कैसे आया ? इसके विपरीत यदि आत्मा को कर्म से पहले स्वीकार करते हैं तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि कर्म पहले अस्तित्व में ही नहीं था तो आत्मा का बन्धन कैसे हुआ ? अर्थात् आत्मा किसी समय मुक्त था और फिर बन्धन में आया । इन प्रश्नों पर जैन ग्रन्थों में गम्भीर दृष्टि से विचार किया गया है । उसमें न तो आत्मा को पहले माना गया है और न कर्म को, अपितु आत्मा और कर्म दोनों को ही अनादि कहा गया है । कर्मग्रन्थ में उल्लेख है कि 'आत्मा का अस्तित्व अनादि कालीन है और कर्मबन्ध होता रहता है ।' आत्मा, कर्म और आत्मा एवं कर्म के सम्बन्ध में पंचाध्यायी में स्पष्ट उल्लेख है कि 'आत्मा भी अनादि तथा कर्म भी अनादि एवं आत्मा तथा कर्म का सम्बन्ध भी अनादि है ।'^१ इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन दर्शन में न तो आत्मा को पहले माना गया है और न तो कर्म को । अपितु आत्मा, कर्म और उनका पारस्परिक सम्बन्ध तीनों को अनादि माना गया है ।

यदि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है तो उसका विच्छेदन किस प्रकार किया जा सकता है ?

आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को अनादि मानने पर पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि जब उनका सम्बन्ध अनादि है तो फिर उसे तोड़ा कैसे जा सकता है ? क्योंकि अनादि सम्बन्ध तो कभी टूट नहीं सकता । ऐसे प्रश्नों पर भी जैन दर्शन में बहुत सूक्ष्मता से विचार किया गया है । षड्दर्शन-

१. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, अनुवादक पण्डित सुखलाल जी, प्रस्तावना, पृ० ४०

२. यथानादिः स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्गलः ।

द्वयोर्बन्धोऽप्यनादिः स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणो ॥

पंचाध्यायी, पण्डित राजमल्ल, २/४५

समुच्चय में कहा गया है कि यद्यपि रागादि दोष (कर्म) अनादि काल से इस आत्मा के साथ हैं फिर भी प्रतिपक्षी विरागी भावनाओं से इसका नाश होता ही है। एक सुन्दर उदाहरण द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जैसे किसी स्त्री में आसक्त कामी व्यक्ति जब स्त्री के शरीर को वास्तविक रूप में मल, मूत्र, मांस, हड्डी, रक्त आदि का एक लोथड़ा समझ लेता है तब उसके राग का स्रोत इतना सूख जाता है कि वह उस स्त्री को क्षणभर भी देखना उचित नहीं समझता, उसी प्रकार विरागी भावनाओं की वृद्धि होने से आत्मा के साथ सम्बन्ध पूर्व रागादि का समूल उच्छेद हो सकता है।^१ “कर्म ग्रन्थ में एक अन्य उदाहरण से इस तथ्य को और स्पष्ट किया गया है—स्वर्ण और मिट्टी का, दूध एवं घी का अनादि सम्बन्ध है तथा जैसे वे प्रयत्न-विशेष से पृथक्-पृथक् होते हुए देखे जाते हैं वैसे ही आत्मा और कर्म के अनादि सम्बन्ध का भी अन्त होता है।”^२ लोकप्रकाशकार ने कनकोपल के उदाहरण से इस तथ्य को और स्पष्ट किया है—जैसे कनकोपल (स्वर्ण और पाषाण) में सोने और पाषाण रूप मल का मिलाप अनादिकालिक है, वैसे ही जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालिक है।^३ जैन आचार्यों ने यह स्पष्ट किया है कि किसी एक कर्म विशेष का आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध नहीं है। पूर्व-बद्ध कर्म स्थिति पूर्ण होने पर आत्मा से पृथक् हो जाते हैं और नवीन कर्म का बन्ध होता रहता है। जैन कर्म सिद्धान्त के निर्जरा और बन्ध क्रमशः पुराने कर्मों के आत्मा से बिछुड़ने एवं नये कर्मों के आत्मा से आबद्ध होने के सूचक हैं। अतः निर्जरा और बन्ध के उल्लेख से भी यह स्पष्ट होता है कि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि होते हुए भी टूट सकता है; क्योंकि यह अनादि सम्बन्ध कर्म परम्परा के रूप में है—कर्म विशेष के रूप में नहीं है—यदि नवीन कर्म-परम्परा रुक जाये तो किसी दिन पूर्व कर्म भी समाप्त हो जायेंगे, क्योंकि कोई भी कर्म सत्तर करोड़ सागरोपम (कालविशेष) से अधिक का बन्ध नहीं करता है। “आवश्यकटोका” में आत्मा और कर्म के अनादि सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जैसे कोई व्यक्ति शरीर में तेल लगाकर धूल में लोटे तो वह धूल उसके

१. षड्दर्शनसमुच्चय, कारिका ५२ की टीका, पृ० २७९।

२. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, व्याख्याकार, मरुधर केसरी, प्रस्तावना, पृ० ४२।

३. द्वयोरप्यनादिसम्बन्धः कनकोपलः सन्निभः।

सर्वांग शरीर में चिपक जाती है उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि से जब संसारावस्थापन्न जीव के आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन (हलन-चलन) होता है उस समय अनन्त कर्मयोग्य पुद्गल परमाणुओं का आत्म प्रदेशों के साथ सम्बन्ध हो जाता है।^१ “किन्तु यह सम्बन्ध अनादि काल तक नहीं रहता, जिस प्रकार प्रयत्नपूर्वक शरीर शुद्ध किया जा सकता है उसी प्रकार आत्मा भी शुद्ध किया जा सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा गया है कि संयम एवं तप के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों को क्षीण कर अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।”^२ उत्तराध्ययन सूत्र के उल्लेख से भी यही फलित होता है कि संयम एवं तप से कर्म और आत्मा के अनादि सम्बन्ध को तोड़ा जा सकता है। आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि नहीं मानने पर भी अनेक कठिनाइयाँ आती हैं—यथा यदि आत्मा किसी समय कर्म से रहित था तो वह बन्धन में कैसे आया ? पुनः यदि शुद्ध आत्मा बन्धन में आ सकता है, तो फिर मुक्ति का कोई अर्थ ही नहीं रहेगा; क्योंकि पुनः बन्धन में आने की सम्भावना बनी रहेगी। इसका स्पष्टीकरण करते हुए कर्मग्रन्थ में कहा गया है कि ‘कर्म का प्रवाह कब से चला आ रहा है, इसे कोई बतला नहीं सकता, भविष्यत् के समान भूतकाल भी अनन्त है इसलिए कर्म के प्रवाह को अनादि कहे बिना कोई दूसरी गति ही नहीं है।’^३

जैन दर्शन में कर्म और आत्मा के सम्बन्ध को अनादि कहने का आशय यह है कि कर्म का प्रवाह अर्थात् कर्म और आत्मा के सम्बन्ध की परम्परा अनादि है, न कि किसी कर्म विशेष का आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध है। कर्म-विशेष का सम्बन्ध सादि और सान्त होता है, वह किसी समय विशेष में बँधता है और अपनी कालावधि पूर्ण होने पर आत्मा से अलग हो जाता है। इस प्रकार आत्मा से नये कर्मों के सम्बद्ध होने एवं

१. स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथागात्रम्।

रागद्वेषकिल्बन्स्य कर्मबन्धा भवत्येनम् ॥

आवश्यक टीका, उद्धृत कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० ४।

२. खवित्ता पुत्रकम्माइं संजमेण तवेण य।

जयघोस-विजयघोसा, सिद्धि पत्ता अणुत्तरं ॥

उत्तराध्ययन, २५/४५।

३. कर्मविपाक, प्रथम भाग, पं० सुखलाल जी प्रस्तावना, पृ० २६।

१९६ : जैन कर्म सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

पुराने कर्मों के बिछुड़ने की परम्परा चलती रहती है।

कर्म बलवान या आत्मा

जैन दर्शन में कर्म और आत्मा का समान महत्त्व प्रतिपादित किया गया है, परन्तु इन दोनों में किसे प्रमुखता प्रदान की जाये यहाँ यह विचारणीय है। यह निश्चित है कि कर्म ही शुभाशुभ प्रवृत्तियों का कारण है, उसी के परिणामस्वरूप हमारी अन्तरात्मा में विकारों का आगमन होता है। इसके अतिरिक्त जगत् वैविध्य का मूल कारण भी वही है, पर इतने मात्र से कर्म को आत्मा से बलवान नहीं कहा जा सकता; क्योंकि कर्म के व्यापकत्व का मूल कारण आत्मा है, जब आत्मा अपने स्वतन्त्र कर्तृत्व से कर्म करेगा ही नहीं तो फिर कर्म व्यापक रूप कैसे प्राप्त कर सकेगा ? जैन ग्रन्थों में कर्म की अपेक्षा आत्मा को ही ज्यादा बलवान माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि “आत्मा ही वैतरणी नदी है, कूटशाल्मली वृक्ष है, कामदुग्धा धेनु है और नन्दन वन है।”^१ आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्त्ता है, भोक्ता है, सत्प्रवृत्तियों में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है एवं दुष्प्रवृत्तियों में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है।^२ उत्तराध्ययनसूत्र के इस उल्लेख से यह सूचित होता है कि आत्मा ही बलवान है। उपाध्याय अमर मुनि लिखते हैं कि “जैसे सूर्य स्वयं मेघों को उत्पन्न करता है उनसे आच्छादित हो जाता है और फिर वही सूर्य अपनी ज्योति से उन्हें छिन्न-भिन्न कर डालता है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं कर्मों को उत्पन्न करता है उनसे आच्छादित हो जाता है और फिर स्वयं ही उन कर्मों को निर्जरा के द्वारा छिन्न-भिन्न कर डालता है।”^३ एक

-
१. अप्पा णई वेयरणी,
अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू,
अप्पा मे णंदणं वणं ॥

उत्तराध्ययन सूत्र, २०/३६

२. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।

अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय-सुपट्ठिओ ॥

वही, २०/३७ ।

३. समाज और संस्कृति, पृ० १६८ व जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग—१, पृ० २९० से उद्धृत ।

अन्य स्थल पर पुनः वे लिखते हैं कि जैसे किसी पर्वत गुफा में हजारों वर्षों से परिव्याप्त अन्धकार को दीपक की एक छोटी-सी लौ क्षणमात्र में नष्ट कर डालती है उसी प्रकार आत्म-जागरण की ज्योति प्रगट होते ही अनन्त-अनन्त जन्म के कर्म भी क्षणमात्र में नष्ट हो सकते हैं।^१ देवेन्द्र मुनि लिखते हैं कि “मात्र बहिर्दृष्टि से कर्म बलवान् प्रतीत होते हैं पर अन्तर्दृष्टि से आत्मा ही बलवान् है; क्योंकि कर्मों का कर्ता आत्मा है। वह मकड़ी की तरह कर्मों का जाल बिछाकर उसमें उलझता है, वह चाहे तो कर्मों को काट भी सकता है।^२ यह अवश्य है कि कर्म अपनी प्रबलता एवं प्रचण्डता से आत्मा के मूल स्वरूप को कुछ समय के लिए भले ही आच्छादित कर दे पर उसमें अन्तर्निहित ज्योति को एकदम बुझा नहीं सकता। दूसरे शब्दों में कर्म के प्रभाव से कतिपय क्षणों हेतु आत्म ज्योति कुण्ठित या दबी रह सकती है पर आत्मा की आध्यात्मिक शक्ति के प्रकटन के फलस्वरूप कर्म अपने आप छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मा ही कर्मों का बन्धन करती है और आत्मा ही उन बन्धनों को तोड़ती है अतः आत्मा कर्म से बलवान् है।

कर्म की मूर्तता का प्रश्न

कर्म की मूर्तता को लेकर भी कई प्रकार के प्रश्न उपस्थित होते हैं—यथा-कर्म का अस्तित्व है या नहीं। इस सन्दर्भ में दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि कर्म मूर्त है तो फिर उस मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा के साथ सम्बन्ध कैसे होता है? और मूर्त अमूर्त को प्रभावित कैसे करता है?

जैन ग्रन्थों में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, युक्त पदार्थ को मूर्त कहा गया है। जैनदर्शन के धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल और जीव इन छः द्रव्यों में, पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुण होते हैं। चूँकि जैन दर्शन में कर्म को पुद्गलजन्य माना गया है अतः यह स्पष्ट है कि कर्म है। मूर्तता को स्पष्ट करते हुए पञ्चास्तिकाय में कहा गया है कि इन्द्रिय, विषय, स्पर्श आदि मूर्त हैं, उनको भोगने वाली इन्द्रियाँ मूर्त हैं, उनसे होने वाले सुख-दुःख मूर्त हैं इसलिए उनके कारणभूत

१. समाज और संस्कृति, पृ० १७१।

२. जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण, पृ० ४५२।

कर्म भी मूर्त हैं।^१ कर्म की मूर्तता को तर्कों से स्पष्ट करते हुए डॉ० सागरमल जैन का मन्तव्य है कि कर्म मूर्त है क्योंकि उसके सम्बन्ध से दुःख-सुखादि का ज्ञान होता है, जैसे भोजन से, कर्म मूर्त है क्योंकि उसके सम्बन्ध से वेदना होती है जैसे अग्नि से। यदि कर्म अमूर्त होता तो उसके कारण सुख-दुःख की वेदना नहीं होती।^२ उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन में कर्म को मूर्त माना गया है।

मूर्त का अमूर्त पर प्रभाव कैसे ?

कर्म को मूर्त मान लेने पर पुनः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अमूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म का प्रभाव कैसे होता है ? जिस प्रकार वायु और अग्नि का अमूर्त आकाश पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता उसी प्रकार अमूर्त आत्मा पर भी मूर्त कर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये।^३ किन्तु यह तर्क मूर्त के प्रभाव को अमूर्त पर न पड़ने में बहुत पुष्ट नहीं लगता। इस सन्दर्भ में समयसार में कहा गया है कि 'आत्मा यद्यपि अनादि, अनन्त, चैतन्यस्वरूप अमूर्तत्व आदि गुणों का पिण्ड है तथापि अनादि काल से ही उसके साथ पौद्गलिक मूर्त कर्मों का सम्बन्ध हो रहा है। यहाँ यह तर्क नहीं करना चाहिये कि अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म के साथ सम्बन्ध कैसे हो गया ? क्योंकि जिस प्रकार अमूर्त ज्ञान में मूर्त रूपादि से युक्त पदार्थ भासमान होते हैं उसी प्रकार अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म के साथ एकक्षेत्रावगाह रूप बन्ध होने में कोई बाधा नहीं है।'^४

यहाँ स्वाभाविक रूप से पुनः यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि अमूर्त आत्मा में रूपादि गुण मात्र भासमान ही होते हैं, कुछ रूपादि का उसमें वास्तविक रूप से प्रवेश नहीं होता, जैसे—दर्पण में मयूर का प्रतिबिम्ब मात्र दृष्टिगत होता है परन्तु दर्पण में वास्तविक रूप में मयूर तो होता नहीं है। अतः अमूर्त आत्मा एवं मूर्त कर्म के परस्पर सम्बन्ध के

१. जस्स कम्मस्स फलं विसयं फासेहि भुज्जे णियदं ।

जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ॥—पंचास्तिकाय, १३३

२. जैन बौद्ध एवं गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम भाग, पृ० ३१३

३. वही, पृ० ३१३

४. समयसार, सम्पादक पन्नालाल, पृ० ४८

सन्दर्भ में उक्त उदाहरण बहुत पुष्ट नहीं लगता। इस सन्दर्भ में भी समयसार का कथन युक्तिसंगत प्रतीत होता है जिसके अनुसार आत्मा का मूर्तिक पुद्गल कर्मों के साथ तादात्म्य नहीं हो जाता मात्र एकक्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध रहता है।^१ इसीप्रकार तत्त्वार्थवार्तिक में मूर्त कर्म तथा अमूर्त आत्मा के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आत्मा कर्मबद्ध होने से कथञ्चित् मूर्तिक है तथा अपने ज्ञानादि स्वभाव को न छोड़ने के कारण अमूर्तिक भी है। जिसप्रकार मदिरा पीकर मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है उसी प्रकार कर्मोदय से आत्मा के स्वाभाविक ज्ञानादि गुण अभिभूत हो जाते हैं।^२ इसी तथ्य को समर्थन प्रदान करते हुए षड्दर्शनसमुच्चय में भी कहा गया है कि 'यद्यपि आत्मा स्वभाव से अमूर्त है किन्तु यह संसारी जीव अनादिकाल से आठ प्रकार के पुद्गल कर्मों से बँधा हुआ है। इसके चारों ओर कर्म पुद्गलों का एक भारी पिण्ड जिसे कार्मण शरीर कहते हैं, लगा हुआ है और इस कार्मण शरीर के सदा साथ रहने के कारण स्वभाव से अमूर्त आत्मा भी मूर्त हो रहा है।'^३

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा अमूर्त होते हुए भी कर्म के सम्पर्क से कथञ्चित् मूर्त भी है। इस दृष्टि से कर्म और आत्मा का परस्पर सम्बन्ध सम्भव है, क्योंकि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध न मानने पर कर्मसिद्धान्त के मूल पर भी कुठाराघात होगा। मूर्त कर्म और अमूर्त आत्मा का पारस्परिक सम्बन्ध, जैन कर्मसिद्धान्त की एक पूर्व मान्यता है उसे स्वीकार करके चलना उसके लिए अपरिहार्य है।



१. समयसार, पृ० ४८

२. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ३४७

३. षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० २२९

जैन कर्मसिद्धान्त और अन्य कर्मसिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा

कर्मसिद्धान्त जैन दर्शन की आधारभित्ति है; क्योंकि इसके आधार पर सांसारिक जीवों की विविध अवस्थाओं की सम्यक् व्याख्या की जाती है। कर्मसिद्धान्त के विभिन्न पक्षों जैसे कर्म का स्वरूप, कर्मबन्धन, कर्म-विपाक, कर्मफल संविभाग, कर्मक्षय इत्यादि का जितना सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सुव्यवस्थित एवं मनोवैज्ञानिक विवरण जैन दर्शन में मिलता है उतना अन्य दर्शनों में नहीं है। कर्मसिद्धान्त के विवेचन में जैन दर्शन की अपनी एक मौलिक विशिष्टता है। यद्यपि अन्य दर्शनों में भी कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित विवरण दृष्टिगत होते हैं पर ये विवरण जैन दर्शन के कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी विवरणों की तुलना में अपूर्ण से लगते हैं। हम इस अध्याय में अन्य दर्शनों में प्राप्त होने वाले कर्मसिद्धान्त के विभिन्न पक्षों को लेकर जैन दर्शन के कर्मसिद्धान्त से उनकी तुलना करेंगे।

जैन कर्मसिद्धान्त का अन्य परम्पराओं के कर्मसिद्धान्तों से कितनी निकटता या दूरी है, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। वैसे जैन दार्शनिकों ने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में पूर्व पक्ष के रूप में दूसरे दर्शनों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके उनकी समालोचना करते हुए अपने मत की स्थापना की है। किन्तु कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी स्थापनाओं में इस प्रकार के प्रयत्न तत्त्वार्थसूत्र की कुछ टोकाओं को छोड़कर अन्यत्र अत्यन्त अल्प ही हैं। कर्मसिद्धान्त के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से इस प्रकार का सर्वप्रथम प्रयत्न पण्डित सुखलाल जी के द्वारा किया गया है। उन्होंने कर्मग्रन्थों की भूमिका में एवं कुछ स्वतन्त्र लेखनों में अन्य परम्पराओं की कर्म सम्बन्धी अवधारणाओं का उल्लेख करते हुए यथास्थान जैन अवधारणाओं से उनकी तुलना की है। इसी दिशा में अगला चरण डॉ० सागरमल जैन का है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' (प्रथम खण्ड) एवं 'जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन' नामक पुस्तकों में जैन कर्मसिद्धान्त के साथ अन्य

दर्शनों के कर्मसिद्धान्तों की अवधारणाओं का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत अध्याय में हमने यथावसर इन दोनों विद्वानों के विचारों का लाभ उठाया है।

हिन्दू परम्परा एवं जैन परम्परा के कर्म शब्द के अर्थ की पारस्परिक तुलना

हिन्दू परम्परा में कर्म के अनेक रूप परिलक्षित होते हैं। उपनिषदों के पूर्व के ग्रन्थों में कर्म का तात्पर्य मात्र यज्ञ-यागादि, नित्यनैमित्तिक क्रियाओं से माना गया है। जैन दर्शन भी कर्म के क्रियापरक अर्थ को अंगीकार करता है पर इसका क्रियापरक अर्थ यज्ञ-यागादि क्रियाओं से सम्बन्धित नहीं है। जैन दर्शन में 'कर्म' शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उसके अनुसार संसारी जीव द्वारा राग-द्वेष युक्त होकर क्रिया करने पर उसके आत्म-प्रदेश में एक विशेष प्रकार का स्पन्दन होता है, फलस्वरूप वह सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं को आकर्षित करता है, ये पुद्गल परमाणु आत्मा के साथ अग्नि-लौह पिण्ड को भाँति परस्पर एकमेक हो जाते हैं और आत्मा की अनन्त शक्ति को आच्छादित कर देते हैं। जैन दर्शन में जीव के ऐसे व्यापार को कर्म कहा गया है। इस प्रकार वैदिक परम्परा एवं जैन परम्परा में कर्म के अर्थ में व्यापक अन्तर है। जहाँ वैदिक परम्परा में कर्म को यज्ञ-यागादि क्रियाओं तक सीमित रखा गया है, एवं किसी विशिष्ट आकांक्षा की पूर्ति हेतु कर्मों को करने का विधान है, वहाँ जैन दर्शन में कर्म शब्द का प्रयोग बन्धक तत्त्व के रूप में व्यापक अर्थ में हुआ है। इसमें कर्म को द्रव्य एवं भाव दो वर्गों में विभक्त किया गया है जो कर्म के अर्थ के व्यापकत्व के स्पष्ट प्रमाण हैं।

गीता हिन्दू परम्परा का एक बहुमान्य एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित सामग्री मिलती ही है, साथ ही उनका जैन कर्मसिद्धान्त के मौलिक स्वरूप से साम्य भी है। गीता में जीव की समस्त क्रियाओं को कर्म कहा गया है।^१ तिलक जी गीता रहस्य में लिखते हैं कि जीव द्वारा प्रतिक्षण होने वाले क्रिया-कलाप तो कर्म हैं ही, साथ ही जिन व्यापारों को न करने के मानसिक संकल्प जीव में प्रादुर्भूत होते हैं, जीव के वे मानसिक संकल्प भी कर्म हो हैं।^२ इस प्रकार यह स्पष्ट होता

१. (क) गीता, ५/८-९

(ख) गीता रहस्य, पृ० ५८

२. कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्ग त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥—गीता ५/११

है कि गीता में कर्म शब्द का प्रयोग बहुत ही विस्तृत अर्थ में हुआ है। इसमें जीव के हर सम्भव क्रिया-व्यापार को कर्म कहा गया है यहाँ तक कि जन्म लेने एवं मरने की क्रिया को भी कर्म का नाम दिया गया है। गीता के समान जैन दर्शन में भी जीव के मानसिक, शारीरिक एवं वाचिक क्रियाओं को कर्म का नाम दिया गया है, पर मुख्य अन्तर यह है कि जैन कर्मसिद्धान्त में इन व्यापारों के मूल में जीव में प्रत्युत्पन्न होने वाले राग एवं द्वेष रूप भावों को समाविष्ट किया गया है। दूसरे शब्दों में जैन दर्शन में केवल उन्हीं क्रियाओं को कर्म कहा गया है जो जीव के राग एवं द्वेष रूप भावों के परिणामस्वरूप होते हैं। श्रीचन्द मुराना इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं 'राग-द्वेष से संयुक्त इस संसारी जीव के अन्दर प्रतिसमय परिस्पन्दन रूप जो क्रिया होती है, उसको मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँच रूपों में वर्गीकृत कर सकते हैं। इनके निमित्त से आत्मा के साथ एक प्रकार का अचेतन द्रव्य आता है और वह राग-द्वेष का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बँध जाता है और समय पाकर वही द्रव्य सुख एवं दुःख रूप फल देने लगता है, उसे कर्म कहते हैं।'^१ इससे यह फलित होता है कि जैन दर्शन में कर्म की बन्धक शक्ति में राग एवं द्वेषरूप भावों की प्रधानता है। इसी प्रकार हिन्दू परम्परा के मूल ग्रन्थ गीता में भी कर्म की बन्धक शक्ति आसक्ति मानो गयी है।

हिन्दू परम्परा एवं जैन परम्परा के कर्मबन्धन के स्वरूप की पारस्परिक तुलना

बन्धन कर्मसिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण प्रत्यय है और सभी भारतीय दर्शनों में बन्धन को स्वीकार किया गया है। जहाँ तक हिन्दू परम्परा में बन्धन का प्रश्न है, उसमें अज्ञानी एवं आसक्त जीव के प्रत्येक व्यापार को चाहे वे शुभ हों या अशुभ हों, बन्धन कारक बताया गया है। गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि 'हे अर्जुन तू जो भी कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है अथवा तप करता है, वह सभी शुभाशुभ कर्म मुझे अर्पित कर दे अर्थात् उनके प्रति किसी प्रकार की आसक्ति या कर्तृत्व भाव मत रख, इस प्रकार संन्यास योग से मुक्त होने तू पर शुभाशुभ फल देने वाले कर्मबन्धन से छूट जायेगा और मुझे प्राप्त हो जायेगा।'^२

१. प्रस्तावना, कर्मविपाक, प्रथम कर्मग्रन्थ (व्याख्याकार मरुधर केसरी)

२. गीता, १/२७-२८

उक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि न केवल अशुभ बल्कि शुभ कर्म भी व्यक्ति को बन्धन में डालता है। डॉ० राधाकृष्णन् भी गीता के परिचयात्मक निबन्ध में इसी धारणा का समर्थन करते हैं, वे कहते हैं, “चाहे हम अच्छी इच्छाओं के बन्धन में बँधे हों या बुरी इच्छाओं के बन्धन तो दोनों ही हैं, इससे क्या अन्तर पड़ता है कि जिन जंजीरों में बँधे हैं वे सोने की हैं या लोहे की।” इन विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू परम्परा में सभी प्रकार के कर्मों को तो बन्धनकारक माना गया है, साथ ही कर्मों के बन्धन में जीव के आन्तरिक मनोविकारों को भी महत्वपूर्ण बताया गया है। जैन परम्परा एवं हिन्दू परम्परा में मुख्य अन्तर यह है कि जैन परम्परा में बन्धन को वस्तुगत आधार दिया गया है जबकि हिन्दू परम्परा में ऐसी बात नहीं है, परन्तु दोनों में कर्मबन्धन का मूल रूप एक ही है। बन्धन के मूल कारणों के सम्बन्ध में दोनों दर्शनों में समानता है। जैन दर्शन में बन्धन के पाँच कारण बताये गये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।^१ कर्मबन्धन के कारण के रूप में मिथ्यात्व का उल्लेख हिन्दू परम्परा के गीता में भी मिलता है। इस ग्रन्थ में भी सत्ता के वास्तविक स्वरूप का अज्ञान कर्मबन्धन का कारण माना गया है। जैन दर्शन के अविरति सम्बन्धी बन्धन कारक की तुलना गीता के अशुचिव्रत से की जा सकती है।^२ जैन दर्शन के बन्धन कारक प्रमाद का उल्लेख गीता में भी मिलता है। इसमें तमोगुण से प्रत्युत्पन्न प्रमाद को अधोगति का कारण माना गया है।^३ जैन दर्शन सम्मत बन्धन-कारक कषाय का उल्लेख हिन्दू परम्परा में तो नहीं है, पर उनके चार भेद—क्रोध, मान, माया एवं लोभ का उल्लेख गीता में भी मिलता है और उन्हें आसुरी सम्पदा कहा गया है।^४ इसी प्रकार बन्धन-कारक योग अर्थात् जीव के कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापार को स्पष्ट करते हुए गीता में कहा गया है कि समस्त शुभाशुभ कर्मों का बन्धन मन, वाणी और शरीर के निमित्त से होता है।^५

१. भगवद्गीता, राधाकृष्णन्, पृ० ५६

२. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।

तत्त्वार्थसूत्र, ८/१.

३. गीता, १६/१०

देखें—जैनकर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ६५।

४. वही, १४/१३, १४/१७

५. वही, १६/४

६. वही, १८/१५

हिन्दू परम्परा एवं जैन परम्परा के कर्मबन्धन के स्वरूप एवं उनके कारणों के विश्लेषण से यह फलित होता है कि दोनों धर्मों के बन्धन कारकों में काफी समानता है। जैन दर्शन में कर्मबन्धन के जो प्रमुख कारण बताये गये हैं, हिन्दू परम्परा में भी लगभग उन्हीं बन्धन कारकों का उल्लेख है। नामों में कुछ भिन्नता अवश्य है पर उससे कोई अर्थ-परिवर्तन अभिसूचित नहीं होता।

हिन्दू परम्परा एवं जैन परम्परा के कर्मबन्धन से छूटने सम्बन्धी दृष्टिकोणों की पारस्परिक तुलना

जहाँ तक कर्मों के बन्धन में पड़ने की बात है, हिन्दू एवं जैन दर्शन दोनों में काफी समानता है। उपनिषदों में कर्मबन्धन से छूटने हेतु ज्ञान को महत्त्वपूर्ण बताया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि “जो यह जानता है कि मैं हो ब्रह्म हूँ वही अमृत ब्रह्म होता है।”^१ छान्दोग्य उपनिषद् में यह उल्लेख है “जिस प्रकार कमल-पत्र में पानी लग नहीं सकता, उसी प्रकार जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया उसे कर्म दूषित नहीं कर सकते।”^२ बृहदारण्यक उपनिषद् में ही एक अन्य स्थल पर यह उल्लेख है कि “जिसे यह ज्ञात हो चुका है कि सब कुछ आत्ममय है उसे पाप नहीं लग सकता।”^३ श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह कहा गया है कि “जिसे परमेश्वर का ज्ञान हो जाता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।”^४ गीता में भी कहा गया है कि ज्ञान रूप अग्नि से सब कर्म भस्म हो जाते हैं।^५ महाभारत का उद्धरण देते हुए तिलक जी भी अपने ‘गीतारहस्य’ में लिखते हैं कि जैसे भूना हुआ बीज उग नहीं सकता, वैसे ही ज्ञान से जब कर्म दग्ध हो जाते हैं तब वे आत्मा को पुनः प्राप्त नहीं होते।”^६

इन विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू परम्परा में कर्मबन्धन से छूटने हेतु मुख्य रूप से ज्ञान को ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। यहाँ ज्ञान

१. बृहदारण्यक उपनिषद् १/४/१०

२. छान्दोग्य उपनिषद्, १/१४/३

३. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४/४/२३

४. ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। श्वेताश्वतर उपनिषद्, ५/१९, ६/१३

५. गीता, ४/३७

६. (क) महाभारत, वनपर्व, १९९/१०९

(ख) गीतारहस्य, पृ० २८९।

से अभिप्राय पुस्तकीय ज्ञान से नहीं है, अपितु आत्मज्ञान से है। व्यक्ति जिस भावना से उत्प्रेरित होकर कर्म करता है, आत्मज्ञान के अभाव में उसकी वह भावना कलुषित होती है और व्यक्ति को अपने अज्ञान का ज्ञान नहीं रहता। सच्चा ज्ञान वही है जिसमें व्यक्ति आत्म-निग्रही एवं समबुद्धि वाला हो। महाभारत में इससे थोड़ा और आगे बढ़कर कहा गया है कि कर्म, मन और वाणी से किसी की हिंसा न करने वाले वीतरागी पुरुष कर्म बन्धन से स्वतः मुक्त हो जाते हैं।^१ परन्तु जैनदर्शन में कर्मबन्धन से छूटने हेतु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र्य तीनों को आवश्यक माना गया है।^२ उत्तराध्ययन सूत्र में इन तीनों के साथ सम्यक् तप को जोड़कर चतुर्विध मोक्ष मार्ग का विधान है।^३ इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जैनदर्शन ज्ञान को ही नहीं अपितु श्रद्धा एवं आचरण को भी प्रमुखता प्रदान करता है। वैसे प्राचीनतम अंग आचारांग में कर्म-बन्धन से छूटने हेतु ज्ञान का ही उल्लेख मिलता है। इस सूत्र के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि मुनि ज्ञान को प्राप्त कर कर्म-शरीर को प्रकम्पित करे।^४ यहाँ शरीर को प्रकम्पित करने से अभिप्राय कर्म बन्धनों को शिथिल करने से है।

यदि वास्तव में देखा जाय तो फलित होता है कि अकेले ज्ञान में ही सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्चारित्र्य अप्रत्यक्ष रूप में निहित है; क्योंकि बिना सम्यग्दर्शन के सम्यग्ज्ञान का होना असम्भव है और सम्यग्ज्ञान के होने पर ही सम्यक्चारित्र्य की सम्भावना बन सकती है। संक्षेप में कर्मबन्धन से छूटने हेतु ज्ञान का ही अधिक महत्त्व है। क्योंकि जब तक हम अपने आत्मीय स्वरूप का सम्यग्ज्ञान नहीं प्राप्त करेंगे, लोभ, अहंकार एवं तृष्णा जनित भावों से उत्प्रेरित होकर कर्म करेंगे, निश्चय ही उक्त प्रकार का कर्म बन्धन कारक होगा। कर्म स्वतः बन्धन का कारण नहीं होता, बल्कि जिन आवेगों में आकर जिन भावों से उत्प्रेरित होकर हम कर्म करते हैं, वे भाव हमें बन्धन में डालते हैं। इसलिए कर्म बन्धन से छूटने हेतु आत्म-

१. वीतरागा विमुच्यन्ते, पुरुषाः कर्मबन्धनैः ।

कर्मणा मनसा वाचा ये न हिसन्ति किंचन ॥

महाभारत, अनुशासनपर्व, १४४/७

२. तत्त्वार्थ सूत्र, १/१

३. उत्तराध्ययन, २८/२

४. आचारांग, १/१/४

ज्ञान को जगाना होगा एवं कर्मों से आसक्ति भाव को हटाना होगा, तभी हम वास्तव में कर्मपाश से छूटकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

वैसे कर्मबन्धन से छूटने हेतु वेदों में कर्म पर, उपनिषदों में ज्ञान पर एवं गीता में भक्ति पर विशेष बल दिया गया है। गीता में इन तीनों के समन्वय का प्रयास भी किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं हिन्दू दोनों दर्शन बन्धन से मुक्ति हेतु ज्ञान पर अधिक जोर देते हैं, यह अवश्य है कि हिन्दू परम्परा जहाँ ज्ञान को ही प्रमुखता प्रदान करती है, जैन परम्परा ज्ञान के साथ-साथ श्रद्धा एवं आचरण पर भी जोर देती है तथा तीनों के सम्यक् सहयोग से ही मोक्ष की प्राप्ति होना स्वीकार करती है।

कर्म की अवस्थाओं पर जैन एवं हिन्दू विचारों की पारस्परिक तुलना

जैन विचारणा में कर्म की ११ अवस्थायें मानी गयी हैं जो इस प्रकार हैं—१. बन्ध, २. संक्रमण, ३. उत्कर्षण, ४. अपवर्तन, ५. सत्ता, ६. उदय, ७. उदीरणा, ८. उपशमन, ९. निधत्ति, १०. निकाचन और ११. अबाध।^१ इनके स्वरूप पर विस्तृत प्रकाश एक अलग अध्याय में डाला जा चुका है। जैन दर्शन के कर्म की उक्त अवस्थाओं में से कतिपय अवस्थाओं का उल्लेख हिन्दू परम्परा में भी देखने को मिलता है। मुख्यरूप से सत्ता, उदय, उदीरणा और उपशमन इन चार अवस्थाओं का उल्लेख हिन्दू दर्शन में मिलता है। हिन्दू परम्परा में कर्म की अवस्थाओं के नामों में कुछ अन्तर अवश्य दृष्टिगत होता है। इसमें कर्म की संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ऐसी तीन अवस्थाएँ मानी गयी हैं।^२ पूर्व एवं वर्तमान जीवन के उन कर्मों के पुंज को संचित् कहते हैं जिनका फलोपभोग अभी शुरू नहीं हुआ है। इसी संचित् का एक दूसरा नाम 'अदृष्ट' एवं मीमांसकों की परिभाषा में 'अपूर्व' भी है। संचित् कर्म को 'अदृष्ट' इसलिए कहा जाता है, क्योंकि जिस समय कर्म या क्रिया की जाती है वह केवल उसी समय दृश्य होती है उसके पश्चात् वह अदृश्य हो जाती है, यद्यपि अदृश्य होकर भी वह फल देने की शक्ति रखती है। पुनः उसे 'अपूर्व' इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसका विलक्षण परिणाम होता है।

प्रारब्ध कर्म को स्पष्ट करते हुए तिलक जी "गीतारहस्य" में लिखते

१. कर्मविपाक, प्रथम कर्मग्रन्थ, व्याख्याकार, मरुधर केसरी, भूमिका, पृ० ६२।

२. श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य, पृ० २८४।

हैं कि संचित् में से जितने कर्मों का भोगना शुरू हो जाता है, वह प्रारब्ध कर्म है।^१ इसमें प्रारब्ध कर्म को आरब्ध कर्म भी कहा गया है।

कर्म के तीसरे भेद क्रियमाण से अभिप्राय उन कर्मों से है जो अभी किये जा रहे हैं।^२ परन्तु तिलक जी कर्म के इस तीसरे भेद क्रियमाण को युक्तिसंगत नहीं मानते। उनका मन्तव्य है कि वर्तमान समय में हम जो कुछ भी करते हैं, वह प्रारब्ध या संचित् कर्मों में से जिन कर्मों का भोगना शुरू हो गया है उनका ही परिणाम है। अतएव क्रियमाण को कर्म का तीसरा भेद मानने के लिए कोई कारण दीख नहीं पड़ता।^३ किन्तु उनका यह विचार समुचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि प्रारब्ध कर्म संचित् कर्मों में से भोगे जाने वाले कर्मों का एक भाग है, पर क्रियमाण कर्म के साथ ऐसी बात नहीं है। यह एक प्रकार का स्वतन्त्र कर्म है।

हिन्दू परम्परा के अनारब्ध या संचित् कर्म की तुलना जैनदर्शन की सत्ता अवस्था से की जा सकती है। इसीप्रकार प्रारब्ध कर्म तथा क्रियमाण कर्म की तुलना जैन परम्परा के क्रमशः उदय की अवस्था तथा बन्ध या कर्माश्रय की अवस्था से की जा सकती है। डॉ० टाटिया संचित् कर्म की तुलना जैनकर्म की सत्ता अवस्था से, प्रारब्ध कर्म की तुलना उदय कर्म से तथा क्रियमाण कर्म की तुलना बन्धमान कर्म से करते हैं।^४ जहाँ तक जैन कर्म की उपशमनावस्था की बात है, हिन्दू विचारणा से इसके विषय में स्पष्ट कोई सूचना तो नहीं मिलती, फिर भी महाभारत के इस उल्लेख से कि “कभी-कभी मनुष्य के पुण्यकाल में किया गया कर्म (अपना फल देने की राह देखता हुआ) चुपचाप बैठा रहता है,”^५ से जैन कर्म की उपशमनावस्था पर प्रकाश पड़ता है।

इस प्रकार दोनों धर्मों की कर्म की अवस्थाओं की तुलनात्मक समीक्षा करने पर यह स्पष्ट होता है कि केवल उनमें कर्म की अवस्थाओं के नामों में अन्तर है। उनके मूलभूत स्वरूप में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं है। वैसे

१. गीतारहस्य, पृ० २८४

२. वही, पृ० २८४

३. वही, पृ० २८४

४. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २६०, जैनकर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २८ से उद्धृत

५. (क) महाभारत, शान्तिपर्व, २९०/१७

(ख) गीतारहस्य, पृ० २८८

जैन विचारणा में कर्म की ११ अवस्थाएँ मानी गयी हैं। हिन्दू परम्परा में उन ११ अवस्थाओं का उल्लेख न मिलकर कुछ ही अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। हिन्दू परम्परा में प्राप्त होने वाले कर्म की अवस्थाओं से सम्बन्धित विवरण अधिकांशतया जैन कर्म की अवस्थाओं से ही साम्य रखते हैं।

हिन्दू परम्परा एवं जैन परम्परा के कर्म प्रकारों की पारस्परिक तुलना

हिन्दू परम्परा में मुख्य रूप से वेदना की दृष्टि से कर्म के पुण्य-पाप अथवा शुभ-अशुभ रूप भेद किये गये हैं।^१ गीता के पुण्य एवं पाप-कर्मों को ३ वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—१. अकर्म, २. कर्म (कुशल कर्म), और ३. विकर्म (अकुशल कर्म)। गीता के इन कर्मों की तुलना क्रमशः जैन दर्शन के इर्यापथिककर्म, पुण्यकर्म एवं पाप-कर्मों से की जा सकती है। मनुस्मृति में दस प्रकार के पाप-कर्मों का उल्लेख मिलता है^२ जो इस प्रकार है—

१. दूसरे के द्रव्य को लेने का विचार करना, २. मन से निषिद्ध कर्म करने की इच्छा करना, ३. असत्य हठ, ४. कटु बोलना, ५. झूठ बोलना, ६. परोक्ष में किसी का दोष कहना, ७. निष्प्रयोजन बातें करना, ८. बिना दो हुई वस्तु को लेना, ९. शास्त्र वर्जित हिंसा करना, एवं १०. परस्त्री के साथ सम्भोग करना। इनमें प्रारम्भ के कर्मों को कायिक पापकर्म, उसके बाद के चार प्रकार के कर्मोंको वाचिक पापकर्म एवं अन्तिम तीन प्रकार के कर्मोंको मानसिक पापकर्म माना गया है। जैन दर्शन में भी हिन्दू परम्परा के समान ही पाप कर्मोंका उल्लेख है।^३ अन्तर मात्र कर्म प्रकारों की संख्या में है। जहाँ हिन्दू परम्परा में पापकर्म के १० भेद दृष्टिगत होते हैं, वहीं जैन परम्परा में पाप-कर्म के १८ भेद किये गये हैं। वे हैं— १. प्राणातिपात (हिंसा), २. मृषावाद, (असत्य भाषण), ३. अदत्तादान, ४. मैथुन, ५. परिग्रह, ६. क्रोध, ७. मान, ८. माया, ९. लोभ, १०. राग-

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखें, जैनकर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ३५

२. मनुस्मृति, १२/५-७

३. (क) जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग ३, पृ० १८२

(ख) जैन बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १, पृ० ३३२

द्वेष, ११. क्लेश, (संघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा), १२. अभ्याख्यान, (दोषारोपण), १३. पिशुनता (चुगली), १४. परपरिवाद, १५. रति-अरति, १६. माया-मृषा, १७. मिथ्या-दर्शन (अयथार्थ जीवनदृष्टि) इत्यादि । जैन एवं हिन्दू परम्परा के पापकर्मों के भेदोपभेद में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं है । दोनों में पाप-कर्म का स्वरूप लगभग एक ही है । जैन परम्परा में अन्य दृष्टियों से भी कर्म के भेदोपभेद का उल्लेख है, जबकि हिन्दू परम्परा में मुख्य रूप से वेदना की दृष्टि से शुभ एवं अशुभ कर्मोंका ही उल्लेख मिलता है । इसप्रकार हम देखते हैं कि दोनों परम्पराओं में शुभाशुभ कर्म-प्रकारों का लगभग समान वर्णन है । जो अन्तर हैं, वे केवल शाब्दिक हैं, मूल रूप से दोनों में कोई भेद नहीं है । कर्मों की प्रकृति अथवा स्वभाव की दृष्टि से उनके मूल भेदों एवं उपभेदों का जितना सुव्यवस्थित विवरण जैन दर्शन में मिलता है, उतना हिन्दू परम्परा में नहीं मिलता है ।

कर्मविपाक सम्बन्धी हिन्दू एवं जैन विचारों की पारस्परिक तुलना

जैन दर्शन में अपनी समयावधि पर परिपक्व होकर विशिष्ट अथवा विविध प्रकार के फल देने की शक्ति को कर्मविपाक कहा गया है ।^१ एक निश्चित समय पर फल प्रदान करने की दृष्टि से कर्मों को दो वर्गों में विभक्त किया गया है । पहले प्रकार के कर्म वे कर्म हैं, जो बिना किसी बाह्य परिवर्तन के नियत समय पर फल प्रदान करते हैं, उन्हें नियत-विपाकी कर्म (निकाचितकर्म) के रूप में जाना जा सकता है । परन्तु दूसरे प्रकार के कर्म वे कर्म हैं जो नियत समय पर फल प्रदान नहीं करते, बल्कि उनके स्वरूप, मात्रा, समयावधि आदि में परिवर्तन, परिवर्द्धन सम्भव हो सकता है । जैन कर्म की अवस्थाओं में उदीरणा, उद्धर्तना, अपवर्तना संक्रमण आदि अवस्थायें कर्मविपाक की अनियतता की परिचायक कही जा सकती हैं, परन्तु निकाचित कर्म, कर्मविपाक की नियतता को अभिसूचित करता है ।

हिन्दू परम्परा में भी कर्मविपाक के सम्बन्ध में इस प्रकार के विचार दृष्टिगत होते हैं । वैदिक परम्परा में यह माना गया है कि संचित कर्म को ज्ञान के द्वारा बिना फलभोग के ही नष्ट किया जा सकता है ।^२ गीता के इस उल्लेख से कर्मविपाक की अनियतता पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है ।

१. पंचम कर्मग्रन्थ, पृ० ५२.

२. ज्ञानान्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।

गीता, ४/३७

इसके विपरीत अनेक ऐसे भी उल्लेख हैं जिनसे कर्मविपाक की नियतता पर भी प्रकाश पड़ता है। गीता रहस्य में तिलक जी भी लिखते हैं कि प्रारब्ध कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं है। जब एक हाथ से बाण छूट जाता है, तब वह लौटकर वापस नहीं आ सकता अथवा जब एक बार कुम्भार का चक्र घुमा दिया जाता है तब उसकी गति का अन्त होने तक वह घूमता ही रहता है, ठीक इसी तरह प्रारब्ध कर्मों की भी अवस्था होती है।^१ इस प्रकार हिन्दू परम्परा एवं जैन धर्म दोनों ही परम्पराओं में कर्मविपाक की नियतता एवं अनियतता को स्वीकार किया गया है। परन्तु जैन परम्परा में मुख्य बल कर्मविपाक की नियतता पर है और हिन्दू दर्शन में कर्मविपाक की अनियतता पर। हिन्दू परम्परा में संचित कर्म की अपेक्षा से नियतविपाकी कर्म का विचार नहीं मिलता है। सभी संचित कर्म मुख्य रूप से अनियत विपाकी मान लिये गये हैं। यद्यपि प्रारब्ध कर्म नियत विपाकी कहे जा सकते हैं।

कर्मफल संविभाग के सन्दर्भ में हिन्दू एवं जैन विचारों की पारस्परिक तुलना

कर्मफल संविभाग का अभिप्राय एक व्यक्ति के किये हुए कर्म के फल दूसरे व्यक्ति को मिलने से है। जैन दर्शन यह मानता है कि कर्मफल का संविभाग नहीं हो सकता।^२ हिन्दू परम्परा कर्मफल संविभाग की अवधारणा को स्वीकार करती है। गीता में कहा गया है—“कुल धर्म के नाश होने से तथा श्राद्ध-तर्पण आदि क्रियाओं के अभाव में पितरों का पतन हो जाता है।^३ इस उल्लेख में कुलधर्म के विनष्ट होने से पितर का पतन होना कर्मफल संविभाग को अभिसूचित करता है। इससे यह भी फलित होता है कि सन्तानादि द्वारा किये गये शुभाशुभ कृत्यों का प्रभाव उनके पितरों पर पड़ता है। महाभारत में यहाँ तक कहा गया है कि न केवल सन्तान के कृत्यों का प्रभाव पूर्वजों पर पड़ता है, वरन् पूर्वजों के शुभाशुभ

१. प्रारब्धकर्मणा भोगादेव क्षयः ।

गीतारहस्य, पृ० २८४

२. (क) जमिणं जगती पुढो जगा, कम्महि लुप्पति पाणिणो ।

सयमेव कडेहि गार्हति, णो तस्स मुच्चेज्ज पुट्ठयं ॥

सुत्रकृतांग सूत्र, १/३/१/४

(ख) वही, १/५/२/२३

३. गीता, १/४२

कृत्यों का फल भी सन्तान को प्राप्त होता है।^१ शान्तिपर्व में भोष्म युधिष्ठिर से कहते हैं—“किसी आदमी को उसके पापकर्मों का फल उस समय मिलता हुआ न दीख पड़े, तथापि वह उसे ही नहीं, किन्तु उसके पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रों तक को भोगना पड़ता है।^२ इसी सन्दर्भ में मनु-स्मृति एवं महाभारत का उद्धरण देते हुए तिलक जी भी लिखते हैं कि “कर्मफलों को न केवल हम किन्तु हमारी नाम-रूपात्मक देह से उत्पन्न हुए हमारे लड़के और नातियों तक को भोगना पड़ता है।^३ हिन्दू परंपरा के अन्य ग्रन्थों के कतिपय उल्लेखों से कर्मफल असंविभाग भी अभिसूचित होता है। उपनिषदों में कर्मफल असंविभाग की अवधारणा दृष्टिगत होती है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि “जो जैसा करता है, जैसा आचरण करता है वैसा ही होता है, साधुकर्म करने से साधु होता है तथा पापकर्म करने से पापी होता है।”^४ श्वेताश्वतरोपनिषत् में भी कहा गया है कि कर्म का कर्ता ही उसके फल का भोक्ता होता है।^५ मनुस्मृति में भी अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जो कर्मफल असंविभाग के सूचक लगते हैं, यथा—कहा गया है कि शुभ कर्म करने से मनुष्य देवत्व को प्राप्त होता है तथा शुभ एवं अशुभकर्म करने से मनुष्य योनि को परन्तु केवल अशुभकर्म करने से तिर्यग्योनि को प्राप्त करता है। मनुष्य अपने कृत कर्मों के अनुसार ही विभिन्न योनियों को प्राप्त करता है।^६ कर्मफल असंविभाग को स्पष्ट करते हुए पुराणों में कहा गया है कि छाया और धूप परस्पर संबंधित

१. जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २३

२. महाभारत, शान्तिपर्व, १२९/२१

३. मनुस्मृति, ४/१७३; महाभारत, आदिपर्व, ८२/३

गीतारहस्य, पृ० २६८ से उद्धृत।

४. यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापी भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ॥
बृहदारण्यकोपनिषत्, ४/४/५

५. गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्यैव स चोपभोक्ता।

श्वेताश्वतरोपनिषत्, ५/७

६. शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं, व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत्।

अशुभैः केवलैश्चैव, तिर्यग्योनिषु जायते ॥

यां यां योनिं तु जीवोऽयं, येन येनेह कर्मणा।

क्रमशो याति लोकेऽस्मिन्स्तत्तत्सर्वं निबोधत ॥

२१२ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

होते हैं वैसे ही कर्म और उसके कर्त्ता भी एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। अपने कर्मानुसार ही जीव ग्रह, रोग, विष, सर्प आदि से परिपीड़ित होता है। इसी प्रकार मनुष्य जैसा कर्म करता है वैसे ही फलोपभोग भी करता है।^१ आध्यात्मिक रामायण के कतिपय उल्लेखों से भी कर्मफल असंविभाग पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। उसमें भी कहा गया है कि देहधारी जीव अपने शुभ एवं अशुभ कर्म के अनुसार ही शुभ एवं अशुभ रूप फलों का भोग करते हैं।^२ कर्म प्रधान है, शुभ ग्रह वगैरह कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि वशिष्ठ के द्वारा राम को लग्न दे दिये जाने पर भी उन्हें वन गमन करना पड़ा।^३

हिन्दू परम्परा के इन विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि इसमें भी अधिकांशतया जैन दर्शन के समान कर्मफल असंविभाग पर ही बल दिया गया है। यद्यपि हिन्दू परम्परा के कुछ ग्रन्थों में कर्मफल संविभाग को भी स्वीकार किया गया है, परन्तु ऐसे कथन बहुत औचित्यपूर्ण नहीं लगते। कर्म कोई और करे और उसका फलोपभोग उसके परिवार का कोई अन्य सदस्य करे, यह तथ्य न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता। वास्तव में कर्मफल के असंविभाग का सिद्धान्त ही न्यायसंगत लगता है क्योंकि

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निवेवते ।

तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाप्नुते ॥

मनुस्मृति, १२/१०, ५३, ८१

१. यथा छायातपो नित्यं सम्बद्धौ च परस्परम् ।
तद्वत्कर्म च कर्त्ता च सुसम्बद्धौ परस्परम् ॥
ग्रहरोगविषाः सर्पाः शाकिन्यो राक्षसास्तथा ।
पीडयन्ति नरं पश्चात् पीडितं पूर्वकर्मणा ॥
यादृशं क्रियते कर्म तादृशं भुज्यते फलम् ।
यादृशमुप्यते बीजं तादृशं प्राप्यते फलम् ॥

पद्मपुराण, २/८१/५१-५२, ५७

२. शुभाशुभानि कर्माणि स्वयं कुर्वन्ति देहिनः ।
स्वयमेवोपभुज्यन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥

आध्यात्मिक रामायण, अयोध्याकाण्ड, ९/१४

३. कर्मणो हि प्रधानत्वं किं कुर्वन्ति शुभा ग्रहाः ।
वशिष्ठदत्तलग्नोऽपि रामः प्रव्रजितो वने ॥

. पूर्वोक्त, ९/१५

कर्मफल का असंविभाग ही एक ऐसा मापदण्ड है जो अशुभ कर्म करने वाले जीव की मनोवृत्ति पर अंकुश लगाता है। यदि किये हुए कर्म के अनुकूल जीव को फल की प्राप्ति न हो तो फिर शुभ एवं अशुभ कर्म में कोई विभेद ही नहीं रह जाता। न तो शुभ कर्मों के सम्पादन में व्यक्ति को किसी प्रकार की कोई विशिष्ट रुचि होगी और न ही वह अशुभ कर्म करने से हिचकेगा। इसलिए कर्मविपाक की मर्यादा को सुस्थिर एवं सुव्यवस्थित रूप देने हेतु कर्मफल का असंविभाग ही औचित्यपूर्ण है।

हिन्दू परम्परा एवं जैन दर्शन के कर्म-पुनर्जन्म सम्बन्धी विचारों की पारस्परिक तुलना

कर्म एवं पुनर्जन्म की अवधारणा कमफलोपभोग से सम्बन्धित है। कर्म फल को इंगित करता है और पुनर्जन्म कर्म करने के बाद फल के रूप में प्राप्त होने वाले जन्म को। यहाँ कर्म-पुनर्जन्म की अवधारणा से तात्पर्य कर्मों के फलोपभोग हेतु प्राप्त होने वाले जन्म से है। यहाँ हम मुख्य रूप से हिन्दू परम्परा एवं जैन परम्परा के कर्म-पुनर्जन्म सिद्धान्त सम्बन्धी मत-मतान्तरों की तुलना करेंगे।

जैन दर्शन में कर्म-पुनर्जन्म की मान्यता को स्वीकार किया गया है। इस दर्शन का मन्तव्य है कि यदि मनुष्य अपने कृत कर्मों का फलोपभोग वर्तमान जीवन में नहीं कर पाता है तो शेष कर्मों के फलोपभोग हेतु उसे पुनः जन्म लेना पड़ता है। पण्डित सुखलाल जी कर्मविपाक की प्रस्तावना में लिखते हैं कि “जानते या अनजानते जो अच्छा-बुरा कर्म करता है, उसका फल उसे भोगना ही पड़ता है और इसलिए उसे कर्म-पुनर्जन्म के चक्कर में घूमना ही पड़ता है।^१ स्पष्ट है कि कर्म फलोपभोग हेतु ही मनुष्य को पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

जैन दर्शन की भाँति हिन्दू परम्परा भी कर्म एवं पुनर्जन्म की अवधारणा का समर्थन करती है। उसका मन्तव्य है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में गमन करता है।^२ वह जन्म इसलिए ग्रहण करता है क्योंकि वह अपने पूर्व कर्म का उपभोग नहीं कर पाया है।^३ तिलक जी भी गोता रहस्य में लिखते हैं कि “कर्म चाहे भला हो या बुरा, किन्तु

१. प्रस्तावना कर्मविपाक, प्रथम भाग, अनुवादक पण्डित सुखलाल जी, पृ० ४१।

२. मनुस्मृति, १२/५३

३. वही, १२/८१

उसका फल भागने के लिए मनुष्य को एक न एक जन्म लेकर तैयार रहना ही चाहिए।^१ इससे यह भी फलित होता है कि न केवल पुण्य कर्मों के फलोपभोग हेतु ही वरन् पाप कर्मों के फलोपभोग हेतु भी मनुष्य को पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

भगवद्गीता में कहा गया है कि मनुष्य को अपने कर्मानुसार स्वर्ग-लोक एवं इस लोक में आना-जाना पड़ता है।^२

गीता रहस्य में प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर कर्मों के जो संचित, प्राग्बन्ध और अनारब्ध रूप भेद दिखाये गये हैं, वे कर्म पुनर्जन्म की अवधारणा के स्पष्ट परिचायक हैं।^३ चूँकि संचित कर्म, पूर्व एवं वर्तमान जीवन के कर्मों का संचित पुंज होता है तथा उनमें पुण्य एवं पाप दोनों ही प्रकार के कर्म सन्निहित हैं। पुण्य एवं पाप दो परस्पर विरोधी कर्मों के फलों का भोग एक साथ एवं एक समय में कदापि सम्भव नहीं हो सकता, या तो एक समय में जीव पाप कर्मों का ही फलोपभोग कर सकता है या पुण्य कर्मों का ही। अतः यह बहुत सम्भव है कि व्यक्ति स्वर्ग एवं नरक परक कर्मों का भोग एक जन्म के बाद दूसरे जन्म में करे। एक अन्य स्थल पर तिलक जी गीता रहस्य में लिखते हैं कि “स्वर्ग-सुख एवं नरक-यातना रूप कर्मों का भोग एक समय में और एक ही स्थान में भोगना असम्भव है।”^४

इन विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू एवं जैन परम्परा के कर्म-पुनर्जन्म सिद्धान्त सम्बन्धी विचारों में कोई मौलिक भेद नहीं है। वे प्रायः समान अवधारणा का समर्थन करते हैं।

बौद्ध दर्शन एवं जैन दर्शन के कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी सन्दर्भों की तुलना

कर्मसिद्धान्त के विवेचन में बौद्ध दर्शन प्रायः उसी अवधारणा का समर्थन करता है, जिसका जैन परम्परा। जैन दर्शन की तुलना में बौद्ध दर्शन में कर्मासिद्धान्त का विस्तृत विवरण नहीं है। यहाँ मुख्य रूप से दोनों दर्शनों के कर्म-सिद्धान्त में प्राप्त होने वाली समताओं एवं विषमताओं की यथासम्भव तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

१. गीतारहस्य, पृ० २८८।

२. गीता, ९/२१

३. गीतारहस्य, पृ० २८७।

४. गीतारहस्य, पृ० २८७।

बौद्ध दर्शन के कर्म के अर्थ की जैन दर्शन सम्मत कर्म के अर्थ से तुलना

जैन दर्शन के समान बौद्ध दर्शन में यद्यपि व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक व्यापार को कर्म की संज्ञा प्रदान की गयी है फिर भी वहाँ केवल चेतना को प्रधानता दी गयी है और चेतना को ही कर्म कहा गया है।^१ बुद्ध ने कहा है, “चेतना ही भिक्षुओं का कर्म है। ऐसा मैं कहता हूँ, चेतना के द्वारा कर्म को करता है, काया से, वाणी से या मन से।”^२ बौद्ध दर्शन का यह मन्तव्य है कि चूँकि चेतना के होने पर ही शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक किसी भी प्रकार का व्यापार सम्भव है, अतः चेतना को ही कर्म मानना युक्ति संगत है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ बौद्ध-दर्शन में व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक व्यापार में चेतना को प्रमुखता प्रदान की गयी है, वहीं जैन दर्शन में इन व्यापारों में जीव में व्याप्त होने वाले राग एवं द्वेष रूप भावों को प्रधानता दी गयी है।^३ यद्यपि जैन दर्शन में कर्म के अर्थ में चेतना शब्द का उल्लेख स्वतन्त्र रूप से नहीं है, फिर भी इसमें कर्म के अर्थ में जिन राग एवं द्वेष रूप जीव के भावों का सन्निधान है, वे बौद्ध दर्शन सम्मत चेतना के ही समानार्थक हैं। यहाँ बौद्ध दर्शन का चेतना-परक अर्थ, कर्म के एकपक्षीय स्वरूप का प्रतिनिधित्व नहीं करता है बल्कि उससे कर्म के अन्य पक्षों पर भी सम्यक् प्रकाश पड़ता है। इसमें चेतना शब्द पर अधिक बल देने का मुख्य कारण यह है कि किसी भी प्रकार के व्यापार में चेतना का होना परमावश्यक है।

कर्मबन्धन के सन्दर्भ में जैन एवं बौद्ध मतों की पारस्परिक तुलना

बन्धन के कारणों का उल्लेख बौद्ध दर्शन में भी मिलता है।

जैन एवं बौद्ध कर्मबन्धन सम्बन्धी उल्लेखों में मुख्य अन्तर निम्न है—

१. जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० १०।

२. (क) अंगुत्तरनिकाय, उद्धृत बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ४६३।

(ख) द्रष्टव्य, जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम भाग, पृ० ३०४।

३. रागो य दोसो वि य कम्मवीर्यं।

—उत्तराध्ययन, ३२/७

१. जैन दर्शन में बन्धन का कारण जड़ एवं चेतन दोनों है, जबकि बौद्ध दर्शन में बन्धन का कारण केवल चैतसिक है।

२. जैन दर्शन में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँच^१ प्रमुख बन्ध हेतुओं के अतिरिक्त राग-द्वेष एवं मोह को भी बन्धन का प्रमुख कारण माना गया है।^२ बौद्ध दर्शन में भी अविद्या, वासना, तृष्णा, आसक्ति आदि चैतसिक तत्त्वों के अतिरिक्त लोभ (राग), द्वेष, मोह को बन्धन का कारण बताया गया है।^३ इस दृष्टि से दोनों में समानता है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार बन्धन के लिए कर्म-पुद्गलों का आसन्न आवश्यक है।

जैन दार्शनिकों ने बौद्धों की समालोचना करते हुए कहा है कि यदि बन्धन का कारण मात्र आन्तरिक और चैतसिक ही है, उसमें कोई बाह्य तत्त्व सहायक नहीं होता, तो फिर उससे मुक्ति का क्या अर्थ होगा? यदि कषाय आत्मा में स्वतः ही उत्पन्न होते हैं तो वे एक तरह से आत्मा के स्वभाव कहे जा सकते हैं, और यदि वे आत्मा के स्वभाव ही हैं तो उन्हें तोड़ा नहीं जा सकता; और यदि उन्हें छोड़ना सम्भव नहीं तो फिर बन्धन से मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी सन्दर्भ में पुनः दूसरा तर्क यह दिया जा सकता है कि यदि कषाय आत्मा का स्वभाव है तथा वह आन्तरिक या चैतसिक है, और यदि स्वभाव में किसी बाह्य निमित्त के बिना ही विकार आ जाता है तो फिर बन्धन में आने की निरन्तर सम्भावना बनी रहेगी और मुक्ति का कोई अर्थ ही नहीं रहेगा। जैन दर्शन यह मानता है कि उष्णता के संयोग से जिस प्रकार पानी स्वगुण शीतलता को छोड़ विकारी हो जाता है, वैसे ही आत्मा जड़ कर्म-परमाणुओं के संयोग से विकारी बनता है।^४

बन्धन सम्बन्धी अन्य बातों में दोनों दर्शनों में प्रायः समानता है।

१. तत्त्वार्थसूत्र, ८/१

२. उत्तराध्ययन, २१/१९, २३/४३, २८/२०, २९/७१

३. (क) सुत्तनिपात ६८, उदयमाण पुच्छ सूत्र संख्या ५।

(ख) वही, अतण्ड सुत्त, ५-८।

(ग) अंगुत्तर निकाय, ३/३३, पृ० १३७।

४. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २२५-२२६।

५. देखें—जैन बौद्ध एवं गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम भाग, पृ० ३०९।

दोनों ही में आस्रव को बन्धन का कारण माना गया है। बौद्ध विचारणा में आस्रव तीन माने गये हैं—(१) काम, (२) भव, (३) अविद्या। लेकिन अंगुत्तर निकाय में दृष्टि को भी आस्रव कहा गया है।^१ धम्मपद में प्रमाद को आस्रव का कारण माना गया है। बुद्ध कहते हैं कि जो कर्तव्य को छोड़ता है और अकर्तव्य को करता है, ऐसे मलयुक्त प्रमादियों के आस्रव बढ़ते हैं।^२ इस प्रकार जैन विचारणा के समान बौद्ध विचारणा में भी प्रमाद को बन्धन का कारण माना गया है।

निष्कर्ष यह है कि दोनों दर्शनों में कर्मबन्धन एवं उनके कारणों का मूल स्वरूप एक ही है। फिर भी बौद्ध दर्शन में चेतना पर अधिक बल दिया गया है। पर इसमें चेतना शब्द का प्रयोग कर्मबन्धन के स्वरूप की संकीर्णता को ज्ञापित नहीं करता, बल्कि इस बात का सूचक है कि कार्य निष्पत्ति में चेतना सक्रिय तत्त्व के रूप में प्रमुख कारण है। मिलिन्दप्रश्न के उस उल्लेख से कर्मों के बन्धन के चैतसिक एवं भौतिक दोनों ही पक्षों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है, जहाँ कहा गया है कि नाम (चेतनापक्ष) और रूप (भौतिक पक्ष) अन्योन्याश्रयभाव से सम्बद्ध है।^३ जैन दर्शन के राग, द्वेष एवं मोह के समान ही बौद्ध दर्शन में भी लोभ, द्वेष और मोह को कर्मोत्पत्ति का मुख्य कारक माना गया है।^४ इस प्रकार दोनों में मूलतः बहुत कुछ समानता है।

कर्म अवस्थाओं पर जैन एवं बौद्ध दृष्टिकोणों की पारस्परिक तुलना

जैन दर्शन में बन्धन, सत्ता, उदय, उदीरणा, उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उपशमन, निधत्ति, निकाचन और अबाध। इस प्रकार कर्म की ११ अवस्थाएँ^५ मानी गयी हैं और उसमें इनका विस्तृत एवं व्यवस्थित विवरण भी उपलब्ध होता है। बौद्ध दर्शन में कृत्य, पाकदान एवं पाककाल की दृष्टि से क्रमशः कर्म के चार-चार भेद किये गये हैं,^६ उसमें कृत्य की दृष्टि

१. (क) अंगुत्तरनिकाय, ३६/८, ४३/७/३, ४५/५/१०

(ख) बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० २४५।

२. धम्मपद, २९२

३. (क) मिलिन्दप्रश्न, लक्ष्मण प्रश्न, द्वितीय सर्ग

(ख) जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम भाग, पृ० ३१०।

४. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, व्याख्याकार मरुधर केसरो, भूमिका पृ० ६२।

५. वही—पृ० ६२।

६. विशद्धिमार्ग परिच्छेद १९, पृ० २०४।

२१८ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

से कर्म के, जो चार भेद किये गये हैं, मुख्य रूप से उन्हीं से जैन दर्शन सम्मत कर्म की कतिपय अवस्थाओं की तुलना की जा सकती है। विसुद्धिमग्ग में पाककाल की दृष्टि से कर्म के जनक, उपस्तम्भक, उपपीडक और उपघातक ऐसे चार भेद दृष्टिगत होते हैं।^१

जनक कर्म कुशल एवं अकुशल दोनों ही प्रकार का होता है। इसके प्रभाव से मनुष्य दूसरा जन्म ग्रहण करता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन का जनक कर्म जैन दर्शन की सत्ता अवस्था से तुलनीय है। बौद्ध दर्शन के उपस्तम्भक कर्म की तुलना जैन दर्शन की उत्कर्षण अवस्था से की जा सकती है क्योंकि उपस्तम्भक कर्म स्वतः तो विपाक उत्पन्न करने में सक्षम नहीं है पर अन्य कर्मों से विपाक के उत्पन्न होने पर उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख को अवलम्बन देता है। इसके ठीक विपरीत बौद्ध दर्शन का उपपीडक कर्म अन्य कर्मों से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख रूप विपाकों को पीड़ित करता है।^२ यहाँ पीड़ित से अभिप्राय सुख-दुःख रूप कर्मविपाक को कम करने से है। इन दृष्टि से इस कर्म की तुलना जैन कर्म की अपवर्तना अवस्था से की जा सकती है। उपघातक कर्म स्वयं कुशल एवं अकुशल होते हुए भी अन्य कर्मों के विपाक को रोककर अपने विपाक को प्रतिष्ठित करता है, इस प्रकार के कर्म, जैन कर्म की उपशमन प्रक्रिया से तुलनीय है। बौद्ध दर्शन यह भी मानता है कि कर्म फल का विप्रणाश नहीं है, तथापि फल का सातिक्रमण (संक्रमण) हो सकता है। मैत्री भावना द्वारा यदि अवद्यकारी अपने चित्त को विमुक्त करता है, तो जो कर्म उसने किया है उसका महत्त्व कम हो जाता है।^३ इस उल्लेख से यह सूचित होता है कि बुरा कर्म करने के बाद भी यदि कर्म करने वाला अपने चित्त को शुद्ध करके पुनः कर्म करता है तो उस कर्म के कारण पहले किये हुए बुरे कर्म का फल सुखद फल में परिणित हो जाता है। इस उल्लेख से जैन कर्म की संक्रमण अवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है। बौद्ध दर्शन के नियत वेदनीय, नियत विपाक कर्म की तुलना जैन दर्शन के निकाचना अवस्था से की जा सकती है। क्योंकि निकाचित अवस्था में भी कर्म के बन्ध के अनुसार बिना किसी परिवर्तन के फल का भोग करना पड़ता है एवं ठीक उसी

१. वही, पृ० २०४।

२. वही पृ० २०४। देखें, जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २७।

३. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० २७५।

प्रकार बौद्ध दर्शन के नियत वेदनीय या नियत विपाक कर्म में कर्मों का विपाक दान नियत होता है।^१

इस प्रकार कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शन में जैन दर्शनसम्मत समस्त अवस्थाओं का उल्लेख तो नहीं है फिर भी मुख्य रूप से जैनसम्मत सत्ता, उद्धर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, निकाचना आदि अवस्थायें ही प्रतिबिम्बित होती हैं यद्यपि उन अवस्थाओं के सम्बन्ध में इनमें विस्तृत विवरण का अभाव है फिर भी संक्षेप में मिलने वाले विवरण भी कर्म की उक्त अवस्थाओं के मूल स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते हैं।

जैन कर्म प्रकार एवं बौद्ध कर्म प्रकारों की पारस्परिक तुलना

विशुद्धिमग्न में कृत्य, पाकदान और पाककाल की दृष्टि से १२ प्रकार के कर्मों का उल्लेख है।^२ किन्तु अभिधर्म में पाकस्थान को दृष्टि से चार भेद और किये गये हैं।

बौद्ध मतानुसार कृत्य के आधार पर कर्म के जिन चार भेदों का उल्लेख है उनमें पहला जनक और दूसरा उपस्तम्भक कर्म है। जनक कर्म नये जन्म को उत्पन्न कर विपाक प्रदान करता है पर उपस्तम्भक कर्म के साथ ऐसी बात नहीं है वह कर्म का विपाक स्वतः तो प्रदान नहीं करता पर दूसरे कर्म के विपाक में सहायक बन जाता है। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन के तीसरे एवं चौथे कर्म प्रकार उपपीड़क एवं उपघातक कर्म क्रमशः दूसरे कर्मों के विपाक में बाधक एवं अन्य कर्मों के विपाक का घात कर अपने कर्मों के विपाक को प्रतिष्ठित करते हैं।^३

पाकदान को दृष्टि से बौद्ध दर्शन में गरुक, बहुल अथवा आचिण्ण, आसन्न तथा अभ्यस्त ऐसे चार कर्मों का उल्लेख मिलता है। इनमें गरुक तथा बहुल दोनों ही प्रकार के कर्म दूसरे कर्मों के विपाक को रोककर सर्वप्रथम अपना फल प्रदान करते हैं। आसन्न कर्म से अभिप्राय उस कर्म से है, जो मृत्यु होने के कुछ समय पूर्व किया गया है। यह कर्म यह सूचित करता है कि पूर्व कर्मों के स्वभाव को बिना देखे ही मरण काल के समय के कर्म के आधार पर ही शीघ्र नया जन्म प्राप्त होता है। इस प्रकार आसन्न कर्म मृत्यु के कुछ क्षण पूर्व किये गये कर्म के महत्त्व पर प्रकाश

१. देखे, जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम भाग, पृ० ३१०।

२. विशुद्धिमग्न परिच्छेद १९, पृ० २०४

३. अभिधम्मत्थसंगहो, ५/१९

डालता है। अभ्यस्त कर्म का एक दूसरा नाम कृतत्वात् कर्म भी है यह स्वतंत्र रूप से कर्म विपाक की प्रक्रिया को प्रभावित करता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि बिना किसी अन्य कर्मों के माध्यम से कर्म का फल प्रदान कर सकता है।

पाक काल की दृष्टि से बौद्ध दर्शन में कर्म को १-दृष्टधर्मवेदनीय, २-उपपद्यवेदनीय, ३-अपरापर्य वेदनीय और ४-अहोति कर्मों के रूप में चार वर्गों में विभक्त किया गया है। दृष्टधर्मवेदनीय कर्म वह कर्म है जिसका विपाक विद्यमान जन्म में ही हो जाता है।

उपपद्यवेदनीय कर्म ऐसा कर्म है जिसका फल नवोन जन्म में प्राप्त होता है।

अहोति कर्म ऐसा कर्म है जिसका विपाक होता नहीं।

अपरापर्य वेदनीय कर्म का फल अनेक भवों में मिलता है।

बौद्धों ने पाकस्थान की अपेक्षा से कर्म के ये चार भेद किये हैं—
अकुशल का विपाक नरक में, कामावचर कुशल कर्म का विपाक सुगति में, रूपावचर कुशल कर्म का विपाक रूपीब्रह्मलोक में तथा अरूपावचर कुशल कर्म का विपाक अरूपलोक में उपलब्ध होता है।^१

जैन दर्शन में कर्म की प्रकृति या स्वभाव की दृष्टि से कर्म की आठ मूल^२ एवं उनकी १५८ उत्तरप्रकृतियों का विस्तृत उल्लेख मिलता है।^३

जहाँ तक जैन एवं बौद्ध कर्मप्रकारों की तुलनात्मक समीक्षा का प्रश्न है। बौद्ध दर्शन से कर्म के जो भेद दृष्टिगत होते हैं, उनकी स्वभाव या प्रकृति की दृष्टि से किये गये जैन कर्म प्रकारों से कोई तुलना नहीं है। बौद्ध दर्शन सम्मत कर्म प्रकारों से जैन कर्म की अवस्थाओं पर प्रकाश पड़ता है। बौद्ध दर्शन में जैन कर्म प्रकृतियों की कहीं कोई चर्चा नहीं है और इस कारण उसकी बौद्ध दर्शन से तुलना का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन जैन अष्टकर्म के वर्गीकरण के स्वरूप पर सूक्ष्म दृष्टि डालने पर कुछ ऐसे तथ्य प्रकाश में आते हैं, जो बौद्ध दर्शन की बहुचर्चित प्रतीत्यसमुत्पाद की विविध कड़ियों से कुछ सीमा तक

१. वही, उद्धृत आत्ममीमांसा-पण्डित मालवणिया।

२. कर्मविपाक १/३, उत्तराध्ययन ३३/२३

३. कर्मविपाक (अनु० सुखलालजी) पृ० ९।

पारस्परिक साम्य विस्थापित करते हैं, यद्यपि दोनों के नामों में समानता नहीं है, पर दोनों से एक ही भाव प्रतिध्वनित होता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद यह सूचित करता है कि प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है अकारण कोई घटना या कार्य हो ही नहीं सकता है। प्रतीत्यसमुत्पाद की १२ कड़ियाँ हैं जिनका कार्यकारण परम्परा की व्याख्या में अपना विशिष्ट योगदान है। वे इस प्रकार हैं—१. अविद्या २. संस्कार, ३. विज्ञान, ४. नामरूप, ५. षडायतन, ६. स्पर्श, ७. वेदना, ८. तृष्णा, ९. उपादान, १०. भव, ११. जाति और १२. जरामरण^१।

बौद्ध दर्शन में अविद्या का अभिप्राय है दुःख, दुःख समुद्य, दुःख निरोध मार्ग और दुःख निरोध—इन चार आर्य सत्य सम्बन्धी अज्ञान। मूल रूप में यह कहा जा सकता है कि अविद्या के कारण ही जीव जन्म-मरण की शृंखला में आबद्ध होता है। बौद्ध दर्शन की इस अविद्या की तुलना जैन दर्शन के दर्शनमोह नामक कर्म से की जा सकती है क्योंकि दर्शन मोह कर्म भी एक प्रकार की अविद्या ही है जिसमें जीव पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान नहीं कर पाता।

बौद्ध दर्शन के संस्कार की तुलना जैन दर्शन के चारित्र मोहनीय कर्म से की जा सकती है, क्योंकि संस्कार भी एक तरह का आचरण ही है जो कुशल एवं अकुशल दोनों ही प्रकार का हो सकता है। जैन दर्शन सम्मत चारित्र मोहनीय कर्म भी लगभग उसी भाव को अभिव्यंजित करता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद की चौथी कड़ी नामरूप की तुलना जैन विचारणा के आयुष्य कर्म, गतिनामकर्म और शरीरनामकर्म से की जा सकती है।

षडायतन से तात्पर्य चक्षु घ्राण, श्रवण, रसना और स्पर्श इन पाँच इन्द्रियों एवं छठे मन से है। डॉ० सागरमल जैन लिखते हैं कि 'तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर व्यक्ति के सन्दर्भ में नामरूप और षडायतन जैनदर्शन के नाम कर्म के समान हैं, क्योंकि जैनदर्शन में नामकर्म और बौद्ध दर्शन में नामरूप और षडायतन वैयक्तिकता के निर्धारक हैं और उस अर्थ में दोनों समान हैं।^२ इसी प्रकार बौद्धदर्शन की वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा-मरण आदि की तुलना क्रमशः जैन दर्शन की

१. दीघनिकाय २/२, संयुक्तनिकाय १२-१-२, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ३७३-४१०

२. जैन बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम भाग, पृ० ३७९।

की वेदनीय, मोहनीय, वीर्यन्तराय, आयुष्य, नाम आदि कर्मों से की जा सकती है'।

इस प्रकार बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद और जैनदर्शन के कर्मों के वर्गीकरण में कुछ साम्य देखा जा सकता है।

वैसे कर्म की मूल एवं उत्तरप्रकृतियों के विस्तृत विवेचन की दृष्टि से तो यही कहा जा सकता है कि बौद्धदर्शन में ऐसे विवरणों का अभाव है।

जहाँ तक जैन एवं बौद्धदर्शन में पाप कर्मों के स्वरूप एवं उनके तुलनात्मक समीक्षा का प्रश्न है उनमें काफी समानता है। जैनदर्शन में पापकर्म के १८ प्रकारों की चर्चा है यथा, हिंसा, अदत्तादान, मृषावाद, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, क्लेश, अभ्याख्यान, पिशुनता, परपरिवाद, रति, अरति, माया, मृषा, मिथ्यादर्शन इत्यादि^१, पर बौद्धदर्शन में कायिक, वाचिक और मानसिक आधार पर पापकर्म दस प्रकार के बताये गये हैं^२ और इन दस प्रकारों में ही जैनदर्शन सम्मत पाप-कर्म के १८ प्रकार निहित लगते हैं।

कर्मविपाक सम्बन्धी जैन-बौद्ध मतों की पारस्परिक तुलना

जो कर्म अपना पूर्व निश्चित विपाक (फल) काल आने पर अवश्य ही फल प्रदान करते हैं, वे नियतविपाकी कर्म कहे जाते हैं। इसके विपरीत जिनका पूर्व निश्चित फल भोग उसी रूप में आवश्यक नहीं होता, वे अनियत विपाकी कर्म हैं।

जैन एवं बौद्ध दोनों ही धर्मों में कर्मविपाक की नियतता एवं अनियतता दोनों समान रूप से स्वीकृत किया गया है। कुछ कर्म नियत-विपाकी होते हैं और कुछ अनियत-विपाकी होते हैं। जहाँ जैनदर्शन में कर्म की अवस्थाएँ यथा उदीरणा, अपवर्तना, उद्वर्तना एवं संक्रमण कर्म-विपाक की अनियतता को और निकचना कर्मविपाक की नियतता को सूचित करते हैं, वही बौद्ध दर्शन में दृष्ट-धर्मवेदनीय नियत विपाक कर्म, उपपद्य-वेदनीय नियत विपाककर्म, दृष्ट धर्म वेदनीय अनियत विपाक कर्म, उप-पद्यवेदनीय अनियतविपाक कर्म तथा अपरापर्यं अनियत विपाक कर्म

१. जैनसिद्धान्त बोलसंग्रह, भाग ३, पृ० १८२। जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ३३२ से उद्धृत।

२. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ४८०।

आदि क्रमशः कर्मविपाक की नियतता एवं अनियतता पर प्रकाश डालते हैं।^१

इस प्रकार कर्मविपाक की नियतता एवं अनियतता के सम्बन्ध में बौद्ध एवं जैन धर्मों में बहुत कुछ समानता है।

कर्मफल संविभाग सम्बन्धी जैन एवं बौद्ध मतों की पारस्परिक तुलना

जहाँ तक कर्मफल संविभाग एवं कर्मफल असंविभाग के सन्दर्भ में जैन एवं बौद्ध मतों की तुलना का प्रश्न है, दोनों में कतिपय भिन्नता है। जैन दर्शन में कर्मफल संविभाग को अस्वीकार किया गया है। इस दर्शन का यह मन्तव्य है कि किसी भी रूप में कर्मफल का संविभाग नहीं हो सकता। कर्म करने वाला व्यक्ति अनिवार्य रूप से कर्मानुसार फल का उपभोग करता है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि “संसारो जीव अपने और अन्य बन्धु बान्धवों के लिए साधारण कर्म करता है, किन्तु उस कर्म के फलोदय के समय कोई भी बन्धु-बान्धव उसका हिस्सेदार नहीं होता।”^२ इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थल पर उल्लेख है कि “उसके दुःख को न जाति के लोग बाँट सकते हैं, और न मित्र, पुत्र और बन्धु ही। वह स्वयं अकेला ही प्राप्त दुःखों को भोगता है क्योंकि कर्म कर्ता के पीछे चलता है।”^३ भगवतीसूत्र में महावीर भी यही कहते हैं कि “मनुष्य स्वकृत दुःख-सुख का भोग करते हैं, परकृत का नहीं।”^४ किन्तु बौद्ध दर्शन से इस सन्दर्भ में कुछ भिन्न सूचना मिलती है। उसमें यह माना गया है कि पुण्य या कुशल कर्मों का संविभाग हो सकता है पर अकुशल कर्मों का संविभाग नहीं हो सकता। आचार्य नरेन्द्रदेव लिखते हैं कि “सामान्य नियम तो यह है कि कर्म स्वकीय है, जो कर्म करता है वही (सन्तान प्रवाह

१. (क) बौद्ध धर्म दर्शन अध्याय १३, पृ० २६७।

(ख) जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम भाग, पृ० ३२३।

२. संसारमावन्न परस्स अट्ठा साहारणं जं च करेइ कम्मं।

कम्मस्स ते तस्स उ वेय-काले न बन्धवा बन्धवयं उवेन्ति ॥

—उत्तराध्ययन, ४/४

३. न तस्स दुख विभयन्ति नाइओ न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।

एवको सयं पच्चणुहोइ दुक्खं कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं ॥

वही, १३/२३

४. भगवती सूत्र, १/२/६४

की अपेक्षा से) उसका फल भोगता है किन्तु पालिनिकाय में जो “पुण्य-परिणमना” (पत्तिदान) शब्द का प्रयोग है वह यह सूचित करता है कि हम अपने पुण्य में दूसरों को सम्मिलित कर सकते हैं पाप में नहीं।^१ इस उल्लेख से यह फलित होता है कि बौद्धदर्शन में कुशल कर्मों के फल संविभाग को स्वीकार किया गया है।

अन्त में इन वर्णनों की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए यही कहा जा सकता है कि कर्म फल के संविभाग के सन्दर्भ में जैन एवं बौद्ध मतों में कुछ भिन्नता है। जहाँ जैन दर्शन में कर्मफल संविभाग को अस्वीकार किया गया है, वही बौद्ध दर्शन में कुशल कर्मों के फलसंविभाग को स्वीकार किया गया है।

परन्तु बौद्ध दर्शन का यह मत बहुत न्यायसंगत नहीं लगता। कुशल कर्मों में अन्य व्यक्तियों को भागीदार एवं अकुशल कर्मों में उन्हें भागीदार न बनाने की बात थोड़ी विवादास्पद लगती है। यह कौन-सी विडम्बना है कि हमारे कुशल कर्मों के फलोपभोग में तो दूसरे व्यक्ति हिस्सेदार हो, परन्तु अकुशल कर्मों के फलोपभोग में वे हिस्सा न लें। यदि फल संविभाग को मानना ही है तो उसमें कुशल एवं अकुशल दोनों ही प्रकार के कर्मों के फल संविभाग को स्वीकार करना चाहिये। पर मात्र कुशल कर्मों का ही संविभाग कर्मफल की वास्तविकता पर कुछ प्रश्नचिह्न लगाते हैं। अतः जैनधर्म की कर्मफल असंविभाग की अवधारणा ही न्याय-संगत लगती है।

परन्तु वर्तमान सामाजिक सन्दर्भों में ऐसा अवश्य लगता है कि व्यक्ति के शुभाशुभ कर्म का प्रभाव दूसरे पर भी पड़ता है। वंशानुगत प्रभाव को स्वीकार करने पर हमें यह मानना होगा कि पूर्वजों के अच्छे-बुरे कर्म का फल सन्तान को भोगना होता है। इसी प्रकार बौद्धदर्शन में कर्मसिद्धान्त से सम्बन्धित संवर,^२ निर्जरा^३ तथा निर्वाण^४ सम्बन्धी विवरण भी उपलब्ध

१. देखें, जैनकर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २२।

२. (क) संयुक्तनिकाय, ३४/२/५।

(ख) धम्मपद, ३६०-३६१।

३. अंगुत्तरनिकाय, ३/७४।

४. आस्पेक्ट ऑफ महायान इन रिलेशन टू हीनयान, पृ० १४५।

उद्धृत, जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रथम भाग, पृ० ४२३।

होते हैं, जिनकी जैनदर्शन सम्मत संवर, निर्जरा तथा मोक्ष से अधिकाधिक समानता है। यद्यपि यत्र-तत्र इनसे सम्बन्धित विवरणों में कुछ अन्तर भी दृष्टिगत होते हैं, किन्तु इन सबकी विस्तृत विवेचना यहाँ सम्भव नहीं है।^१

सांख्यदर्शन के कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी दृष्टिकोणों की जैन दृष्टिकोणों से तुलना :

सांख्यदर्शन में कर्मबन्धन एवं मोक्ष से सम्बन्धित कुछ विवरण उपलब्ध होते हैं। यह दर्शन मुख्य रूप से प्रकृति और पुरुष को लेकर बन्धन एवं मोक्ष की अवधारणा का विवेचन प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार स्वरूपतः पुरुष मुक्त है, बन्धन और मुक्ति प्रकृति से सम्बन्धित है। सांख्यदर्शन पुरुष के बुद्धि, अहंकार और मन जैसे चैतसिक तत्त्वों को पूर्णतः जड़ प्रकृति का परिणाम मानता है।^२ सांख्यदर्शन यह मानता है कि बन्धन और मोक्ष पुरुष का नहीं अपितु प्रकृति का होता है। प्रकृति में होने वाले सुख-दुःख आदि को पुरुष अविवेक के कारण अपने में घटित हुआ मान लेता है, यह मान लेना ही बन्धन है तथा इस अविवेक से छुटकारा पाना ही मुक्ति है, वास्तविक दृष्टि से पुरुष में न बन्धन होता है, न मोक्ष, पुरुष का पुनर्जन्म भी नहीं होता, पुनर्जन्म या देहान्तर प्राप्ति वास्तव में लिङ्ग शरीर की होती।^३ प्रकृति के बन्धन को अभिसूचित करते हुए सांख्यकारिका में स्पष्ट कहा गया है कि “प्रकृति अपने ही कार्य—बुद्धि, धर्म, अधर्म, अज्ञान, विराग, राग ऐश्वर्य, अनैश्वर्य आदि धर्मों से अपने को बाँधती है और ज्ञान नामक धर्म से अपने को मुक्त कर लेती है।”^४ सांख्यकारिका में ही एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि प्रकृति और पुरुष के संयोग का स्थल बुद्धि है जिसमें पुरुष तो प्रतिबिम्बित होता

१. विस्तृत विवेचन के लिए पूर्वोक्त उद्धृत, पृ० ४२३।

२. भारतीय दर्शन, डॉ० न०कि० देवराज, पृ० ८७।

३. वही, पृ० ३८७।

४. (क) रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मगा प्रकृतिः।

सैव च पुरुषार्थमप्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥

सांख्यकारिका, ६३

(ख) तस्मान्न बध्यतेऽसौ न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ वही, ६२

है, साथ ही बाह्य जगत् की क्रिया-कलापों की भी सूचना एकत्रित होती है, पर जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित सूर्य बिम्ब के समान ही पानी के हिलने से हिलता हुआ दिखायी देता है। उसी प्रकार पुरुष भी बुद्धि की क्रियाशीलता से सक्रिय प्रतीत होता है और यही पुरुष की बद्धता है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम सांख्यदर्शन और जैन दर्शन में निम्नलिखित समानताएँ और अन्तर पाते हैं—

१. सांख्यदर्शन और जैन दर्शन दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि पुरुष या आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होना मोक्ष है। यद्यपि सांख्यदर्शन पुरुष को स्वरूपतः ही मुक्त मानता है। उसके अनुसार बन्धन और मुक्ति दोनों का सम्बन्ध प्रकृति से है। पुरुष बन्धन में आता नहीं है अपितु बन्धन में प्रतीत होता है। यह प्रतीति प्रकृति के सान्निध्य के कारण है अतः बन्धन और मुक्ति दोनों ही प्रकृति से सम्बन्धित है। यहीं जैन दर्शन का सांख्यदर्शन से अन्तर हो जाता है। जैन दर्शन के अनुसार बन्धन और मुक्ति आत्मा से सम्बन्धित है।

२. बन्धन के प्रमुख कारणों की विवेचना में सांख्यदर्शन अविद्या या अज्ञान को ही बन्धन का एकमात्र कारण मानता है,^१ जबकि जैन दर्शन में मिथ्यात्व अर्थात् अविद्या के साथ-साथ अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को भी बन्धन का कारण माना गया है।^२ यद्यपि सांख्यदर्शन में भी राग-द्वेष को बन्धन का कारण माना गया है, किन्तु इनका अस्तित्व अविद्या के कारण ही है। अतः सांख्यदर्शन में अविद्या ही एकमात्र बन्धन का कारण है।

सांख्यदर्शन पुरुष के सम्बन्ध में बन्धन और मुक्ति दोनों को वस्तुतः अवास्तविक मानता है। उसके अनुसार पुरुष न तो बन्धन में आता है और न मुक्त होता है,^३ जबकि जैनदर्शन बन्धन और मुक्ति को आत्मा से सम्बन्धित मानता है और यह स्वीकार करता है कि आत्मा ही बन्धन में आता है और आत्मा ही मुक्त होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जहाँ एक ओर सांख्यदर्शन बन्धन और मुक्ति दोनों को प्रकृति से सम्बन्धित मानता है, वहीं दूसरी ओर

१. सांख्यकारिका, ६४

२. स्थानाङ्गसूत्र, ५/१/४१८

३. सांख्यकारिका, ६२।

बौद्ध दर्शन बन्धन और मुक्ति को चित्त अर्थात् चेतन सत्ता के साथ सम्बन्धित करता है। जैनों की मान्यता है कि ये दोनों ही मत एकांगी हैं। वस्तुतः बन्धन और मुक्ति दोनों जड़ और चेतन के पारस्परिक प्रभाव के परिणाम हैं, अतः इनमें से किसी एक को बन्धन का कारण मानना एक एकांगी दृष्टिकोण होगा। जड़ और चेतन तत्त्वों का पारस्परिक मिलन ही बन्धन है और इनका पारस्परिक वियोग ही मुक्ति है।

योगदर्शन एवं जैन कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी दृष्टिकोणों पर एक तुलनात्मक दृष्टि

योगदर्शन में क्लेश, क्लिष्टवृत्ति और संस्कार इन सबका सम्बन्ध आत्मा से न जोड़कर चित्त अथवा अन्तःकरण से जोड़ा गया है तथा चित्त एवं अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाले विकार को प्रकृति का परिणाम बताया गया है।^१

कर्मविपाक की चर्चा में योगदर्शन में कर्म का विपाक तीन प्रकार का बताया गया है—जाति, आयु और भोग।^२ जाति पद मनुष्य पशु आदि योनियों को सूचित करता है। आयु पद यह संकेत करता है कि एक निश्चित अवधि तक देह तथा प्राण का संयोग रहता है। भोग सुख एवं दुःख रूप अनुभूति को अभिव्यंजित करता है। इस प्रकार योग-सम्मत ये तीनों पद एक दूसरे से इतने आबद्ध हैं कि एक के अभाव में दूसरे की सम्भावना असम्भव है। क्योंकि व्यक्ति अपने द्वारा किये कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोग तभी कर सकता है जब उसके पास आयु हो और आयु भी वह तभी धारण कर सकता है जब उसने जन्म लिया हो। इस प्रकार योग दर्शनानुसार कर्म से मिलने वाले जाति, आयु एवं भोग रूप तीनों फल परस्पर सम्बद्ध हैं।

यहाँ हम देखते हैं कि योगसम्मत जाति जैन दर्शन के नामकर्म के विपाक से तुलनीय है। इसी क्रम में योग दर्शन के आयु विपाक की तुलना जैन दर्शन के आयुर्कर्म के विपाक से की जा सकती है। योग दर्शन में भोग के तीन अर्थ बताये गये हैं—सुख-दुःख और मोह।^३ अतः जैनसम्मत

१. आत्ममीमांसा, पृ० १०२

२. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। —योगसूत्र, २/१३

३. योगभाष्य, २/१३

वेदनीय कर्म, योगदर्शन के भोग विपाक से सहज ही तुलनीय है। योग-दर्शन में भोग के अर्थ में लिया गया मोह शब्द जैनसम्मत ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और मोहनीय कर्म के विपाक के सदृश है। इसके अतिरिक्त कुछ और अन्तर भी द्रष्टव्य हैं—जैन दर्शन में कर्मविपाक की नियतता एवं अनियतता दोनों को ही स्वीकार किया गया है, जबकि योगदर्शन में कर्मविपाक की अनियतता पर अधिक बल दिया गया है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि पूर्वजन्मीय पापराशि वर्तमान जन्म के पुण्य के प्रभाव से बिना विपाक दिये हुए ही नष्ट हो जाती है।^१

योग दर्शन में कर्मबन्धन के हेतु के रूप में क्लेश को प्रमुख माना गया है,^२ जबकि जैन दर्शन में कषाय और योग अर्थात् क्रिया को। कर्मबन्धन के कारणों में जहाँ योगदर्शन में अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग (आसक्ति), द्वेष तथा अभिनिवेश इन पाँच को प्रमुख कारण माना गया है।^३ वहीं जैनदर्शन में कर्मबन्धन के कारण में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।^४

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि इन दोनों दर्शनों में कर्म-सिद्धान्त के मौलिक स्वरूप में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं है, अन्तर मात्र नामों का है। दोनों ही दर्शनों में बन्धन के कारणों को व्याख्या लगभग एक ही है।

न्याय, वैशेषिक एवं जैन दर्शन के कर्म सम्बन्धी सन्दर्भों की पारस्परिक तुलना

न्यायदर्शन ईश्वर को कर्मफल का नियामक मानता है।^५ परन्तु जैन दर्शन कर्मफल नियामक ईश्वर में विश्वास नहीं करता है। वह यह मानता है कि कर्म स्वतः ही फल देने में सक्षम हैं। मोक्ष की अवस्था को लेकर भी न्यायदर्शन एवं जैनदर्शन में मतभेद है। न्यायदर्शन के अनुसार

१. भारतीय दर्शन, डॉ० न० कि० देवराज, पृ० ४४३।

२. तस्यहेतुरविद्या। —योगसूत्र, २/२४

३. अविद्यास्मितारागद्वेषानिवेशाः क्लेशाः।

वही, २/३

४. पंच आसवदारा पणत्ता तं जहा मिच्छत्तं, अविरइ, पमाए, कसाया, जोगा।

स्थानाङ्गसूत्र, ५/१/४१८

५. ईश्वरः कारणं पुरुष कर्मफला दर्शनात्।

न्यायसूत्र, ४/१९

मोक्ष की अवस्था में आत्मा में न तो चेतना रहती है और न तो किसी प्रकार का आनन्द ही, जबकि जैन दर्शन मुक्तावस्था में चेतना और आनन्द दोनों को मानता है। न्यायदर्शन की मुक्ति की आलोचना करते हुए एक वैष्णव भक्त ने इतना तक कहा है कि वृन्दावन में सियार बनकर रहना न्याय वैशेषिक शास्त्रों के मोक्ष की प्राप्ति से अच्छा है।^१

बन्धन कारणों की चर्चा में दोनों दर्शनों में अधिकाधिक समानता है। न्याय दर्शन में राग-द्वेष एवं मोह को बन्धन का प्रमुख कारण माना है,^२ जैनदर्शन में भी इन्हीं को बन्धन का महत्वपूर्ण कारण माना है।^३

पूर्वमीमांसा के कर्मसम्बन्धी सन्दर्भों की जैन दर्शन के कर्मसिद्धान्त से तुलना :

पूर्वमीमांसा के अनुसार फल को दृष्टि में रखकर मनुष्य कोई भी कर्म करता है। कर्म और उसके परिणाम में एक प्रकार का विशिष्ट सम्बन्ध होता है। कर्म जो आज किया जाता है वह भविष्य काल में तब तक संचित रहता है, जब तक कि वह अपने अदृष्ट परिणाम को जन्म देकर समाप्त न हो जाय। इससे यह स्पष्ट होता है कि कर्म भविष्य में फल प्रदान करने के पूर्व अदृष्ट परिणाम उत्पन्न करने की शक्ति रखता है। उस शक्ति को 'अपूर्व' की संज्ञा प्रदान की गयी है, एवं उसी 'अपूर्व' के आधार पर कर्मफल की व्याख्या की गयी है। जैमिनि का कथन है कि "अपूर्व या तो कर्म फल को पूर्ववर्ती अवस्था है या पश्चात्वर्ती अवस्था, क्योंकि यज्ञादि की व्यवस्था ऐसे निश्चित फलों के लिए की गयी है जो दीर्घकाल के बाद मिलते हैं, अतः फल की प्राप्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उसके लिए अपूर्व को माध्यम न माना जाय।"^४

संक्षेप में, कर्मफल की व्याख्या में पूर्वमीमांसा अपूर्व या अदृष्ट शक्ति को माध्यम बनाता है, जबकि जैन दर्शन कर्म को ही सीधे फल देने में सक्षम मानता है।

जैन दर्शन और पूर्वमीमांसा दोनों ही कर्मफल की व्यवस्था के लिए

१. वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।

न तु वैशेषिकीं मुक्तिं प्रार्थयामिकदाचन॥

सर्वसिद्धान्त संग्रह, नैयायिक पक्ष, प्रकरण, श्लोक ४/४२, पृ० २१-२२।

२. देखें-आत्ममीमांसा, पृ० ९९।

३. उत्तराध्ययन, २३/४३, ३२/७, ३२/९

४. शाबरभाष्य, २/१/५

ईश्वर को माध्यम के रूप में स्वीकार नहीं करते। परन्तु जहाँ पूर्वमीमांसा 'अपूर्व' के माध्यम से कर्मफल की व्यवस्था मानती है, वहाँ जैन दर्शन कर्म-वर्गणाओं में स्वतः फल प्रदान करने की शक्ति मानता है।

योगवशिष्ठ एवं जैन कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी विवरणों की पारस्परिक तुलना :

योगवशिष्ठ में शंकराचार्य के पूर्व के वेदान्त मत का साधारण विचित्र उपलब्ध होता है।

योगवशिष्ठ में संसार के पदार्थों के प्रति प्रबल वासना होने को ही बन्धन कहा गया है।^१ वासना ही बन्धन का मुख्य कारण है। जीव इसके वशीभूत होकर अपने आत्मस्वरूप को भूलकर बन्धन में पड़ जाता है। इसी प्रकार मोक्ष के सम्बन्ध में इस दर्शन की मान्यता है कि "सम्यक् ज्ञानपूर्वक शुद्ध चित्त में सभी इच्छायें नष्ट हो जाने पर चित्त की जो क्षय दशा होती है, उसे मोक्ष कहते हैं।"^२ मोक्ष की दशा में न तो किसी वस्तु के प्रति किसी प्रकार की कोई इच्छा होती है और न उसके प्रति किसी प्रकार का द्वेष भाव हो। उस समय सब इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं। जीव ब्रह्म के गुणों को प्राप्त करता है, साथ ही सब प्राणियों में अपने आपको देखता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व के भाव से भी परे होता है।

इस दर्शन में सदेह एवं विदेह नामक दो प्रकार की मुक्तियों का उल्लेख है।^३ सदेह मुक्ति को जीवन मुक्ति कहा गया है और शरीर त्यागने पर प्राप्त होने वाली दशा को विदेह मुक्ति कहा गया है।^४ मोक्ष प्राप्ति हेतु इस दर्शन में ज्ञान को ही महत्त्वपूर्ण बताया गया है। इसमें यह स्पष्ट किया है कि ज्ञान से ही परमसिद्धि प्राप्त होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि योगवशिष्ठ में कर्मबन्धन के हेतु रूप में

१. पदार्थवासनादाढ्यं बन्ध इत्याभिधियते।

योगवशिष्ठ और उसके सिद्धान्त, बी० एल० आत्रेय, २/२/५

२. न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले।

मोक्षो हि चेतो विमलं सम्यग्ज्ञानविबोधितम्॥

वही, ५/७३/३५

३. द्विविधा मुक्तता लोके संभवत्यनधीकृतकृते।

सदेहका विदेहान्या विभागं च तयोः शृणु॥

वही, ३/४२/११

४. वही, ५/४२/१२-१३

वासना को प्रमुख बताया गया है। वासना के वशीभूत होकर जीव अपने आत्म-स्वरूप को भूल जाता है। जबकि जैन दर्शन में राग-द्वेष आदि कषायों को बन्धन का कारण कहा गया है, जो वासना के ही दूसरे रूप हैं। मोक्ष के सम्बन्ध में भी दोनों यह मानते हैं कि आत्मा की शुद्ध अवस्था ही मोक्ष है।

शंकर के अद्वैत वेदान्त के कर्म सम्बन्धी तत्त्वों की जैन दृष्टिकोणों से तुलना

अद्वैत वेदान्त में बन्धन और मोक्ष सम्बन्धित विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार बन्धन का मूल कारण अविद्या या अज्ञान है। अविद्या आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है, बल्कि जीव की मिथ्या कल्पना का परिणाम है। कहने का अभिप्राय यह है कि जीव के बन्धन का कारण स्वयं उसके मन में ही है, कहीं बाहर नहीं है। शंकर का मन्तव्य है कि यदि हम यह मान कर चलें कि अविद्या आत्मा का स्वाभाविक गुण है तो ऐसी परिस्थिति में अज्ञान का कभी निवारण ही नहीं हो सकता और जीव निरन्तर बन्धन में पड़ा रहेगा।^१ इसलिए यह बन्धन भी केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से सत्य है। पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव न कभी बन्धन में पड़ता है और न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है। शंकर कहते हैं कि बन्धन और मोक्ष दोनों केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है।^२

अद्वैत वेदान्त में बन्धन के कारकों का निवारण कर मुक्ति प्राप्त करने में ज्ञान को महत्त्वपूर्ण माना गया है। शंकराचार्य दृढ़तापूर्वक इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हैं कि ज्ञान (आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान) स्वयं मोक्ष है।^३ मोक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि “आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति ही मोक्ष है।”^४ इसकी दूसरी परिभाषा यह दी गयी है कि ‘अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है’, मोक्ष और अविद्या निवृत्ति एक ही है।^५ शंकराचार्य का कथन है कि मोक्ष की प्राप्ति कर्म

१. शंकरभाष्य, ६/३/४२

२. भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन : एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ० १५६।

३. वही, पृ० १७५।

४. स्वात्मन्यवस्थान मोक्षः।

तै० उ० भा० १/११

५. अविद्यापगमयात्रत्वात् ब्रह्मप्राप्तिफलस्य।

से या ज्ञानकर्मसमुच्चय से नहीं हो सकती, क्योंकि कर्म से निष्पन्न होने वाला कोई पदार्थ नित्य नहीं होता जबकि मोक्षावस्था नित्य है।^१ मोक्ष ज्ञान का उत्पाद्य नहीं है क्योंकि ज्ञान का उत्पाद्य होने पर वह अनित्य हो जायेगा, अतः ज्ञान और मोक्ष एक ही है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर अद्वैत सिद्धान्त एवं जैन दर्शन के बन्धन एवं मोक्ष सम्बन्धी सन्दर्भों में कुछ प्रमुख अन्तर निम्न है—

१. शंकर ने कर्म-बन्धन के कारणों के रूप में अविद्या को प्रमुख कारण माना है, जब कि जैन दर्शन में अविद्या के साथ-साथ, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग को कर्मबन्धन का महत्त्वपूर्ण कारण माना गया है।

२. अद्वैत वेदान्त में बन्धन और मोक्ष को व्यावहारिक दृष्टि से सत्य माना गया है, पारमार्थिक दृष्टि से उसे अवास्तिक और मिथ्या माना गया है। जबकि जैन दर्शन में आत्मा के बन्धन और मोक्ष को मिथ्या या अवास्तविक न मानकर सत्य माना है।

३. अद्वैत वेदान्त में मोक्ष प्राप्ति हेतु एकमात्र ज्ञान को ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। गीता^२ और तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली पर भाष्य करते समय शंकर मोक्ष के साधन के रूप में कर्म और ज्ञान-कर्म समुच्चय के दावों की समीक्षा करते हैं। समीक्षा करने पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कर्म से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है क्योंकि कर्म का परिणाम किसी वस्तु को आरम्भ करना है, किन्तु मोक्ष नित्य है और किसी भी नित्य वस्तु का आरम्भ नहीं किया जा सकता, लोक में जिस वस्तु का भी आरम्भ होता है वह अनित्य हुआ करती है, इसलिए मोक्ष कर्मावबन्ध नहीं है। ज्ञान में भी सब प्रकार के ज्ञान को नहीं, अपितु तत्त्व ज्ञान को ही मोक्ष प्राप्ति हेतु महत्त्वपूर्ण बताया गया है।^३ जबकि जैन दर्शन में ज्ञान के साथ ही साथ सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र्य को भी मोक्ष प्राप्ति का महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है।^४

१. नहि क्रियानिर्वृत्ताऽर्थो नित्यो दृष्टः नित्यश्च मोक्षोऽभ्युपगम्यते।

वही, ४/४/६

२. तै० उ०, १/३ पर शंकर भाष्य।

३. गीता, २/१० पर शंकर भाष्य।

४. सम्यग्दर्शन ज्ञानाचारित्र्याणि मोक्ष मार्गः।

तत्त्वार्थसूत्र, १/१

इन कतिपय अन्तरों के साथ ही दोनों दर्शनों में महत्त्वपूर्ण समानता यह है कि दोनों ही आत्मा की स्वाभाविक दशा को ही मोक्ष मानते हैं। दोनों के अनुसार बन्धन स्वाभाविक दशा न होकर आत्मा को वैभाविक दशा है। यद्यपि शंकर के अनुसार यह विभाव की अवस्था प्रतीतिमात्र है, सत्य नहीं, जबकि जैन दर्शन के अनुसार जब विभाव की दशा प्रतीति न होकर सत्य मानी गयी है। बन्धन के कारण के रूप में शंकर यह स्वीकार करते हैं कि अविद्या या मिथ्यात्व, जिसे जैन परम्परा में मोह कहा गया है, बन्धन का एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

यद्यपि यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि जैन दर्शन में बन्धन के कारण व स्वरूप का कर्मसिद्धान्त के रूप में जो गहन विश्लेषण किया गया है, वैसा शंकर के अद्वैत वेदान्त जैसे गम्भीर दर्शन में भी उपलब्ध नहीं है।

जैन कर्मसिद्धान्त के अन्य भारतीय दर्शनों के कर्मसिद्धान्त से—इस तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन के अतिरिक्त किसी भी भारतीय दर्शन में कर्मसिद्धान्त का इतना गम्भीर विवेचन उपलब्ध नहीं है। भारतीय दर्शनों में, जैन दर्शन को छोड़कर अन्य कोई भी ऐसा दर्शन नहीं है, जिसमें कर्मसिद्धान्त पर स्वतन्त्र रूप से विशालकाय ग्रन्थों को निर्माण हुआ हो। यद्यपि किसी सीमा तक पूर्व मीमांसा ने कर्म की विवेचना की है, किन्तु पूर्व मीमांसा दर्शन में कर्म का तात्पर्य यज्ञ आदि कर्मों से है। इसमें कर्म की विवेचना बन्धन के सिद्धान्त के रूप में नहीं की गयी है। वह केवल विशिष्ट प्रकार के फल के साथ सम्बन्ध सूचित करता है। पूर्व मीमांसा दर्शन की कर्म सम्बन्धी व्याख्याएँ वस्तुतः एक प्रकार की क्रियाकाण्डी विवेचना है, जबकि जैन दर्शन की कर्म सम्बन्धी विवेचना मुख्यतः बन्धन के स्वरूप से सम्बन्धित हैं। जैनकर्म सिद्धान्त की यह भी विशेषता है कि वह कर्म वर्गणाओं के नाम से एक भौतिक तथ्य का संकेत करता है। कर्म के इस भौतिक पक्ष का उल्लेख अन्य भारतीय दर्शनों में प्रायः अनुपलब्ध हो है। यद्यपि भारतीय दर्शनों में अदृष्ट, अपूर्व, या संस्कारों से उत्पन्न लिङ्ग शरीर की कल्पना को गयो है और यह भी माना गया है कि यह लिङ्ग शरीर पुनर्जन्म का कारण होता है तथा एक योनि से दूसरी योनि में संसरण करता है; फिर भी जैनों की कर्म-पुद्गलों के स्वरूप, उनकी स्थिति, रसघात, अनुभाग आदि की जो चर्चा है, उसे हमें विलक्षण मानना होगा। वस्तुतः जैन दर्शन में

२३४ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

कर्मसिद्धान्त को जितना वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया गया है, उतना अन्य किसी दर्शन में नहीं किया गया है। जैन कर्मसिद्धान्त को वैज्ञानिक स्वरूप देने के प्रयत्न का ही यह परिणाम था कि वह आगे चलकर पूर्णतया गणितीय बन गया है जो कर्मसिद्धान्त के सम्बन्ध में जैनों की विशिष्टता का ही परिचायक है।



उपसंहार

जैन कर्मसिद्धान्त की विस्तृत विवेचना और अन्य दर्शनों से उसकी तुलना करने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि कर्मसिद्धान्त के विकास में जैनों का जो अवदान है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः कर्मसिद्धान्त के उद्भव और विकास में जैन आचार्यों ने जो प्रयत्न किया है, वह सराहनीय कहा जा सकता है।

सर्वप्रथम हम यह देखते हैं कि जैन धर्म में कर्मसिद्धान्त का उद्भव किन्हीं विशिष्ट कारणों को लेकर हुआ है। जैसा कि हमने अपनी पूर्व चर्चाओं में स्पष्ट किया है कि जैन कर्मसिद्धान्त का विकास नियतिवाद, स्वभाववाद, ईश्वरवाद आदि अवधारणाओं के विरोध में हुआ है। यद्यपि ये अवधारणाएँ किसी सीमा तक जगत् की व्याख्या तो कर पा रही थीं, किन्तु उनके कारण धर्म और नैतिकता के प्रति जो आस्था अपेक्षित थी, वह विकसित नहीं हो पा रही थी और नैतिक बनाने के लिए मनुष्य में यह आस्था विकसित करना आवश्यक था, कि उसके अपने शुभाशुभ कर्मों का प्रतिफल अवश्य मिलता है। स्वभाववाद, नियतिवाद और ईश्वरवाद इस आस्था को सक्षम रूप से दे पाने में समर्थ नहीं थे। वस्तुतः ये सिद्धान्त मनुष्य में एक प्रकार की अकर्मण्यता और पराश्रितता को उत्पन्न कर रहे थे। जैन आचार्यों ने देखा कि इन सिद्धान्तों के माध्यम से न तो मनुष्य की पुरुषार्थ के प्रति अनन्य आस्था बन सकती है, और न मनुष्य को अनैतिक जीवन से निवृत्त ही किया जा सकता है। यदि हम नियतिवाद और स्वभाववाद को स्वीकार करें, तो वहाँ मानवीय पुरुषार्थ के लिए कोई अवकाश की शेष नहीं रहता है। यदि जीवन को सभी घटनाएँ नियत हैं अथवा स्वाभाविक हैं, तो फिर न तो मनुष्य को अपने शुभाशुभ कर्म के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है और न उन्हें शुभ कर्म करने के लिए प्रेरित ही किया जा सकता है।

यद्यपि ईश्वरवाद ने किसी सीमा तक ईश्वर को कर्म की व्यवस्था का नियामक बनाकर मनुष्य में उत्तरदायित्व की भावना को और कर्मफल व्यवस्था को समीचीन बनाने का प्रयास किया है, किन्तु ईश्वर को जगत् का पूर्ण नियामक मान लेने पर हम किसी सीमा तक

प्रायः नियतिवाद के कब्जे में आ जाते हैं और मानवीय पुरुषार्थ की स्वतन्त्रता कुण्ठित होने लगती है। यदि सभी कुछ ईश्वरीय इच्छा का परिणाम है, तो फिर मनुष्य को अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता है और ऐसी अवस्था में कर्मसिद्धान्त का समग्र ढाँचा ही चरमरा जाता है। ईश्वर को परमकृपालु मान लेने पर भी मनुष्य में अनैतिक जीवन के प्रति न तो भय की भावना का विकास होता है और न तो वह दुराचारों से निवृत्त ही हो पाता है, क्योंकि वह सोचता है कि चाहे कितना ही अशुभ कर्म कर लिया जाय, कल उसे ईश्वर से क्षमा करवाया जा सकेगा। यह जैनों को ही विशेषता थी कि उन्होंने कर्मसिद्धान्त को सर्वोपरि माना और मनुष्य की नैतिकता के प्रति आस्था को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया।

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि मनुष्य को अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्त करने के लिए तथा शुभ कार्यों के लिए प्रेरित करने के लिए यह आवश्यक था कि उसकी कर्मफल के नियम में अनन्य आस्था हो। जैसाकि हमने पूर्व में देखा, जैनों ने इस आस्था को जीवित रखने के लिए भरपूर प्रयास किये हैं और कर्मनियम की स्वतन्त्र व्यवस्था के स्थापन में ईश्वरवाद को तिलांजलि दे दी। उनके दर्शन में कर्म का नियम ईश्वर से भी सर्वोपरि मान लिया गया है और यही कारण है कि उन्होंने संसार के इस सर्वोच्च नियम की सुव्यवस्थित व्याख्या के लिए विपुल साहित्य रचा और यथाशक्ति उसे तार्किक और वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया। कर्मनियम को तार्किक एवं वैज्ञानिक बनाने के इसी प्रयास में जैनों के कर्मसिद्धान्त का विकास हुआ है। मात्र यही नहीं जैनों ने अपनी तत्त्वमीमांसा को भी अपने कर्मसिद्धान्त के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने तत्त्व की एक ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की, जो कर्मनियम की व्यवस्था को सुरक्षित रख सके। एक और उन्होंने एकान्त भौतिकवाद में कर्मसिद्धान्त को चरमराता हुआ देखा, तो दूसरी ओर एक निरपेक्ष अपरिवर्तनशील अद्वैत ब्रह्म की कल्पना में भी कर्मसिद्धान्त की सुव्यवस्थित व्याख्या को असम्भव पाया। इसलिए उन्होंने एकान्तरूप से न तो जगत् को जड़ ही माना और न एकान्त रूप से चेतन ही। उन्होंने जगत् की व्याख्या जड़ और चेतन दोनों की सत्ता स्वीकार करके की। इसी प्रकार बौद्धों के एकान्त क्षणिकवाद में भी उन्हें कर्मनियम की व्याख्या असंगत प्रतीत हुई। उन्होंने एकान्त क्षणिकवाद में कृत-प्रणाश और अकृतकर्मभोग के दोष देखे। उन्हें यह लगा कि क्षणिकवाद को मानकर भी कर्मनियम की व्याख्या सम्भव नहीं

है। दूसरी ओर उन्हें कूटस्थ, अपरिवर्तनशील निरपेक्ष सत्ता की अवधारणा में भी कर्मसिद्धान्त की सुसंगतिपूर्ण व्याख्या सम्भव नहीं दिखायी दी और इसलिए उन्होंने सत्य या तत्त्व को एक ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की, जिसमें नित्य और अनित्य दोनों का ही सामंजस्य था। उन्होंने माना कि स्थायित्व के बीच परिवर्तनशीलता की अवधारणा ही एक ऐसी व्याख्या हो सकती है, जिसमें कर्मसिद्धान्त को सुव्यवस्थित रूप से व्याख्यायित किया जा सकता है। कर्म का नियम न तो मात्र जड़ जगत् में सम्भव है और न मात्र निरपेक्ष चेतन तत्त्व में। वह न तो अनित्यता की धारणा में अपना अस्तित्व रख सकता है और न अपरिवर्तनशील कूटस्थ नित्यता की धारणा में। इसलिए उन्होंने सत् को उत्पाद, व्यय और ध्रुव्यात्मक कहा और अपने कर्मसिद्धान्त की व्याख्या के लिए परिणामी नित्यात्मवाद की अवधारणा प्रस्तुत की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दार्शनिकों ने जगत् की व्याख्या सम्बन्धी विविध अवधारणाओं की समीचीनता का मूल्यांकन करते हुए अपने कर्मसिद्धान्त का विकास किया है। कर्म का नियम जैन दर्शन की वह धुरी है जिसके आस-पास उसका समग्र दर्शन चक्कर लगाता है। यद्यपि यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि जैन कर्मसिद्धान्त का यह तार्किक एवं वैज्ञानिक प्रतिपादन एक ही साथ नहीं हुआ है, उसका कालक्रम में विकास हुआ है। जैसे-जैसे दार्शनिक क्षेत्र में विविध दार्शनिक अवधारणाएँ एवं दार्शनिक व्याख्याएँ अस्तित्व में आयीं, वैसे-वैसे जैनों ने कर्मनियम के सन्दर्भ में उनकी समीक्षा की और अपने कर्मसिद्धान्त को संगतिपूर्ण एवं तार्किक बनाने का प्रयत्न किया। जैनों के कर्मसिद्धान्त का उद्भव चाहे महावीर के काल में हो गया हो, किन्तु उसे सुव्यवस्थित एवं संगतिपूर्ण रूप से प्रस्तुत करने के लिए जैन आचार्यों को लगभग एक सहस्र वर्ष तक प्रयत्न करना पड़ा है।

जैन कर्मसिद्धान्त की विविध अवधारणाएँ किस प्रकार कालक्रम में विकसित होती गयीं, इस बात की सूचना हमें जैन कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी साहित्य का कालक्रम में अध्ययन करने पर मिल जाती है। जैन धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु विद्वानों की यह धारणा है कि जैन कर्मसिद्धान्त का वर्तमान में जो कुछ रूप है, वह तो महावीर के द्वारा प्रतिपादित एवं पूर्वसाहित्य में विवेचित कर्मसिद्धान्त का एक अंश मात्र ही है। यह माना जाता है कि पूर्व साहित्य में 'कर्मप्रवाद' नामक एक

करोड़ अस्सी लाख पदों वाला एक विशालकाय ग्रन्थ था जिसमें जैन कर्मसिद्धान्त को सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादित किया गया था। दिगम्बर परम्परा की यह भी अवधारणा है कि षट्खण्डागम की रचना इसी कर्मप्रवाद नामक ग्रन्थ के आंशिक ज्ञान के आधार पर की गयी थी। किसी सीमा तक यह तो माना जा सकता है कि जैन धर्म में महावीर के पूर्व से चला आ रहा, कर्मविषयक कोई ग्रन्थ रहा होगा, किन्तु इसके जिस विशाल स्वरूप की चर्चा की जाती है, वह हमें तो काल्पनिक ही अधिक लगती है, क्योंकि कालक्रम में निर्मित जैन साहित्य का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी अवधारणाओं का विकास क्रमिक रूप से ही हुआ है।

जैन परम्परा में ईसापूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी तक कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना हो गयी थी, ऐसा हमें ऐतिहासिक प्रमाणों से कहीं ज्ञात नहीं होता है, किन्तु इस काल के प्राचीन जैनागम जैसे आचारांग, सूत्रकृतांग आदि में कर्मसिद्धान्त के यत्र-तत्र बिखरे हुए विवरण अवश्य उपलब्ध होते हैं। इन ग्रन्थों में मुख्य रूप से कर्म के शुभाशुभ परिणामों, उसकी बन्धक शक्ति के उल्लेख मिल जाते हैं। इसमें यह उल्लेख भी प्राप्त है कि कर्मों के बन्धन को तोड़े बिना मुक्ति नहीं मिल सकती है। कर्मरज युक्त कर्म-शरीर को क्षोण करने आदि आचारांग के निर्देश कर्म की पौद्गलिकता के सन्दर्भ में भी कुछ संकेत अवश्य ही देते हैं। इन ग्रन्थों की अपेक्षा कुछ परवर्ती काल के ग्रन्थ जैसे उत्तराध्ययन, स्थानांग, भगवती एवं तत्त्वार्थसूत्र में कर्मसिद्धान्त के कुछ विस्तृत विवरण उपलब्ध होते हैं। ये सभी ग्रन्थ ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर ईसा की चौथी शताब्दी के बीच में निर्मित हैं। इन ग्रन्थों में कर्म सम्बन्धी स्वतन्त्र अध्याय भी उपलब्ध होते हैं, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन ग्रन्थों के काल तक कर्मसिद्धान्त सुव्यवस्थित रूप से निर्मित हो रहा था।

कर्मसिद्धान्त विषयक जो भी स्वतन्त्र ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं, वे ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी से लेकर ईसा की दसवीं, ग्यारहवीं शताब्दी तक के हैं। कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी स्वतन्त्र ग्रन्थों के लेखन में सर्वप्रथम स्थान षट्खण्डागम और कसायपाहुड़ का आता है। इन दोनों ही ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त दिगम्बर परम्परा में गोम्मटसार, लब्धिसार आदि ग्रन्थ भी निर्मित हुए। साथ ही षट्खण्डागम और कसायपाहुड़ पर ध्वला और जयध्वला

नामक विशालकाय टोकाएँ भी लिखी गयीं। इन सभी ग्रन्थों में जैन कर्मसिद्धान्त अपने सुव्यवस्थित तथा वैज्ञानिक स्वरूप में उपस्थित है। जैसाकि हमने अपने शोधप्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में स्पष्ट किया है कि गोम्मटसार में कर्मसिद्धान्त पूर्णतः गणितीय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। गोम्मटसार जैन कर्मसिद्धान्त को तार्किक, वैज्ञानिक और गणितीय रूप में प्रस्तुत करता है जिसे जैन कर्मसिद्धान्त का एक सर्वविकसित स्वरूप कहा जा सकता है।

इस कालावधि में श्वेताम्बर परम्परा के भी कर्म, प्रकृति पंचसंग्रह, प्राचीन षट्कर्मग्रन्थ एवं नवीन पंचकर्मग्रन्थ आदि लिखे गये हैं, फिर भी हमें निष्पक्ष रूप से यह स्वीकार करना होगा कि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों की तुलना में श्वेताम्बर परम्परा के कर्म सम्बन्धी ग्रन्थ अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ नहीं कहे जा सकते। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में कर्म-सिद्धान्त की जो सूक्ष्म एवं गम्भीर विवेचना है, वैसी श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में नहीं मिलती है।

जैन कर्मसिद्धान्तविषयक साहित्य के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनका कर्मसिद्धान्त चिन्तन के क्रमिक विकास का परिणाम है। जहाँ तक जैन कर्मसिद्धान्त के दार्शनिक स्वरूप का प्रश्न है, हमने अपने इस शोध निबन्ध के तीसरे अध्याय में इस पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। जैन कर्मसिद्धान्त के दार्शनिक स्वरूप का अध्ययन हमें स्पष्ट रूप से यह बताता है कि जैनों ने अन्य दर्शनों की दार्शनिक अवधारणाओं की समीक्षा के माध्यम से ही अपने कर्मसिद्धान्त का विकास किया है।

सर्वप्रथम उन्होंने यह देखने का प्रयत्न किया है कि कौन-कौन-सी दार्शनिक मान्यतायें ऐसी हैं जो कर्मसिद्धान्त की संगतिपूर्ण व्याख्या देने में समर्थ नहीं हैं। सूत्रकृतांग में कालवाद, नियतिवाद, पंचस्कन्धवाद, ईश्वरवाद और भौतिकवाद की जो समीक्षाएँ प्रस्तुत की गयी हैं, वे स्पष्ट रूप से जैन कर्मसिद्धान्त की स्थापना की दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार करती हैं। जैन कर्मसिद्धान्त की कुछ अवधारणाओं जैसे—कर्म का चैतसिक एवं भौतिक पक्ष, कर्मबन्धन की प्रक्रिया, कर्मों के विविध प्रकार और उनके बन्धन के विविध कारण आदि का निर्माण ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी तक हो गया था। इन विवेचनों में हम यह भी पाते हैं कि जैन दार्शनिकों ने एक तार्किक

एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया था। उदाहरण के रूप में ज्ञानावरणीय कर्म के बन्धन और विपाक की चर्चा करते हुए उन्होंने बताया कि ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधन की उपेक्षा करने वाला और उनकी निन्दा करने वाला व्यक्ति ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध करता है और परिणामस्वरूप उसका ज्ञान कुण्ठित या आवरित हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक कर्म एवं उनके प्रकार, बन्धन के कारण और कर्मविपाक की चर्चा जैनो ने संगतिपूर्ण ढंग से की है। जैन आचार्यों ने जैन कर्मसिद्धान्त पर किये गये उन सभी आक्षेपों के निराकरण का प्रयास भी किया है ताकि जैन कर्मसिद्धान्त को एक तार्किक आधार दिया जा सके। इन सबकी चर्चा हम इस शोध-प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में जैन आचार्यों की जो विशेषता रही है, वह यह है कि उन्होंने अपने कर्मसिद्धान्त के प्रस्तुतीकरण और इस पर किये गये आक्षेपों के निराकरण के लिए ऐकान्तिक दृष्टिकोण न अपनाकर अनैकान्तिक दृष्टिकोण अपनाया है। वे अपने प्रतिपक्ष की अवधारणाओं को असत्य कहकर पूर्णतया उन्हें निरस्त नहीं करते हैं, बल्कि उनकी विशेषता यह रही है कि उन्होंने प्रतिपक्षों की आंशिक सत्यता को स्वीकार करते हुए उन्हें समन्वित और संयोजित किया है। उदाहरण के रूप में आचार्य हरिभद्र ने ईश्वरवाद की अवधारणा को अपने कर्मसिद्धान्त की अवधारणा में संगतिपूर्ण ढंग से समन्वित कर लिया है। वे कहते हैं कि आत्मा ही ईश्वर है और वही अपने जगत् का अर्थात् अपने शुभाशुभ भावों का निर्माता है और इस प्रकार ईश्वर कर्तृत्ववाद भी कर्मनियम में सुव्यवस्थित सिद्ध होता है। यद्यपि जैनकर्मसिद्धान्त में कुछ प्रसंग ऐसे भी हैं जहाँ जैन आचार्यों ने अपनी अनैकान्तिक उदार दृष्टिकोण का प्रतिस्थापन न करके निरपेक्ष रूप से कथन किये हैं, जैसे कर्मफल संविभाग की अवधारणा को वे पूर्णतया निरस्त कर देते हैं। जहाँ कर्म के चेतन और अचेतन पक्षों के सम्बन्ध में अथवा कर्मविपाक की नियतता और अनियतता के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण अनैकान्तिक है वहीं कर्मफल और संविभाग के सन्दर्भ में उनका दृष्टिकोण ऐकान्तिक है। कर्मफल की व्यवस्था के सम्बन्ध में भी वे कर्म-पुद्गल को ही सर्वोपरि मान लेते हैं और कर्मफल व्यवस्था के लिए ईश्वर को आवश्यक नहीं समझते।

कर्मसिद्धान्त की तुलनात्मक विवेचना में हम देखते हैं कि जैन हिन्दू

और बौद्ध तीनों ही परम्पराओं में समान रूप से इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि बन्धन का मूलभूत कारण मिथ्यात्व, अविद्या एवं माया है। यदि हम तात्त्विक गहराइयों में न जायें तो जैनों का मिथ्यात्व, बौद्धों की अविद्या एवं हिन्दू परम्परा की माया का समानार्थी है। दार्शनिक दृष्टि से उनके स्वरूप में अन्तर है, किन्तु सामान्यतया ये सभी व्यक्ति की दृष्टि के सत्य के विपरीत होने एवं ज्ञानाभाव के सूचक हैं। बन्धन के कारणों की चर्चा के इस प्रसंग में तीनों परम्पराओं में इस दृष्टि से समानता है कि जहाँ जैन परम्परा में राग को बन्धन का आधार माना गया है वहीं बौद्ध परम्परा में तृष्णा को एवं हिन्दू परम्परा में आसक्ति को बन्धन का कारण माना गया है। राग, तृष्णा और आसक्ति भी सामान्यतया समान अर्थ के ही सूचक हैं। वस्तुतः तीनों के अनुसार राग या तृष्णा या आसक्ति ही वास्तविक बन्धन है। बन्धन के स्वरूप की विवेचना में जैन परम्परा बौद्ध और वैदिक परम्परा से किञ्चित् साम्य और किञ्चित् अन्तर है। बौद्धों और वेदान्तियों के अनुसार बन्धन एक चैतसिक तथ्य है और व्यक्ति के मनोभावों पर ही निर्भर करता है जबकि जैन परम्परा में बन्धन को चैतसिक के साथ-साथ भौतिक भी माना गया है। यद्यपि इस प्रश्न पर तीनों परम्पराएँ सहमत होती हैं कि प्रधानता चैतसिक पक्ष की है। चित्त की वृत्तियाँ ही बन्धन उत्पन्न करती हैं और वे ही मुक्ति की दिशा में ले जाती हैं।

जैनों ने जिस प्रकार कर्म के द्रव्य एवं भाव दो पक्ष माने हैं, वैसे अवधारणा हमें हिन्दू एवं बौद्ध परम्परा में नहीं मिलती है। बन्धन से मुक्ति के उपाय के प्रश्न को लेकर सामान्यतया तीनों परम्परायें श्रद्धा, ज्ञान और आचरण को मुक्ति के मार्ग के रूप में स्वीकार करती हैं। हिन्दू परम्परा में उन्हें ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्म-योग कहा गया है तो बौद्ध परम्परा में ये श्रद्धा, प्रज्ञा और शील के रूप में जाने गये हैं, यद्यपि बौद्धों में प्रज्ञा, शील और समाधि की अवधारणा अधिक प्रचलित है। जैन परम्परा में उन्हें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र्य के रूप में स्वीकार किया गया है। यदि हम इन तीनों पक्षों में प्रधानता के पक्ष को लेकर चर्चा करें तो हमें तीनों परम्पराओं में कुछ अन्तर भी दृष्टिगत होता है। शांकर वेदान्त को छोड़कर सामान्यतया हिन्दू परम्परा में श्रद्धा या भक्ति को अधिक प्रधानता दी गयी है, जबकि बौद्ध परम्परा प्रज्ञा को अधिक प्रधानता देती है किन्तु जैन परम्परा उनमें से किसी एक को प्रधान न मानकर तीनों के समन्वय से ही मुक्ति

मानती है। हिन्दू परम्परा में कुछ विचारकों ने केवल ज्ञान से, कुछ ने केवल भक्ति से और कुछ ने कर्म या साधना से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव मानी है किन्तु जैन परंपरा इनमें से किसी एक के द्वारा मुक्ति को संभव नहीं मानती है, उसमें तीनों पक्ष समन्वित होकर मोक्ष का मार्ग बनते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन कर्मसिद्धान्त का अन्य परंपराओं से आंशिक रूप से समानता और आंशिक रूप से विषमता है, फिर भी इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि जैनों ने कर्मसिद्धान्त का जितना गम्भीर विश्लेषण किया है, उतना अन्य धर्मों एवं दर्शनों में नहीं हो पाया है। सम्भवतः हमारा यह अध्ययन इस दिशा में लोगों को प्रेरणा देगा जिससे जैन कर्मसिद्धान्त के अनेक अपठित पृष्ठ फिर से विद्वानों के समक्ष आयेंगे। जैन कर्मसिद्धान्त की केवल दार्शनिक और ऐतिहासिक विवेचना ही पर्याप्त नहीं है, इसकी वैज्ञानिक और गणितीय व्याख्याओं को स्पष्ट करना और उन पर शोध करना भी आवश्यक है। आशा है कि भविष्य में जैन कर्मसिद्धान्त के इन पक्षों पर काम होगा किन्तु हम अपनी सीमा और शक्ति को समझते हुए यहीं विराम लेना चाहेंगे।



सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

मूल ग्रन्थ

- अंगुत्तर निकाय : हिन्दी अनुवादक, भदन्त आनन्द कौशल्यायन, प्रका०, महा-
बोधि सभा, कलकत्ता ।
- अन्तकृद्दशा : सम्पा०, श्री मिश्रीमल जी महाराज “मधुकर” अनु०, साध्वी
दिव्यप्रभा, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर,
राजस्थान, सन् १९८१ ।
- अभिधर्मकोश, आचार्य वसुबन्धु, अनु०, नरेन्द्रदेव, हिन्दुस्तानी एकेडमी,
भाग १ : उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, सन् १९५८ ।
- अष्टादश-उपनिषद् सम्पादक, आचार्य वि० प्र० लिमये, वैदिक संशोधन मण्डलम्,
प्रथम खण्ड : पुण्यपत्तनम्, सन् १९५८ ।
- आचारांग सूत्र अनु०, श्रीचन्द्र सुराना “सरस”, आगम प्रकाशन, समिति,
(प्रथम व द्वितीय व्यावर, राजस्थान, सन् १९८० ।
- श्रुतस्कन्ध :
आयारो : सम्पादक एवं विवेचक मुनि नथमल, जैन विश्व भारती
लाङ्गून, राजस्थान, वि० सं० २०३१ ।
- इसिभासियाई सूत्र : अनु० श्री मनोहर मुनि, सुधर्मा ज्ञानमन्दिर, १७०, कांदाबाडी
बम्बई, नं० ४, सन् १९६३ ।
- उत्तराध्ययन सूत्र : अनुवादक साध्वी चन्दना, वीरायतन राजगृह, सन् १९७२ ।
- उपासकदशांग सूत्र : अनु०, श्री आत्माराम जी महाराज, सम्पा०, इन्द्रचन्द्र
शास्त्री, आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति,
लुधियाना, सन् १९६४ ।
- १०८ उपनिषद् सम्पा०, पं० श्रीराम शर्मा, प्रका० डॉ० चमन लाल गौतम
(ज्ञानखण्ड) : संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुबवेग नगर बरेली, सन् १९८२ ।
- कर्मग्रन्थ (प्रथम श्री देवेन्द्र सूरि, सम्पा० श्रीचन्द्र सुराना “सरस”, मरुधर-
भाग) : केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर-व्यावर, सन्
१९७४ ।
- कर्मग्रन्थ (दूसरा देवेन्द्र सूरि, श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल रोशन
मोहल्ला, आगरा, सन् १९१८ ।

२४४ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

- कर्मप्रकृति (गुर्जर शिवशर्म सूरि, श्रेष्ठिवर्य्य श्री माणिकलाल, चुनोलाल, भाषार्थ सहित) : राजनगर, अहमदाबाद, १९३८ ।
- कर्मविपाक : देवेन्द्र सूरि, अनु०, सुखलालजी, जवाहरलाल नाहुटा, मंत्री (कर्मग्रन्थ प्रथम) : श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा, सन् १९३९ ।
- कसायपाहुड सुत्त : गुणधराचार्य, सम्पादक एवं अनुवादक, पण्डित हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, छोटेलाल जैन, वीर शासन संघ २९ इन्द्र विश्वास रोड, कलकत्ता ३७, सन् १९५५ ।
- कसायपाहुड : सम्पा०, पण्डित फूलचन्द्र, साहित्य विभाग, भारतीय दिगम्बर (जयधवला सहित) जैन संघ, चौरासी मथुरा ।
- भाग १ से १३ :
- गोम्मटसार : नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, सम्पा० आदिनाथ नेमिनाथ (जीवकाण्ड) : उपाध्ये, भारतीय ज्ञानपीठ, कर्नाट प्लेस, नयी दिल्ली, सन् १९७८ ।
- गोम्मटसार : नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, अनु० पण्डित मनोहर लाल, (कर्मकाण्ड) : रावजी भाई छगन भाई देसाई परमश्रुत प्रभावक मण्डल राजचन्द्र आश्रम, अगास, सन् १९७१ ।
- जीवाभिगमसूत्र : अनु०, श्री अमोलक ऋषि, राजाबहादुर लाला सुखदेव सहाय जी ज्वालाप्रसाद जी जौहरी, जैन शास्त्रोद्धार मुद्रणालय, सिकन्दराबाद ।
- ज्ञाताधर्मकथाङ्ग : अनुवादक, पं० शोभाचन्द्रभारिल्ल, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर राजस्थान, सन् १९८१ ।
- तत्त्वानुशासन : श्री रामसेनाचार्य, सम्पा०, युगलकिशोर मुस्तार, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दरियागंज दिल्ली-६, सन् १९६३ ।
- तत्त्वार्थवार्तिक : भट्टाकलंकदेव, सम्पा० प्रो० महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, बनारस-४, सन् १९४४ ।
- तत्त्वार्थसूत्र : उमास्वाति, सम्पा० डॉ० मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ शोध संस्थान, वाराणसी-५, तृतीय संस्करण, सन् १९७६ ।
- धम्मपद : सम्पादक एवं अनुवादक भिक्षु धर्मरक्षित, मास्टर खेलाड़ी लाल एण्ड सन्स, संस्कृत बुक डिपो, कचौड़ी गली, बनारस-१, सन् १९५३ ।
- पंचास्तिकाय : कुन्दकुन्दाचार्य, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल आगास, गुजरात, विक्रम संवत् २०२५ ।

- पंचसंग्रह (प्रथम श्रीचन्द्र महतराचार्य, अनुवा० तथा प्रका० हीरालाल देवचन्द्र एवं द्वितीय खण्ड) : वढकाणवाणा, भगवानदास जैन सोसायटी नं० १५, अहमदाबाद, सन् १९३५, सन् १९४१ ।
- पन्नवणासूत्र : अनु०, मुनि श्री अमोलक ऋषि, राजाबहादुर लाला सुखदेव सहाय, ज्वालाप्रसाद जी ।
- प्रश्नव्याकरणसूत्र : व्याख्याकार, पं० हेमचन्द्र जी महाराज, सम्पा० श्री अमर मुनि, सन्मति ज्ञानपीठ लोहामण्डी आगरा-२, सन् १९७३ ।
- बन्धस्वामित्व : देवेन्द्रसूरि, आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा, तीसरा कर्मग्रन्थ : सन् १९२७ ।
- भगवती सूत्र : सम्पा० पं० घेवरचन्द्र जी बाँठिया, अखिल भारतीय साधु- (१-७ भाग) : मार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना, मध्य प्रदेश ।
- श्रीमद्भगवद्गीता : गीता प्रेस, गोरखपुर ।
- मनुस्मृति : हिन्दी व्याख्याकार, पण्डित हरगोविन्द शास्त्री, सम्पा० पं० गोपालशास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी १, सन् १९७० ।
- महाभारतम्, : शंकर नरहर जोशी, चित्रशाला प्रेस, पुणे, सन् १९२९ ।
- आदिपर्व, सभापर्व
- महाभारत, : शंकर नरहर जोशी, चित्रशाला प्रेस, पुणे, सन् १९३२ ।
- शान्तिपर्व
- मिलिन्दपन्हो : सम्पा० द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती वाराणसी-१, सन् १९७९ ।
- मीमांसाश्लोक- : भट्ट कुमारिल, व्याख्याकार, पण्डित दुर्गाधर झा. दरभंगा
- वार्तिक : संस्कृत विश्वविद्यालय दरभंगा, १९७९ ।
- योगदर्शन : महर्षि पतञ्जलि, व्याख्याकार, श्री हरिकृष्ण दास, गोयनका, गीताप्रेस. गोरखपुर ।
- लब्धिसार : नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्त चक्रवर्ती, अनु०, पण्डित मनोहरलाल (क्षपणसारगर्भित) : शास्त्री, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, जेवरी बाजार, बाम्बे, सन् १९१६ ।
- विपाकसूत्र : सम्पा०, श्री अमर मुनि, आगम प्रकाशन समिति जैनस्थानक, ब्यावर, राजस्थान, सन् १९८२ ।
- विशुद्धिमार्ग : अनु०, त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, (पहला भाग) : सारनाथ, वाराणसी, १९५६ ।
- विशुद्धिमार्ग : आचार्य बुद्धघोष, अनुवादक भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि (दूसरा भाग) : सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५७ ।

२४६ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

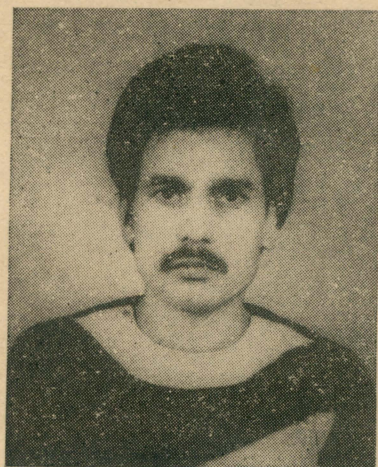
- वेदान्तसार : सदानन्द योगीन्द्र, हिन्दी अनुवादक सन्त नारायण श्रीवास्तव, पीयूष प्रकाशन, इलाहाबाद ।
- शतक (पंचम कर्मग्रंथ) : देवेन्द्रसूरि, अनु०, पं० सुखलालजी, श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा ।
- शास्त्रवार्तसमुच्चय : श्री हरिभद्रसूरि, व्याख्याकार श्री यशोविजय महाराज, प्रका० दिव्यदर्शन ट्रस्ट कुमार पाल वि० शाह गुलालवाडी, बम्बई ४, विक्रम संवत् २०३६ ।
- षड्दर्शनसमुच्चय : हरिभद्रसूरि, सम्पा० डॉ० महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७, सन् १९४४ ।
- षडशीति-अपरनामक देवेन्द्रसूरि, अनु० पं० सुखलाल जी, श्री आत्मानन्द जैन चौथा कर्मग्रन्थ : पुस्तक प्रचारक मण्डल, रोशन मुहल्ला, आगरा, सन् १९२२
- षट्खण्डागम पुस्तक पुष्पदन्त भूतबलि, सम्पा० हीरालाल जैन साहित्योद्धारक १ से १६ धवला- फण्ड, अमरावती (वाराणसी)
- टीका समन्वित :
- समयसार : कुन्दकुन्दाचार्य, सम्पा०, पण्डित पन्नालाल साहित्याचार्य, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, सन् १९६९ ।
- समवायांग सूत्र : अनुवादक, पण्डित हीरालाल शास्त्री, प्रधान सम्पा० युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राजस्थान, सन् १९८२ ।
- सांख्यकारिका : ईश्वरकृष्ण, अनु० ब्रजमोहन चतुर्वेदी, प्रका० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६, प्रथम संस्करण, १९६९ ।
- सुतनिपात : अनुवादक भिक्षु धर्मरत्न, भिक्षु संघरत्न मंत्री, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, सन् १९५१ ।
- सूत्रकृतांगसूत्र : अनुवादक एवं व्याख्याकार श्री हेमचन्द्रजी महाराज, सम्पा०, अमर मुनि, आत्म ज्ञानपीठ जैन धर्मशाला, मानसा मण्डी, पंजाब सन् १९८१ ।
- स्थानाङ्ग सूत्र : सम्पा०, मुनि श्री कन्हैयालाल 'कमल', आगम अनुयोग प्रकाशन परिषद वस्तावरपुरा सांडेराव (फालना, राजस्थान), प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९७२ ।
- स्याद्वादमंजरी : हेमचन्द्राचार्य, सम्पा०, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, राजचन्द्र आश्रम आगास, गुजरात सन् १९७० ।
- सहायक ग्रन्थ
- आत्ममीमांसा : पं० दलसुख मालवणिया, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस-५, १९५३ ।

- उपनिषद्-दर्शन का रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, रचनात्मक सर्वेक्षण : जयपुर, सन् १९७१ ।
- कर्मवाद एक अध्ययन : सुरेश मुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् १९६५ ।
- कर्मवाद और लल्लीप्रसाद पाण्डेय, इण्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग, जन्मान्तर : संवत् १९८६ ।
- कर्मसिद्धान्त एक श्रीमती एनी बेसेंट, थियोसोफिकल सोसायटी कमच्छा, अध्ययन : वाराणसी—१, सन् १९६८ ।
- चिन्तन की उपाध्याय अमर मुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा—मनोभूमि : २, सन् १९७० ।
- जीवन की डॉ० राधाकृष्णन्, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, आध्यात्मिक दृष्टि : दिल्ली, सन् १९६२ ।
- जैन ग्रन्थ और सम्पादक फतेहचन्द्र बेलानी, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, ग्रन्थकार : बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस, सन् १९५० ।
- जैन दर्शन : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन, प्रका० मंत्री श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, डुमरावबाग अस्सी, वाराणसी—५ ।
- जैनदर्शन का दलसुख मालवणिया, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति आदिकाल : विद्या मन्दिर, अहमदाबाद ९, सन् १९८० ।
- जैनदर्शन-भवन और मुनि नथमल, प्रबन्धक आदर्श साहित्य संघ, चूरु, राजस्थान, मीमांसा : सन् १९७३ ।
- जैनदर्शन स्वरूप देवेन्द्रमुनि शास्त्री, तारक गुरु जैन ग्रन्थालय शास्त्री सर्कल, और विश्लेषण : उदयपुर, राजस्थान, सन् १९७५ ।
- जैन, बौद्ध और डॉ० सागरमल जैन, प्रका० राजस्थान प्राकृत भारती गीता के आचार-संस्थान, जयपुर, सन् १९८२ ।
- दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, (भाग १) :
- जैनसाहित्य का पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन इतिहास प्रथम भाग : ग्रन्थमाला, डुमराव कालोनी अस्सी, वाराणसी ।
- जैनसाहित्य का बृहद् डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, डॉ० मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ इतिहास, भाग २ : विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी—५, सन् १९६६ ।
- जैनसाहित्य का डॉ० मोहनलाल मेहता व प्रो० हीरालाल २० कापड़िया, बृहद् इतिहास, सम्पा०, पं० दलसुख मालवणिया व डॉ० मोहनलाल मेहता, भाग ४ : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, सन् १९६८ ।
- दर्शन और चिन्तन : पण्डित सुखलाल जी, प्रका० पण्डित सुखलाल सन्मान समिति गुजरात विद्यासभा भद्र, अहमदाबाद, सन् १९५७ ।

२४८ : जैन कर्मसिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

- बुद्धदेव : शरत्कुमार राय, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, सन् १९३४ ।
- बौद्धधर्म दर्शन : लेखक, आचार्य नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-३, विक्रम संवत् २०१३ ।
- बौद्धदर्शन तथा अन्य भरतसिंह उपाध्याय, प्रका० बंगाल हिन्दी मण्डल, भारतीय दर्शन, कलकत्ता-१, सं० २०११ ।
- प्रथम भाग :
- भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय, गौरीशंकर उपाध्याय, जतनवर, बनारस, सन् १९४२ ।
- भारतीय दर्शन : सम्पा० एन० के० देवराज, प्रका० उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, द्वितीय संस्करण १९७८ ।
- भारतीय दर्शन डॉ० राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली ६, १९६६ ।
- भारतीय दर्शन के डॉ० वशिष्ठ नारायण सिन्हा, श्री रामकृष्ण पुस्तकालय, प्रमुख सिद्धान्त : विवेकानन्द रोड, वाराणसी ।
- भारतीय दर्शन में डॉ० अशोक कुमार लाड, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ आदमी, मोक्ष चिन्तन : एक भोपाल, १९७३ ।
- तुलनात्मक अध्ययन :
- मिथ्यात्वी का श्रीचन्द्र चोरड़िया, जैन दर्शन समिति, डोवर लेन, आध्यात्मिक विकास : कलकत्ता, सन् १९७७ ।
- योगवासिष्ठ और भीखमलाल आत्रेय, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, सन् उसके सिद्धान्त : १९५७ ।
- वैदिक दर्शन : डॉ० कुँवर लाल, इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९८०-८१ ।
- वैशेषिक दर्शन : डॉ० बद्रीनाथ सिंह, आभा प्रकाशन, वाराणसी ।
- श्रीमद्भगवद्गीता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, जयन्त श्रीधर तिलक ५६८ ।
- रहस्य अथवा नारायण पेट, तिलक मन्दिर गायकवाड वाडा, पूना २, कर्मयोगशास्त्र : सन् १९५५ ।
- समाज और संस्कृति : उपाध्याय अमरमुनि, श्री सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, सन् १९६६ ।
- स्टडीज इन जैन नथमल टाटिया, जैन कल्चरल रिसर्च सोसाइटी, फिलासफी : वाराणसी-५
- हिन्दी न्यायदर्शन : व्याख्याकार दुण्डिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी-१ ।

लेखक



डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र का जन्म १४ जुलाई सन् १९५८ को उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के परासी चकलाल नामक ग्राम में हुआ। आपने कोहरा सुतावर इण्टर कॉलेज, सुतावर से १९७४ में हाईस्कूल एवं १९७६ में इण्टर-मीडिएट किया। १९७८ में स्वामी देवानन्द डिग्री कॉलेज, मठ-लार (देवरिया) से बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। आपने १९८२ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग से एम० ए० एवं १९८५ में यहीं से पी०-एच०, डी० की उपाधि प्राप्त की। सम्प्रति आप प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग में शोध अध्येता के रूप में “भारतीय विचारधारा में कर्म : एक ऐतिहासिक परीक्षण” विषय पर शोध-कार्य में संलग्न हैं। आपके अनेक शोध लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।